मध्यकालीन काव्य-संग्रह

प्रस्तुतकर्ता

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा
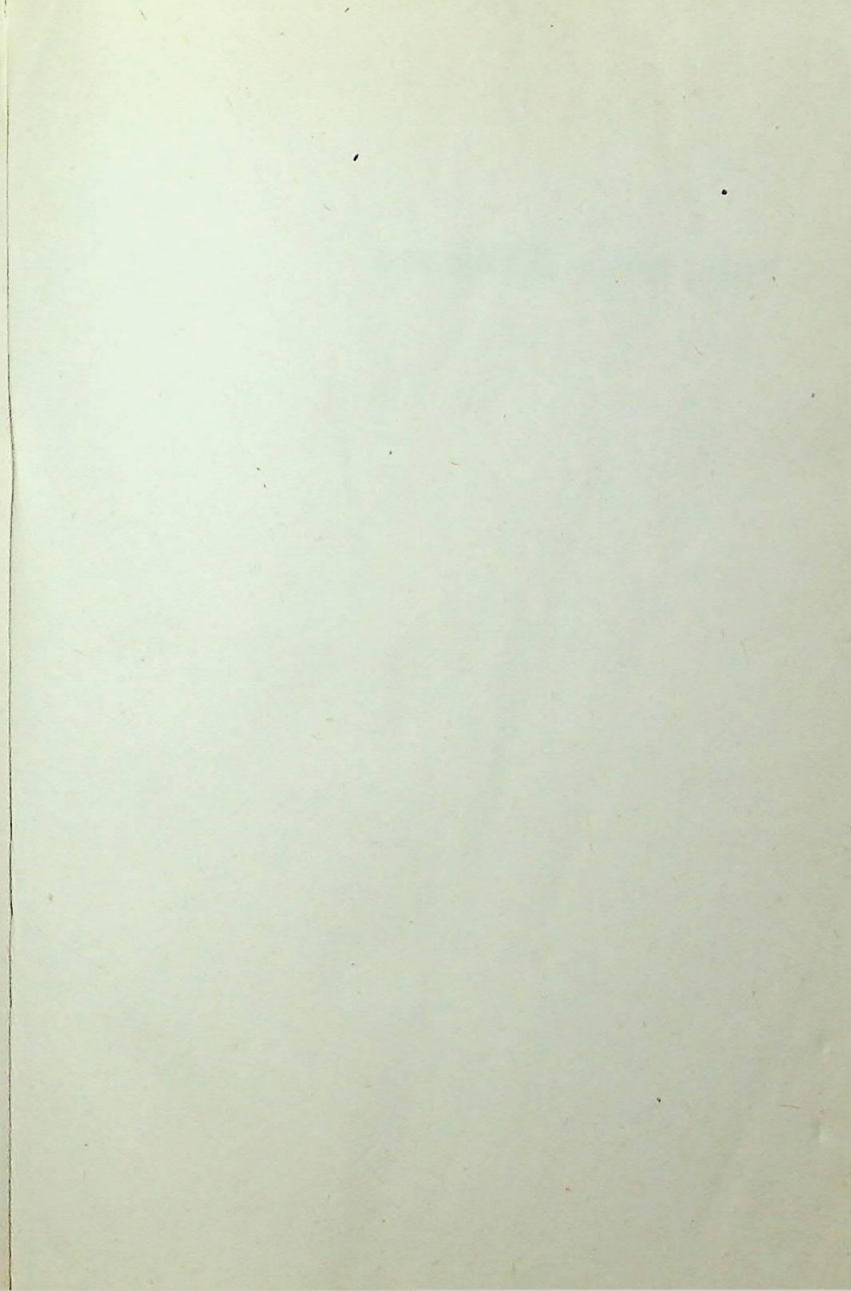
मध्यकालीन काव्य-संग्रह

मध्यकालीन काव्य-संग्रह

प्रस्तुतकर्त्ता

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

आमुख

भारत सरकार द्वारा संस्थापित केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, सन् १९६१ से स्नातकोत्तर और स्नातक स्तरीय हिन्दी शिक्षण-प्रशिक्षण तथा भाषा और साहित्य के सम्मिलित पाठ्यक्रमों के संचालन के साथ-साथ हिन्दी भाषा-शिक्षण और भारतीय भाषाओं के साथ हिन्दी के तुलनात्मक अनुसंधान के कार्य में संलग्न है। अब तक संस्थान की निम्नलिखित परियोजनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं :

१. भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन,
२. भारतीय साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन,
३. भाषा-शिक्षण तथा भाषा-विज्ञान,
४. हिन्दी की आधारभूत शब्दावली,
५. हिन्दी परसर्ग,
६. हिन्दी की क्रियाएँ : प्रयोग, आवृत्ति और रचना,
७. तमिल और हिन्दी की समानरूपी भिन्नार्थी शब्दावली,
८. हिन्दी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियाँ।

अभी हाल में ही संस्थान ने अपने कार्यक्षेत्र अर्थात् भाषा, भाषा-शिक्षण, शैक्षणिक भाषाविज्ञान और हिंन्दी-साहित्य से सम्बन्धित पाठ्य-ग्रंथों के निर्माण और प्रकाशन का कार्य भी हाथ में लिया है। इस योजना के अन्तर्गत निर्मित प्रथम पुस्तक 'मध्यकालीन काव्य-संग्रह' हिन्दी जगत् के सम्मुख प्रस्तुत किया जा रहा है। हिंन्दी में साहित्यिक पाठ्य-पुस्तकों की कमी नहीं है, परन्तु हिन्दी-साहित्य को अखिल भारतीय परिदृश्य में रख-कर संग्रह तैयार करने का अभी तक कोई यत्न नहीं हुआ है। ऐसी पुस्तकों का निश्चय ही अभाव है जो केवल हिन्दी भाषी प्रदेशों को ही नहीं, उन

प्रदेशों को भी दृष्टि में रखकर बनायी गयी हों जहाँ की मातृभाषा हिन्दी नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक में मध्यकालीन हिन्दी काव्य के संकलन में यही उद्देश्य सम्मुख रखा गया है और भूमिका में इसे स्पष्ट करने का यत्न किया गया है।

इस सन्दर्भ में यह प्रश्न उठाया जाने लगा है कि अहिन्दी क्षेत्रों के पाठ्यक्रम में क्या खड़ी बोली के अतिरिक्त उसकी उपभाषाओं के साहित्य का समावेश भी आवश्यक है। इस प्रश्न पर अखिल भारतीय स्तर की कई संस्थाओं ने गंभीर विचार-विमर्श किया है। संस्थान ने भी सन् १९६२ में इस विषय पर एक संगोष्ठी का आयोजन किया था और उसमें निर्णय किया गया था कि अहिन्दी क्षेत्रों के पाठ्यक्रमों में हिन्दी के सम्पूर्ण साहित्य के अंशों को सम्मिलित करना आवश्यक है। वास्तव में हिन्दी का मध्य-कालीन साहित्य हिन्दी की बोलियों या उपभाषाओं का साहित्य नहीं है, वरन् हिन्दी की समय-समय पर परिवर्तित काव्य-भाषा और उसकी विविध साहित्यिक शैलियों का साहित्य है। काव्य-भाषा में ये परिवर्तन धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरोध से होते रहे हैं और काव्य-भाषा की इन विविध शैलियों को हम हिन्दी-साहित्य की व्यापक धारा से विच्छिन्न नहीं कर सकते। हमारा विश्वास है कि मध्यकालीन साहित्य को अलग करके आधुनिक हिन्दी-साहित्य का समुचित मूल्यांकन और रसास्वादन नहीं किया जा सकता। मध्यकालीन हिन्दी-काव्य का यह संग्रह मुख्यतः प्रवृत्ति के आधार पर किया गया है। इसीलिए इसमें मध्यकालीन काव्य की प्रमुख धाराओं का ही प्रतिनिधित्व है, ऐसे काव्य को स्थान नहीं दिया गया है जो भिन्न प्रवृत्ति का है और इस काल में अपवाद रूप कहा जा सकता है। इसी दृष्टिकोण को सम्मुख रखने के कारण संग्रह में मध्यकाल के बाद उसी की प्रवृत्ति के अनुसार रचना करने वाले कवियों भारतेन्दु और रत्नाकर के काव्यांशों को भी सम्मिलित किया गया है।

मध्यकालीन काव्य के इस संग्रह में अखिल भारतीय साहित्यास्वादन की उपयुक्तता के साथ-साथ भाषा की दुरूहता को भी यथासंभव बचाने

का यत्न किया गया है। संग्रह को अधिक सुगम बनाने के उद्देश्य से अंत में कवि-परिचय और संगृहीत अंश के कठिन शब्दों की व्याख्या दे दी गयी है।

इस संग्रह के संपादन में मेरे सहयोगी, संस्थान के वरिष्ठ प्राध्यापक डॉ० शंभुनाथ पाण्डेय ने जो सहयोग दिया है, उसके बिना इसका प्रकाशन संभव नहीं था। हम उनके प्रति साधुवाद प्रकट करते हैं। संस्थान की पाठ्य-पुस्तक परामर्शदात्री उपसमिति के विद्वान् सदस्य समय-समय पर अपने अमूल्य परामर्श देते रहे हैं। हम इसके लिए उनके हृदय से आभारी हैं।

हमारा विश्वास है हिन्दी तथा अहिन्दी प्रदेशों की उच्च शिक्षा संस्थाएँ और विश्वविद्यालयों के संबद्ध निकाय इस संग्रह को स्वीकार करेंगे और इसे स्नातक स्तरीय पाठ्यक्रम में स्थान देकर इस प्रयास को सार्थक बनायेंगे।

स्वतन्त्रता दिवस, १९६९

व्रजेश्वर वर्मा
प्रोफेसर और निदेशक
केन्द्रीय हिन्दी संस्थान
आगरा

संशोधित तथा परिवर्धित तृतीय संस्करण

दो शब्द

'मध्यकालीन काव्य-संग्रह' का शिक्षा-जगत् में जो स्वागत हुआ उससे हमें सन्तोष है। देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों ने इसे स्नातक कक्षाओं की पाठ्य पुस्तक के रूप में स्वीकार किया और पहले दो संस्करण दो-तीन वर्ष की लघु अवधि में समाप्त हो गये। संग्रह केन्द्रीय हिन्दी संस्थान की स्नातक स्तरीय हिन्दी-शिक्षक प्रशिक्षण कक्षा में भी पढ़ाया जाता है।

यद्यपि मध्यकालीन काव्य में उन विद्यार्थियों को भी पर्याप्त रुचि रहती है जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है, किन्तु इस काव्य की भाषा उनके रसास्वादन में बाधा उपस्थित करती है। इन विद्यार्थियों को जितना परिचय हिन्दी के आधुनिक परिनिष्ठित रूप से रहता है उतना मध्यकालीन रूप से नहीं। इस कठिनाई को कुछ हद तक दूर करने के लिए प्रस्तुत संस्करण में संस्कृत के तत्सम शब्दों की ध्वनि परिवर्तन की ऐतिहासिक प्रक्रिया का संक्षिप्त विवरण जोड़ दिया गया है। उक्त छात्रों की दूसरी कठिनाई मध्यकालीम भाषा की संरचना के विषय में है क्योंकि वह हिन्दी के वर्तमान परिनिष्ठित रूप से भिन्न है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए ऐतिहासिक ध्वनिपरिवर्तन-प्रक्रिया के साथ-साथ मध्यकालीन भाषा का संक्षिप्त व्याकरणिक अध्ययन भी जोड़ दिया गया है। आशा है संशोधित और परिवर्धित रूप में 'मध्यकालीन काव्य-संग्रह' अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। संग्रह के पाठ्यांश में वर्तनी की एक रूपता लाने का भी प्रयास किया गया है।

ब्रजेश्वर वर्मा
प्रोफेसर और निदेशक
केन्द्रीय हिन्दी संस्थान
आगरा

तिथि : ४ अप्रैल, १९७२

विषय-क्रम

पृष्ठ

परिशिष्ट

मध्यकालीन काव्य

प्रस्तुत काव्य-संग्रह के चयन के मूल में हमारा प्रमुख उद्देश्य यह है कि भारतीय भाषाओं के विद्यार्थी हिन्दी-साहित्य की धारा को भारतीय सांस्कृतिक परंपराओं के अंग के रूप में देख सकें और उसके विकास-क्रम को भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक विकास के परिप्रेक्ष्य में समझ सकें। भारतीय साहित्यों के अध्ययन में अब इस व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता तो अनुभव की जा रही है, परन्तु अभी तक उसे विकसित नहीं किया गया है। हमारा दूसरा उद्देश्य हिन्दी भाषा के साहित्य-स्वरूप के क्रमिक विकास को तथा भाषा-अभिव्यक्ति की विविध शैलियों को प्रस्तुत करना है, जिससे विद्यार्थी हिन्दी को व्रज, अवधी आदि अलग नामों से न पहचान कर भावानुकूल अभिव्यक्ति की एक विकसनशील परंपरा के रूप में देखें।

मध्ययुग : विश्व के इतिहास का मध्ययुग सातवीं-आठवीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक माना जाता है। भारत के इतिहास में भी मध्ययुग सातवीं शताब्दी में, हर्षवर्धन के साम्राज्य के पतन के बाद से आरम्भ होता है, परन्तु उसका विस्तार उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक माना जाता है। इस युग के पुनः दो विभाग किये जाते हैं—पूर्व मध्ययुग बारहवीं शताब्दी के अंत तक का है और तेरहवीं शताब्दी से उत्तर मध्ययुग प्रारम्भ होता है। इतिहास में मध्ययुग की कल्पना व्यक्ति और समाज के जीवन की समस्त प्रवृत्तियों के आधार पर की गयी है। इन प्रवृत्तियों में ह्रास और पुनरुत्थान दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। पूर्व मध्य समष्टिगत दृष्टि से ह्रासोन्मुख है और उत्तर मध्ययुग में पुनरुत्थान की प्रवृत्तियाँ दिखायी पड़ती हैं।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं

शताब्दी तक का समय हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल के नाम से जाना जाता है। इतिहास के उत्तर मध्ययुग में हिन्दी-साहित्य का आरंभ होता है और हिन्दी-साहित्य का आदिकाल तथा मध्यकाल दोनों इसी में सीमित हैं। इस काल को साहित्य की प्रमुख युगीन प्रवृत्तियों के आधार पर दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। पूर्व मध्यकाल में, जिसे भक्तिकाल भी कहा जाता है, १००० ई० के आसपास की धार्मिक अराजकता के स्थान पर धीरे-धीरे अपने आराध्य के प्रति रागात्मकता और पूर्ण समर्पण-युक्त अनन्य भक्ति भाव के उदय का क्रम मिलता है। भक्ति का हिन्दी-साहित्य में आविर्भाव एक अकेली घटना नहीं है, बल्कि मध्ययुग से ही भारत के कई क्षेत्रों में रूप ले रहे व्यापक भक्ति-आन्दोलन की ही एक शृङ्खला है। हिन्दी-साहित्य का उत्तर मध्यकाल, जिसे रीतिकाल या शृंगारकाल कहा जाता है, संस्कृत के काव्यशास्त्रीय विवेचन की परम्परा की एक कड़ी है। लेकिन इस युग की मुख्य प्रवृत्ति काव्यशास्त्रीय रीति-ग्रंथों का प्रणयन नहीं, बल्कि इसके साहित्य में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त शृंगार तथा लौकिक प्रेम का लुभावना चित्रण है। यद्यपि अन्य भारतीय भाषाओं में काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की रचना किसी एक युग में तथा विभिन्न समयों पर हुई है, हिन्दी की तरह पूरे एक काल में शृङ्गार-रस का ऐसा अद्भुत विवेचन अन्यत्र नहीं मिलता। अलंकारिता तथा शृंगार दोनों से युक्त ऐसा कोई युग अन्य किसी भारतीय साहित्य में नहीं है।

काल-विभाजन : आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने १३७५ वि० से १७०० वि० तक भक्ति-काल का समय माना तथा १७०० वि० से १९०० तक रीतिकाल का। थोड़े-से मतभेदों के साथ लगभग इसी विभाजन को सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। इतिहास के संदर्भ में कहा जाये तो हिन्दी का पूर्व मध्यकाल तुर्कों के शासन-काल के आरंभ (अलाउद्दीन खिलजी १२९५ ई०) से मुगल साम्राज्य के सर्वोच्च काल (शाहजहाँ की मृत्यु ई० १६५८) तक का है। उत्तर मध्यकाल मुगल साम्राज्य के पतन के युग से आरंभ कर प्रथम स्वाधीनता संग्राम (ई० १८५७) तक का है।

राजनीतिक पृष्ठभूमि : तेरहवीं शताब्दी में तुर्कों के आगमन के साथ-साथ भारत में इस्लाम धर्म ने भी प्रवेश किया। कुछ समय के लिए तो आक्रमणकारियों की बर्बरता ने यहाँ की जनता को आतंकित और स्तब्ध-सा कर दिया। इस राजनीतिक उथल-पुथल और सामाजिक दुरवस्था के कारण ही संभवतः भक्तिकाल के पहले दो शताब्दियों तक हिन्दी में साहित्यिक शून्यता-सी दिखाई पड़ती है, परन्तु शीघ्र ही समाज की जीवनी-शक्ति ने उन नयी परिस्थितियों को एक चुनौती के रूप में स्वीकार कर लिया। उधर तुर्कों को भी भारतीयों के सम्पर्क में आना पड़ा। धन और पद के लालच से अथवा हिन्दू समाज की कट्टरता से दुखी होकर कुछ भारतीयों ने भी इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया। इन भारतीयों ने इस्लाम धर्म को तो स्वीकार कर लिया; लेकिन विदेशी संस्कृति को वे पूर्ण-रूप से न अपना सके, बल्कि वे उसे अपने साँचे में ढाल कर नया रूप देने लगे। फारसी भाषा भी, जिसको यहाँ अपनाया गया, दो शैलियों में विभाजित हुई—विदेशी शैली और देशी अर्थात् भारतीय शैली। देशी शैली में भारतीय भाषाओं के शब्दों का अधिक प्रयोग मिलता है। फिरोज तुगलक ने फारसी भाषा में चिकित्सा और फलित ज्योतिष की कई पुस्तकों का अनुवाद कराया। कला में हिन्दू-मुस्लिम एकता के अधिक प्रमाण मिलते हैं, यद्यपि मूर्तिकला के विकास को अवश्य इस समय भारी धक्का लगा। तुर्कों की सत्ता चौदहवीं शताब्दी के मध्य तक तो बढ़ती गयी, परन्तु उसके बाद उसका पतन आरम्भ हो गया। इससे मुसलमानों के सामूहिक आतङ्क में कमी आयी और हिन्दू-मुसलमानों में आपस में घनिष्ठता कुछ अधिक हुई।

हिन्दी-साहित्य का मध्यकाल मुगल साम्राज्य के उत्थान और पतन के साथ, उसके संघर्ष और शान्ति के दिनों के साथ जुड़ा हुआ है। अकबर के समय तक राज्य में शान्ति और स्थिरता आ गयी थी और उन देशी राजाओं के प्रभाव क्षीण हो गये थे, जिनके जीवन के इर्द-गिर्द ही आदि-काल के साहित्य का विकास हुआ था। अकबर के समय से औरंगजेब

के समय तक राजनीतिक शान्ति रही और उत्तर भारत में संगीत, वास्तु-कला और चित्रकला का विकास हुआ। इसी युग में हिन्दी के भक्ति-साहित्य का सर्जन हुआ। औरंगजेब के समय शिवाजी के नेतृत्व में फिर संघर्ष हुआ, जिसे भूषण आदि कवियों ने अपने काव्यों में चित्रित किया। यह युग कलाओं के लिए प्रसिद्ध हुआ और भक्ति-काव्य हिन्दी-साहित्य की अमर निधि बन गयी, जिस कारण उसे हिन्दी का स्वर्ण-युग कहा जाता है।

औरंगजेब के समय तक आकर विद्रोह फिर से भड़क उठा और उसकी हिन्दू विरोधी नीति ने हिन्दुओं की शक्ति को उसके विरुद्ध कर दिया। मराठा, सिख, जाट आदि सिर उठाने लगे और उनके विद्रोह के कारण मुगल साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो चली। सत्रहवीं शताब्दी सांस्कृतिक पराभव का युग है। इस युग में राजनीतिक समुन्नति और शान्ति के कारण अलंकरण की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। शाहजहाँ के समय में ही चित्र, वास्तुकला और काव्य में अलंकरण की प्रवृत्ति बढ़ी हुई दिखायी देती है। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक मुगल साम्राज्य का तेज अस्त होने लगा था और अठारहवीं शताब्दी के मुगल बादशाह राज्य को भूल कर विलासिता में डूब गये थे और मुगल दरबार में ही मधु और वेश्याओं का बोलबाला होने लगा था। इस युग में जो शृंगार-काव्य लिखा गया उसमें युग के अनु-रूप अलंकरण या पच्चीकारी की प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है। इस ह्रास के कारण देशी राजा और नवाब साम्राज्य से स्वतन्त्र हो गये और उनके दर-बारों में भी इस स्वतन्त्रता के कारण विलासिता का वातावरण बनने लगा। हिन्दी का रीति-काव्य विद्रोह, अलंकरण और शृंगार इन तीनों ही प्रवृत्तियों को प्रकट करता है। इस युग के अन्त तक आकर अंग्रेजों ने देश की राजनीति में जड़ जमा ली और लगभग सारा देश उनके अधीन हो गया। आधुनिक युग के काव्य में जो भारतेन्दु के युग से प्रारम्भ होता है, नवीन युग-चेतना की अभिव्यक्ति मिलती है; परन्तु रीति-काल का साहित्य नव युग की समस्याओं और संघर्षों से अछूता ही रहा।

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि : भक्तिकाल के आरंभ तक धर्म की दृष्टि से देश विशृंखल हो गया था और धार्मिक शक्तियों का पतन हो चुका था। वज्रयानी सिद्धों की तांत्रिक साधनाओं ने न केवल सहजयान में ही, वरन् शैव, शाक्त और वैष्णव मतों में भी प्रवेश कर लिया था। एक ओर इन गुह्य साधनाओं में भोगवाद की पराकाष्ठा थी, तो दूसरी ओर शंकर के अद्वैत मत ने अकर्मण्यतापूर्ण वैराग्य की भावना को चरम सीमा तक पहुँचा दिया था। यद्यपि उस धार्मिक दुरवस्था को दूर करने का यत्न सिद्धों के बाद नाथ पंथ के योगियों ने सच्चरित्रता और नैतिकता का आधार लेकर अपनी योग-साधना द्वारा किया था, लेकिन योग में वह शक्ति नहीं थी कि वह जन-मानस को हिला सकता। कबीर ने इसी समय साहित्याकाश में अवतरण किया और भक्ति के स्वरूप का सूत्रपात किया। यद्यपि कबीर में नाथ सम्प्रदाय के हठयोग तथा उससे संबंधित सहज-समाधि तथा अनुभव-ज्ञान पर आधारित आनंद की चर्चा है, तथापि उनमें प्रमुख रूप से प्रेम रूपा भक्ति के सभी लक्षण विद्यमान हैं। उनकी भक्ति का दार्शनिक पक्ष भारतीय अद्वैतवाद पर आधारित है और उसका भाव पक्ष वैष्णव भक्ति का है। कबीर के बाद निर्गुणवादी संतकाव्य की एक लंबी परम्परा आधुनिक काल तक चलती रही, भले ही उसका साहित्यिक महत्त्व उत्तरोत्तर घटता गया हो। कबीर ने जिस प्रेममूलक भक्ति-भाव का प्रतिपादन किया था, उसमें परवर्ती सगुणोपासक वैष्णव भक्त कवियों की भावना का पूर्वरूप प्रकट हुआ है।

ग्रियर्सन ने हिन्दी में भक्ति-आन्दोलन के बारे में कहा है कि यह 'अचानक बिजली की तरह कौंध गया' परन्तु, आधुनिक काल में, भारतीय वाङ्मय के अध्ययन से यह प्रकट हो चुका है कि भक्ति का उदय कोई आकस्मिक या एकाकी घटना नहीं थी, उसके पीछे भारत का कम-से-कम एक हजार वर्ष का धार्मिक-दार्शनिक विकास कार्य कर रहा था। वास्तव में तत्कालीन परिस्थितियों से भक्ति-आन्दोलन की गति तीव्र अवश्य हुई, पर इसकी भूमिका पहले से तैयार हो चुकी थी।

उत्तर में गुप्त साम्राज्य के समय अहिंसा-प्रधान वैष्णव भक्ति का आरम्भिक रूप भागवत धर्म के विकास के साथ जुड़ा हुआ है। इस समय वासुदेव, नारायण अथवा विष्णु का महत्त्व बढ़ा और राम, कृष्ण आदि अवतार विष्णु के साथ जोड़े गये। इस समय के भक्तों ने महाभारत और पुराणों की सहायता से वैष्णव धर्म को व्यापक लोक-धर्म बनाने का उद्योग किया। गुप्त वंश की उदार धर्म-नीति के कारण वैष्णव धर्म का प्रचार हो सका और वैष्णव धर्म लोकप्रियता का पात्र बना। लेकिन ५०० ई० के बाद चौदहवीं शताब्दी तक उत्तर भारत में वैष्णव धर्म उन्नति नहीं कर सका। इस काल में दक्षिण में वैष्णव धर्म का पूर्ण उत्कर्ष हुआ। पाँचवीं शताब्दी के अन्त में तमिल के आलवार भक्त कवियों ने प्रेम-प्रधान भक्ति के पदों की रचना की, जिनमें अनन्य प्रपत्ति की भावना और भगवान् से भक्ति कर उसका अनुग्रह प्राप्त करने का अधिक महत्त्व है। काव्य-रचना का यह क्रम नवीं शताब्दी तक चला और दसवीं शताब्दी में आलवारों के भक्ति धर्म को कुछ विद्वान् आचार्यों ने शास्त्रीय आधार प्रदान किया। इस दर्शन का उत्स वेदांत दर्शन था और उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र तथा इतिहास-पुराण और अन्य भक्ति संबंधी ग्रंथों का आधार लेकर इन्होंने अपने-अपने मत का प्रतिपादन किया। शंकराचार्य (७८८-८२० ई०) ने जीव और ब्रह्म के अद्वैत को मानते हुए जगत् को मिथ्या माना। उनके अनुसार मुक्ति या कैवल्य की प्राप्ति ब्रह्मज्ञान से ही होती है, अन्य किसी साधन से नहीं। इस प्रकार शंकराचार्य के मत से अवतारवाद और पूजा आदि का समर्थन नहीं होता। इसके विरोध में रामानुज ने विशिष्टाद्वैत, मध्व ने द्वैत और निंबार्क ने द्वैताद्वैत मतों का प्रतिपादन कर शंकर के अद्वैतवाद-मायावाद का खण्डन किया और अपने संप्रदायों की स्थापना कर भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया।

हिन्दी-भक्ति-साहित्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध इन्हीं संप्रदायों से है। रामानुज की शिष्य-परम्परा में रामानन्द हुए, जो उत्तर भारत में भक्ति-आन्दोलन के प्रथम और शक्तिशाली नेता थे। उन्होंने सीताराम को इष्ट-

देव मानकर देश भर में राम-भक्ति का प्रचार किया और इसका माध्यम हिन्दी भाषा को बनाया। कबीरदास को इनका शिष्य माना जाता है और इसमें सन्देह नहीं कि कबीर को प्रेम-भक्ति का रहस्य गुरु रामानन्द से ही मालूम हुआ था। रामानन्द की शिष्य-परम्परा में तुलसीदास भी आते हैं। दूसरी ओर दक्षिण के आचार्यों की कोटि में वल्लभाचार्य (१४७८-१५३० ई०) आते हैं। वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत मत का प्रतिपादन किया और कृष्ण को पूर्ण ब्रह्म मानकर उत्तर में कृष्ण-भक्ति के प्रचार को तीव्रगति प्रदान की। सूरदास तथा अन्य पुष्टिमार्गीय भक्त कवि इन्हीं की शिष्य परम्परा में आते हैं। इस प्रकार हिंदी-भक्ति-साहित्य को अच्छी तरह समझने के लिए भारतीय साहित्यों में भक्ति-साहित्यों का सम्यक् अध्ययन करना और भारतीय दर्शन के स्वरूप को समझना आवश्यक है। इस काल में लगभग सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य में भक्ति के सामान्य तत्त्व विद्यमान हैं, केवल अभिव्यक्ति में थोड़ा-बहुत अन्तर दिखायी देता है।

संतकाव्य : हिन्दी-साहित्य में भक्ति से सम्बन्ध रखनेवाली भाव-धारा के अन्तर्गत संतकाव्य का विशेष महत्त्व है। काल की दृष्टि से हिन्दी में यह भक्ति का सबसे पहला उन्मेष है। इसके प्रवर्तक सन्त कबीर हैं। कबीर और इस धारा के परवर्ती कवियों ने धर्म के भाव-सौन्दर्य को, शब्द और शैली में चमत्कार लाने की कोशिश किये बिना ही अपने सरल शब्दों में व्यक्त किया है और उनकी स्वेच्छापूर्वक स्फूर्त अभिव्यक्ति ही उनकी शैली का मुख्य गुण है। संत कवियों में कबीरदास, दादूदयाल, गुरु नानक, रैदास, सुन्दरदास, मलूकदास आदि २० कवि प्रमुख हैं।

संतकाव्य का ऐतिहासिक सम्बन्ध नाथसम्प्रदाय से जुड़ता है, यद्यपि उसके उन्नयन में प्रेरणाओं और परिस्थितियों का समन्वय इस प्रकार हुआ है कि वह एक नवीन भाव और विचारधारा के काव्य के रूप में प्रकट हुआ और उसके धर्म को एक नया रूप प्राप्त हुआ। संतकाव्य

की आधार भूमि आन्तरिक अनुभूति है। अतः उसमें जीवन का प्रत्यक्ष
दर्शन प्रकट हुआ है, जिसमें प्राचीन परम्पराओं की शास्त्रसम्मत मान्यता
का आग्रह नहीं है और निगम, आगम, पुराण आदि का कोई महत्त्व नहीं
है। अपने दृष्टिकोण के विकास में संतों ने भारतीय चिन्तन के विविध पक्षों
का आधार लिया है। बौद्ध धर्म का शून्यवाद, शंकर का मायावाद, अद्वैत-
वाद तथा नाथसम्प्रदाय का हठ योग—ये सभी विचारधाराएँ संतकाव्य
में प्राप्त होती हैं। इन दार्शनिक सिद्धान्तों में ईश्वर के साकार रूप की
स्वीकृति नहीं है, बल्कि निराकार निर्गुण ब्रह्म को ही स्वीकार किया गया
है। इसी संत कवियों द्वारा प्रतिपादित मत को निर्गुण-भक्तिसम्प्रदाय
कहा जाता है। संत कवियों को वैष्णव भक्ति के बाह्य विधान के साधन
मूर्ति, तीर्थ, व्रत, माला आदि ग्राह्य नहीं हुए। फिर भी उनकी मूल
प्रकृति पर वैष्णव-भक्ति का गहरा प्रभाव दिखायी देता है। संतों को
भक्ति का मन्त्र दक्षिण के विट्ठल सम्प्रदाय के दाय के रूप में स्वामी
रामानन्द से मिला। स्वामी रामानन्द और उनके गुरु राघवानन्द की
रचनाओं में भी ऐसी अनेक बातें मिलती हैं, जो निर्गुण भक्ति सम्प्रदाय की
विशेषताओं की बीज रूप मानी जा सकती हैं। रामानुजाचार्य की शिष्य-
परम्परा में ये विशेषताएँ रामानन्द को बारहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र के
विट्ठल सम्प्रदाय के माध्यम से प्राप्त हुई होंगी। विट्ठल सम्प्रदाय के दो
प्रमुख कवि संत ज्ञानेश्वर और नामदेव हैं, जिन्होंने विष्णु या विट्ठल की
उपासना में भक्ति के साथ-साथ निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप का भी वर्णन किया
है। भक्ति में प्रेम की प्रधानता, ईश्वर के प्रेम-विरह में भक्त की व्याकुलता,
आत्म-समर्पण से प्रेरित अनन्य भक्ति भाव, ईश्वर की कृपा के लिए भक्त
की कामना और उसकी प्राप्ति के लिए नाम स्मरण, श्रवण, कीर्तन आदि
वैष्णव भक्ति की कुछ विशेषताएँ संतों में पायी जाती हैं। यही भक्ति की
भावना संतों की वाणी की मुख्य विशेषता है। हठयोग के प्रतीकों का
प्रयोग जैसा कि हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है, कबीर ने सम्भवतः वंश-
परम्परा के आग्रह से आरम्भ में किया है। दर्शन की दृष्टि से जीव, ब्रह्म,

जगत् आदि के निरूपण में संतों ने वेदान्त का आधार ग्रहण किया और प्रत्यक्ष रूप से शंकर अद्वैत से प्रभाव ग्रहण किया। यहाँ भी उन्होंने किसी सम्प्रदाय को नहीं अपनाया; क्योंकि वे शास्त्र के अध्ययन में विश्वास नहीं करते थे। उनका दर्शन उपनिषद्, षट्दर्शन, बौद्ध, सूफी, नाथसम्प्रदायों के समान तत्त्वों को मिलाकर व्यावहारिक अनुभव के आधार पर तैयार हुआ है। इस प्रकार संतों की वाणी किसी धर्म और सम्प्रदाय से बद्ध नहीं है और वे किसी परम्परा के अनुगामी नहीं हैं। उन्होंने वास्तविक अनुभूतियों को सरल भाषा में जनसाधारण के लिए लिखा और अपने दृष्टिकोण से भक्ति का प्रचार किया।

संतकाव्य भक्ति के पूर्वरूप के रूप में कई भाषाओं में विद्यमान है और कहीं-कहीं यह परम्परा आदिकाल तक विद्यमान रही है। उत्तर में पंजाब में कई सौ वर्षों तक संतकाव्य का ही निर्माण हुआ, जिसके प्रवर्तक गुरु नानक थे। कश्मीरी में आदिकाल संतों का ही है। दक्षिण में कन्नड़ के सर्वज्ञ, तेलुगु के वेमना, महाराष्ट्र में नामदेव आदि श्रेष्ठ संत कवि हैं। इनमें भी उत्तर के संत कवियों की तरह हठयोग दिखायी देता है। दक्षिण के इन कवियों में सच्चरित्रता और आचरण-शुद्धता के साथ-साथ निर्गुण ब्रह्म की उपासना का वर्णन है। सभी कवियों की वाणी में ईश्वर के प्रति भक्ति और प्रेम की महत्ता समान रूप से चित्रित की गयी है।

भाषा-शैली : संतकाव्य भाव तथा अनुभूति-प्रधान था और उसमें काव्य-रचना या सिद्धान्त-निरूपण का कोई आग्रह नहीं था। इसलिए उसमें अभिव्यक्ति की स्पष्टता और शैली की सरलता दिखायी पड़ती है। उसकी भाषा जनता की सरल स्वाभाविक भाषा है। उसमें न तो पद-सौष्ठव की दृष्टि से कोई परिष्कार लाने का प्रयत्न दिखाई देता है और न संस्कृत के शब्दों की बहुलता है। संत कवि भिन्न-भिन्न समय पर, भिन्न-भिन्न स्थानों पर हुए थे और वे समाज के सामान्य (या निम्न) वर्गों में से उठे थे। इस कारण उनकी काव्य-भाषा में स्थानीय प्रयोग कभी-कभी अधिक मात्रा में मिल जाते हैं। एक विशेष बात यह भी याद रखने योग्य है

कि उनका काव्य अधिकतर सुरक्षित रहा। इस कारण उसमें भाषा की दृष्टि से ठेठपन और विविधता दिखायी देती है और उसका रूप प्रायः अस्थिर और अप्रामाणिक-जैसा हो गया है। अधिकतर संत कवि पूर्वी क्षेत्रों, राजस्थान तथा पंजाब में हुए, अतः संतकाव्य की काव्य-भाषा में अवधी, भोजपुरी, राजस्थानी, पंजाबी भाषाओं के प्रभाव मिलते हैं और कहीं-कहीं ये प्रभाव परम्परा के प्रवाह में मिले-जुले भी दिखायी देते हैं।

संत कवियों ने तीन प्रकार की रचनाएँ की हैं। एक 'साखी' है जो संस्कृत के 'साक्षी' का ही रूपान्तर है, जिसका अर्थ अपनी आँख से देखी हुई और इसी कारण प्रमाणस्वरूप समझी जानेवाली बात है। इन साखियों की रचना मुख्यरूप से दोहा और बीच-बीच में सोरठा छन्दों में हुई है। साखियों में प्रधानतः ऐसे विषय ही आये हैं, जिन्हें संतों ने अपने दैनिक जीवन में भली-भाँति अनुभव करने के बाद प्रमाणित किया है अथवा जिन्हें वे अपनी अनुभूति की कसौटी पर पहले से कस चुकने के कारण साधिकार व्यक्त करने की क्षमता रखते हैं। विषय के आधार पर साखियों को विभिन्न 'अंगों' में विभाजित किया गया है। दूसरे प्रकार की रचना 'सबद' (शब्द) में अधिकतर गेय पद होते हैं और इनमें आत्म-निवेदन जैसे व्यक्तिगत भावोद्‌गारों की प्रधानता रहती है। तीसरे प्रकार की रचना, 'रमैनी' है, जिसमें सूफियों की तरह दोहा और चौपाई छन्दों का एक साथ प्रयोग होता है, यद्यपि इनमें न प्रबन्धात्मक रचना का प्रयास किया जाता है, न प्रेम-गाथाओं का। संत कवियों में अन्य छुट-पुट काव्य-रूपों और लोक गीत शैली में लिखी रचनाएँ भी मिलती हैं, पर वह उनकी विशिष्टता नहीं है।

संतकाव्य की शैली की एक मुख्य विशेषता 'उलट बाँसी' है, जिसका मूल स्रोत नाथ-सम्प्रदाय के हठयोग सम्बन्धी वर्णन की 'दुरूह शैली' है। संतों ने भी प्रायः हठयोग की स्थिति को अवगत कराने के लिए उलट बाँसियों का प्रयोग किया है। इसमें प्रतीक-रूपक या धर्म विपर्यय

रूपों का प्रयोग होता है और प्राकृतिक परिस्थितियों का उलट कर विपरीत निरूपण करना ही इस शैली का उद्देश्य है। आध्यात्मिक दृष्टि और सांसारिक दृष्टि में अन्तर होता है और साधक को हठयोग के यम-नियम आदि आठ अंगों से इन्द्रियों को सांसारिक विषयों से हटाकर आध्यात्मिक विषय पर लाने की आवश्यकता होती है। इस साधना तत्त्व को समझाने के लिए ही संत कवियों ने उल्टे अर्थ में प्रतीकों का उपयोग किया। इन प्रतीक रूपों की सृष्टि गम्भीर मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक अनुभवों द्वारा ही संभव है और इन्हें वही समझ सकता है, जो इन प्रतीकों के आध्यात्मिक संकेतों से परिचित हो। इन उलट बाँसियों के अलावा संत कवियों ने अलंकारों का जान-बूझकर उन्हीं का चमत्कार दिखाने के उद्देश्य से प्रयोग नहीं किया है, किन्तु उनकी भावाभिव्यक्ति में उपमा, रूपक, यमक, दृष्टान्त आदि अलंकार सहज ही आ गये हैं। वे इन अलंकारों में काव्य-सौन्दर्य देखने की अपेक्षा अपने भावों का स्पष्टीकरण और उनकी आकर्षण-शक्ति ही देखते थे। भावों के स्पष्टीकरण और आकर्षण के लिए उन्होंने प्रतीक-पद्धति का भी आश्रय लिया है। उदाहरण के लिए संत काव्य में 'सिंह' शब्द ज्ञान के लिए, 'चींटी' शब्द सूक्ष्म बुद्धि के लिए, 'पनिहारी' शब्द इन्द्रियों के लिए प्रयुक्त होता है। इन प्रतीकों के माध्यम से वे दार्शनिक तत्त्वों का निरूपण करते थे।

कबीरदास : कबीरदास (१३९९-१५१८ ई०) संत मत के प्रवर्तक हैं। वे रामानन्द की शिष्य-परम्परा में आते हैं। अन्य संत कवियों की तरह कबीर निम्न वर्ग में पैदा हुए और यह प्रायः सर्वमान्य है कि वे एक जुलाहे के घर पले थे। उन्हें औपचारिक शिक्षा की सुविधा नहीं मिली थी; परन्तु उन्होंने अनुभव तथा सत्संग से और गुरुमुख से धर्म का ज्ञान प्राप्त किया था और सहज अनुभूतियों के आधार पर अपने मत को स्थिर किया था। वे जनता के व्यक्ति थे और इसीलिए उन्होंने ऐसे दर्शन की उद्भावना की, जो जनता द्वारा सहज ही समझा जा सके। उन्होंने मानसिक पवित्रता और शुद्ध आचरण को धर्म का आधार मानकर अद्वैत विशिष्टा-

द्वैत, नाथसंप्रदाय तथा सूफी संप्रदाय की ब्रह्म, जीव, माया और साधना सम्बन्धी उपयुक्त एवं बोधगम्य बातों को लेकर संप्रदायरहित धर्म की स्थापना की और सगुण, निर्गुण से परब्रह्म की योग-भक्तिमयी उपासना का निरूपण किया। उनकी भक्ति-भावना में प्रेम की प्रधानता थी। उसी प्रेम ने अपनी चरम सीमा में सहज का रूप ग्रहण कर लिया। इस प्रेम की अनुभूति को सिद्ध करने में साधक के लिए गुरु की आवश्यकता है। इस कारण उन्होंने गुरु और सत्संग की महिमा पर भी बल दिया। इन सब बातों को उन्होंने अनुभूति के आधार पर सरल, सहज भाषा में व्यक्त किया।

कबीर ने बड़े ही व्यापक दृष्टिकोण से धर्म के महत्त्व को समझा। इसीलिए उनके धर्म की परिधि में संप्रदाय या वर्ग की विभाजक रेखाएँ नहीं हैं। उसमें मानवीयता प्रमुख है, सिद्धांत नहीं। इसी कारण इन्होंने हिन्दू, मुस्लिम दोनों ही धर्मों के कर्मकांडों और एकाकी विचारों का खंडन किया। उनके धर्म को समझने के लिए साधक को संप्रदायों से विशिष्ट उनके जीवन-दर्शन को समझना होगा। ईश्वर कण-कण में, घट-घट में व्याप्त है और साधक अहंकार-त्याग तथा प्रेम-विरह से उसको प्राप्त कर सकता है। ब्रह्म के निरूपण में उन्होंने अद्वैत के इस सिद्धान्त को स्वीकार किया कि ब्रह्म एक है और अन्य सब मिथ्या है, माया है। उन्होंने माया का मानवीकरण कर उसे कंचन और कामिनी का पर्याय माना, जिनके त्याग से ही ब्रह्मज्ञान सुलभ है। उनका ईश्वर एक है, निराकार-निर्विकार है, अजन्मा है, अनादि-अनंत है। सम्भवतः आरम्भ में उन्होंने नाथसंप्रदाय से साधना पक्ष ग्रहण किया था और योग के विधान का वर्णन किया था। किन्तु उनका योग नाथ-पंथियों की तरह क्लिष्ट और शारीरिक नहीं रहा। उन्होंने अनुभव किया कि हठयोग का साधन भक्ति के लिए आवश्यक नहीं है। अवधूत-हठयोगी साधुओं से वे कहते हैं कि काया-कष्ट की जगह सहज-समाधि लगाओ और भीतर के परम तत्त्व को खोज निकालो। उनकी 'सहज-समाधि' योगियों की सहजावस्था से भिन्न है और माया के त्याग और अनुभूत ज्ञान द्वारा अनुभवैक्यगम्य समाधि है। इस प्रकार कबीर

योग की कायिक प्रक्रिया को अनुभूति के स्तर तक ले जाते हैं और यहीं उनका प्रेम-भक्ति का सही स्वरूप स्पष्ट होता है।

अनुभूति के विवेचन में उन्होंने ईश्वर-प्रेम के मानसिक सोपानों—श्रवण, कीर्तन, स्मरण और आत्मनिवेदन को भी महत्त्व दिया है। इन क्रियाओं के द्वारा साधक ब्रह्म से मिलन की अपनी व्याकुलता को प्रकट करता है और उसे प्राप्त करने के लिए वैसे ही उतावला रहता है, जैसे नायक के प्रेम-मिलन के लिए लालायित नायिका। इस स्तर पर कबीर वैष्णव भक्त कवियों के मधुर भक्ति के स्वरूप को ही प्रकट करते हैं।

प्रेमाख्यानक काव्य : भक्ति युग की दूसरी प्रमुख धारा सूफी कवियों द्वारा लिखे प्रेमाख्यानों की है। 'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की गयी है। इनमें अधिक तर्कसंगत मत सम्भवतः 'सूफ' (ऊन) संबंधी व्युत्पत्ति का है, जिसके अनुसार सूफी कवि मूलतः अरब और ईरान के कतिपय व्यक्तियों को सूचित करता है, जो मोटे ऊनी वस्त्रों का चोंगा पहनते थे, विरक्त संन्यासियों का-सा पवित्र जीवन व्यतीत करते थे और ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ प्रेमभाव रखते थे। सूफी मत का आरम्भ अरब में इस्लाम धर्म के साथ हुआ और वह परिवर्तित होकर मध्यकाल में, एक भक्ति और काव्य-सम्प्रदाय के रूप में भारत में प्रविष्ट हुआ।

सूफी क़ाव्य का प्रचार पश्चिमोत्तर भारत और दकन—मध्ययुग में दक्षिण के मुसलिम राज्यों तक सीमित रहा। पूर्व और दक्षिण में उसका प्रचार नहीं हुआ। पंजाबी के प्रथम कवि बाबा फरीद शकरगंज सूफी थे। कश्मीरी में अठारहवीं शताब्दी के आस-पास सूफी पद्धति पर कई प्रेमाख्यानों की रचना हुई।

सूफी काव्य प्रेमाख्यानक काव्य कहलाता है, क्योंकि इसमें प्रेम पर आधारित आख्यानों द्वारा ईश्वर और साधक के संबंधों को स्पष्ट किया जाता है। इनकी परम्परा मुख्य रूप से फारसी से आयी है।

सूफी काव्य का दर्शन-पक्ष अपेक्षाकृत सरल है। उनका ईश्वर एक है,

लेकिन वह इस्लाम का वर्णित ईश्वर नहीं है। वह परम सत्य है, परम कल्याण है और परम शिव है। वह परम सत्ता है, पर उसकी सृष्टि असत् है। जिस प्रकार अंधकार होने से प्रकाश का ज्ञान होता है, वैसे ही अवास्तविक जगत् उस सत्ता को पहचानने में सहायता देता है। मनुष्य में सत् और असत् दोनों के अंश हैं। मनुष्य के भीतर जो ईश्वरीय अंश है वह उस विशुद्ध सत्ता की चिनगारी जैसा है, जो सतत इस बात की चेष्टा में लगा रहता है कि अपने उद्‌गम-स्थल पर पहुँच कर उससे एक हो जाये। मनुष्य की ईश्वर से मिलने की खोज ही सूफ़ियों का साधना मार्ग है।

सूफ़ियों के विश्वास के अनुसार परमात्मा और साधक के बीच में एक व्यवधान है। शैतान मनुष्य को सत् से विमुख कर असत् में उलझाये रखता है। जब साधक को परमात्मा की झलक मिल जाती है, तो वह उससे मिलने निकल पड़ता है और कठिन, दुर्गम रास्तों को पार करता हुआ उसकी झलक पाने का प्रयास करता है। यह साधना संसार के मायाजाल से छूटकर आध्यात्मिक जीवन बिताने का मार्ग है। सूफ़ी साधक इस साधना को एक यात्रा समझता है। सूफ़ी कवियों ने आख्यानों के द्वारा प्रतीक पद्धति से इसी साधना के स्वरूप और उस पर चलने की पद्धति को स्पष्ट किया है।

सूफ़ी मत में प्रेम को साधना में विशेष महत्त्व दिया गया है। साधक के ईश्वर के प्रति प्रेम (इश्क हकीकी) को इन कवियों ने लोककथाओं का सहारा लेकर लौकिक प्रेम (इश्क मजाजी) के माध्यम से प्रकट किया है। इन्हीं लोककथाओं को प्रेम आख्यान कहा गया है और उनमें साधक (आराधक) के प्रेम को प्रकट किया गया है। इन प्रेमाख्यानों में ईश्वर नायिका है और साधक नायक। नायक को किसी प्रकार नायिका का पता चलता है और वह उससे मिलने के लिए यात्रा पर चल पड़ता है। रास्ते में उसके सामने कई कठिनाइयाँ आती हैं और वह उन्हें पार करता चलता है। यह सूफ़ी साधना मार्ग की अवस्थाएँ और मंजिलें हैं। परमात्मा की कृपा से उसकी बाधाएँ दूर हो जाती हैं और वह अंत

में मंजिलें तय करके परमात्मा से एकमेव हो जाता है। यही साधना का चरम लक्ष्य है।

सूफी प्रेमाख्यानों में कुतबन की 'मृगावती' (१५०१ ई०), मंझन की 'मधुमालती' (१४९३-१५३८ ई०) जायसी की 'पद्मावत' (१५२०-१५४० ई०), उसमान की 'चित्रावली' (१६१३ ई०) तथा नूर मुहम्मद की 'इन्द्रावती' (१७४४ ई०) आदि काव्य प्रमुख हैं। इन प्रेमाख्यानों में प्रेमी और प्रेमिका के मिलन के लिए प्रायः प्रेमी की और कहीं-कहीं प्रेमिका की एक-दूसरे के प्रति एकान्त प्रेमनिष्ठा का वर्णन है। प्रेम के मार्ग में आने वाली हर बाधा को तुच्छ मान कर साधक उसे पार करता है। और अन्त में अपने लक्ष्य की प्राप्ति करता है। प्रेम की ये कहानियाँ भारतीय लोक-परम्परा से ली गयी हैं, उनमें ऐतिहासिकता का होना जरूरी नहीं है। कल्पना का सहारा लेकर उन्हें मांसल बनाया गया है और उनके माध्यम से कवियों ने प्रतीकात्मक ढंग से अपने मत का प्रतिपादन किया है। इन प्रेम-कथाओं के कारण सूफी काव्य को प्रेमाश्रयी शाखा का काव्य भी कहा जाता है। जीव और ब्रह्म का स्वरूप, ब्रह्म का ज्ञान पाकर उससे मिलने की उत्कट अभिलाषा आदि भारतीय वेदान्त के निकट जान पड़ते हैं। जीव का ईश्वर के प्रति एकान्तनिष्ठ प्रेम-वर्णन वैष्णव भक्त कवियों के भक्ति-भाव के अनुरूप ही है। लेकिन शायद तत्कालीन लोकप्रिय धार्मिक धारा से भिन्न होने के कारण प्रेमाख्यान काव्य अधिक प्रचलित नहीं हो सका।

भाषा-शैली : प्रेमाख्यान काव्य फारसी की 'मसनवी' की शैली में लिखे गये हैं और उनमें सामान्य रूप से चार, पाँच या छः चौपाइयों की अर्धाली के बाद दोहा छन्द का क्रम रखा गया है। इस शैली में कवि को विषय के विस्तृत वर्णन का पूरा अवसर मिलता है। इनमें किसी-किसी को महाकाव्य की भी संज्ञा दी जा सकती है। वर्णन-विस्तार के साथ इन काव्यों में प्रबन्ध काव्य के अन्य अंग ऋतु-वर्णन, घटना-क्रम निर्वाह, प्रकृति-चित्रण आदि मिलते हैं। परन्तु इन काव्यों का उद्देश्य महान्

चरित्र की अवतारणा या पात्रों और घटनाओं की वास्तविक जीवन-पद्धति का वर्णन नहीं है। ये प्रेम-तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं और उसके लिए काल्पनिक और अतिरंजित घटना-प्रसंगों का भी समावेश कर लेते हैं। इन काव्यों के वस्तु-वर्णन में विस्मय-तत्त्व का गहरा रंग दिखायी पड़ता है।

प्रेमाख्यान काव्यों की शैली का प्रधान तत्त्व इनका प्रतीक-विधान है। वे लौकिक प्रेम-कथाओं द्वारा परम तत्त्व के गहन विषय का प्रतिपादन करते हैं और उन दोनों को जोड़ने के लिए लौकिक जीवन के प्रतीकों का उपयोग करते हैं। इसी से गम्भीर आध्यात्मिक विषय को सामान्य जन के लिए बोधगम्य बनाने का यत्न किया गया है। कवि स्थान-स्थान पर कहानी का प्रतीकार्थ स्पष्ट भी कर देता है। कई पात्रों के नाम भी प्रतीकार्थ के द्योतक हैं, जैसे 'जीव', 'कृपा', 'आनन्द' आदि। जायसी के सभी पात्र सूफी मत के सिद्धान्तों के प्रतीक हैं, जिन्हें अन्य सूफी कवियों की तरह काव्य के अन्त में स्पष्ट किया गया है। पद्मावत के स्थान और पात्र प्रतीकात्मक हैं। चित्तौड़ तन है, वहाँ का राजा रतन सेन मन; सिंहल द्वीप हृदय है और वहाँ की राजकुमारी पद्मिनी बुद्धि। राजा को राजकुमारी का पता देनेवाला सुग्गा गुरु है और उससे मिलने से रोकने वाला राघव चेतन शैतान है। अलाउद्दीन माया है और रतनसेन की पहली पत्नी नागमती संसार है। घटनाओं के वर्णन में भी इन काव्यों में प्रतीकात्मक निरूपण मिलता है। प्रथम चित्र-दर्शन में साधक उस अलौकिक कान्ति का प्रभाव सह नहीं पाता और मूर्च्छित हो जाता है। यात्रा की कठिनाइयाँ साधकों के रास्ते में आने वाले बाधक तत्त्व हैं। जीव-ब्रह्म प्रेम-मिलन भी एक ही बार घटित होकर स्थायी रूप नहीं ग्रहण कर लेता। लगभग सभी काव्यों में मृत्यु के कारण दोनों का स्थायी बिछोह हो जाता है। इस प्रकार लगभग सारा प्रेमाख्यान काव्य प्रतीक के माध्यम से निर्मित हुआ है।

प्रेम-तत्त्व के कारण इस काव्य का मुख्य रस शृङ्गार है। नायक के साहसिक कार्यों के सन्दर्भ में वीर रस का भी वर्णन है और आध्यात्मिक रहस्य-संकेतों में अद्‌भुत की व्यंजना हुई है। प्रेमाख्यानक काव्य में प्रायः

भारतीय अलंकारों का ही प्रयोग किया गया है, किन्तु कहीं-कहीं फारसी शैली में 'रक्त के आँसू' जैसे भारतीय परम्परा से भिन्न उपमानों का भी प्रयोग किया है।

इस काव्य की भाषा अवधी का ठेठ रूप है और दो-एक कवियों में भोजपुरी का भी प्रभाव दिखायी पड़ता है। इन कवियों ने तद्‌भव बहुल शैली को अपनाया और तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रायः कम किया है। प्रारम्भिक काव्यों में ठेठ अवधी ही मिलती है और अरबी-फारसी के शब्द कम हैं। जिन कवियों में अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग दिखायी पड़ता है, उनमें ये शब्द तद्भव रूप में ही प्रयुक्त हैं।

सगुण भक्ति-शाखा : राम और कृष्ण के अवतारों को ईश्वर मानकर उनके प्रति भक्ति का निवेदन करने वाले काव्य को सगुण भक्ति की संज्ञा दे सकते हैं। इसका दार्शनिक आधार उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता, पांचरात्र, आगम आदि हैं और इनके उपजीव्य इतिहास-पुराण ग्रन्थ हैं। इसके उपास्य को भगवान् कहा जाता है, क्योंकि उसमें ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य और तेज—ये षड्‌गुण हैं। ब्रह्म अनादि अनन्त है, लेकिन भक्तों के लिए और जगत् के कल्याण के लिए वह वासुदेव, व्यूह, विभव, अर्चा तथा अन्तर्यामी रूपों से प्रकट होता है और इन रूपों में भक्तों के लिए सुलभ होता है। भक्त इन्हीं सब रूपों में भगवान् के प्रति भक्ति का निवेदन करते हैं और उसे भक्ति के अलावा अन्य किसी बाह्य साधना की आवश्यकता नहीं होती। इस कारण सगुण भक्ति का मार्ग सुगम है और निर्गुण रूप, जो संत और सूफी मतों में प्रकट होता है, भक्तों के लिए कठिन है। इस भक्ति मार्ग का विवेचन और निरूपण आचार्यों ने किया और वह दक्षिण से लेकर असम तक, दूर-दूर तक परिव्यात हो गया। भक्ति-मार्ग के प्रथम प्रमुख आचार्य रामानुज हैं और उनके बाद मध्व, निम्बार्क आदि आचार्यों ने भी अपने-अपने ढंग से भक्ति का स्वरूप-निर्धारण किया। हिन्दी के मध्ययुग के काव्य में प्रारम्भिक आचार्यों की अपेक्षा वल्लभाचार्य और चैतन्य

के संप्रदाय तथा राधावल्लभ-संप्रदाय, सखी-संप्रदाय आदि अधिक प्रभावशाली हुए।

भक्ति के दो स्वरूप हुए। राम-भक्ति की धारा के प्रवर्तक आचार्य रामानन्द हुए। तुलसीदास उन्हीं की परम्परा में माने जाते हैं। कृष्ण की धारा के प्रमुख आचार्य वल्लभाचार्य थे और इन्होंने जिस भक्ति के स्वरूप का प्रतिपादन किया वह पुष्टिमार्ग कहलाता है। सूरदास और नन्ददास आदि हिन्दी के आठ प्रमुख कवि इसी संप्रदाय में दीक्षित हुए। इन दोनों धाराओं में विष्णु या हरि उपास्य हैं और हरि के दो रूपों राम और कृष्ण के अवतारों को दोनों धाराओं ने अपने काव्य का विषय बनाया। वैष्णवभक्ति में हरि के युगल रूप का महत्त्व है और ब्रह्म अपने प्रत्येक रूप में अपनी आनन्दरूपा शक्ति लक्ष्मी के साथ प्रकट होता है। राम-भक्ति शाखा में राम का नहीं, सीता-राम की युगल मूर्ति का और कृष्ण-भक्ति में राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति का वर्णन होता है।

भक्ति रस है, भाव है और भगवद्विषयक रति है। भक्त अपने उपास्य की युगल मूर्ति के प्रति आनन्द और भक्ति के उत्कृष्ट भाव का अनुभव करता है और उस मूर्ति के साथ निरन्तर सान्निध्य की कामना करता है। आचार्यों ने यद्यपि जीवों के लिए विभिन्न प्रकार की मुक्तियों (मोक्ष) का वर्णन किया है, भक्त का लक्ष्य शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म-ज्ञान के आनन्द में 'केवल' की स्थिति में पहुँचने या वैष्णवधर्म के अनुसार अपने को ईश्वर के स्वरूप में खो देने में नहीं है। वह निरन्तर भगवत्प्रेम की अलौकिक आनन्द की अनुभूति को ही मुक्ति मानता है।

वैष्णव-भक्ति की दो मुख्य विशेषताएँ हैं प्रपत्ति और प्रेम। प्रपत्ति में भक्त अनन्यभाव से अपने उपास्य के प्रति अपने प्रेम का अनुभव करता है और उसके अलावा और किसी के बारे में नहीं सोचता। वह सारी सृष्टि को ब्रह्ममय मानता है और उस ब्रह्म से अपने उद्धार की प्रार्थना करता है। उसके लिए और कोई सहारा नहीं है, भगवत्कृपा बिना वह मुक्ति नहीं पा सकता। इसलिए वह भगवान् के प्रति अपनी दयनीय अवस्था का

निवेदन करता है और कृपा की याचना करता है। ईश्वर को वह भक्त-वत्सलता आदि गुणों का आगार मानता है और उसी को सौंदर्य का स्रोत मानता है। उसके प्रति वह अपने मन में अगाध प्रेम का अनुभव करता है और नाम जप, कीर्तन, स्मरण आदि मानसिक अवस्थाओं में अपने प्रेम को अभिव्यक्त करता है।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास से प्रमाणित होता है कि देश की हर भाषा में भक्ति का युग रहा है। दक्षिण में आलवार कवियों ने भारत में प्रथमतः वैष्णवभक्ति के काव्य का सूत्रपात किया। वहाँ के शैवभक्त कवियों ने भी भक्ति को इसी रूप में अपनाया और दोनों में केवल उपास्य के नाम का ही अन्तर था। अन्यथा दोनों ही एक हैं। तमिल में ग्यारहवीं शताब्दी में कंबन ने रामायण काव्य लिखा। कन्नड़ भाषा में ग्यारहवीं शताब्दी में ही कवि नागचन्द्र द्वारा 'पम्प रामायण' लिखी गयी। दसवीं शताब्दी से लेकर आधुनिक काल तक भक्ति सम्बन्धी विविध रचनाओं का प्रणयन हुआ और हरिदास, पुरन्दरदास आदि दास-कवि प्रसिद्ध हुए। तेलुगु साहित्य ग्यारहवीं शताब्दी से शुरू होता है और यहाँ सबसे पहले पुराण लिखे गये और इसी युग में महाकवि पोतना ने साहित्य-रचना की। महाराष्ट्र के भक्तिकाल का आविर्भाव तेरहवीं शताब्दी में होता है। ज्ञानदेव-नामदेव के काव्य में भक्ति के स्वरूप के साथ ही निर्गुण विचारधारा का भी पुट मिलता है, सत्रहवीं शताब्दी में तुकाराम-रामदास ने विट्ठल (विष्णु) को उपास्य मान कर प्रेमलक्षणा भक्ति का प्रचार किया। गुजराती में पन्द्रहवीं शताब्दी में भक्ति-साहित्य का विकास हुआ। इस युग में नरसिंह मेहता प्रसिद्ध कवि हुए। पुष्टि मार्गीय भक्ति का प्रभाव बाद के गुजराती साहित्य पर भी पड़ा और कृष्ण-भक्ति काव्य का विकास हुआ। बिहार में हिन्दी के प्रथम कवि विद्यापति ने तेरहवीं शताब्दी में राधा-कृष्ण के सम्बन्ध में मैथिली में माधुर्य भाव से भरे पदों की रचना की। बँगला साहित्य विद्यापति के पदों से बहुत प्रभावित हुआ और चंडीदास तथा अन्य कवियों ने बँगला में ऐसे ही पद लिखे। पूरे ३०० साल तक ऐसे पदों की रचना हुई

और बंगाल में श्रीकृष्ण-चरित्र का अमृत प्रवाहित होता रहा। चैतन्य महाप्रभु (सोलहवीं शताब्दी) ने बंगाल की वैष्णवभक्ति धारा को स्वरूप दिया और उनके द्वारा प्रतिपादित गौड़ीय संप्रदाय वहाँ का प्रमुख भक्ति-संप्रदाय बना। असमिया भाषा में वैष्णवभक्ति का काल पन्द्रहवीं से सत्रहवीं शताब्दी का है। इस युग के पहले और प्रमुख कवि शंकर देव और माधव देव हैं, जिन्होंने श्रीमद्भागवत को आधार बना कर कृष्ण-भक्ति को प्रचारित किया। कश्मीर में सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ से ही कृष्ण और राम की भक्ति सम्बन्धी रचनाओं का प्रणयन हुआ। इस प्रकार सारे भारत में भक्ति-काव्य की रचना हुई और ये भाषाएँ एक दूसरे से प्रभावित हुईं। इन सब भाषाओं में राम या कृष्ण ही उपास्य रहे और सभी में प्रपत्ति और प्रेम-लक्षणामूलक भक्ति का स्वरूप मिलता है। कई भाषाओं के साहित्यों में भक्ति के आविर्भाव के पहले संत मत और कहीं-कहीं सूफी मत भी प्रचलित थे और उनके साथ संघर्ष कर वैष्णवभक्ति ने अपना स्थान बनाया। सभी भाषाओं में आधुनिक काल तक भक्ति-भावना विद्यमान रही है। इन सभी भक्तिकाव्यों में भक्ति के सामान्य तत्त्व लक्षित होते हैं। सब में प्रपत्ति और प्रेम तथा भगवान् के अनुग्रह के लिए भक्त की कातर विनती समान रूप से व्यक्त हुई है।

राम-भक्ति-धारा : विष्णु के अवतार के रूप में राम की मान्यता पुरानी है, परन्तु रामभक्ति का स्वरूप ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग ही निश्चित हुआ। आदिकाव्यों में विशेषकर वाल्मीकि रामायण में रामभक्ति के आलम्बन नहीं बल्कि आदर्श मानव तथा वीर क्षत्रिय थे। भक्तिभाव के उदय तथा राम को विष्णु के अवतार रूप में प्रतिष्ठित करने के बाद संपूर्ण राम-काव्य एक नवीन दृष्टिकोण से देखा जाने लगा। 'रामायण' केवल राम का 'अयन' न होकर अवतार-लीला का ग्रन्थ बना और राम भक्त-वत्सल भगवान् बन गये। राम-कथा न केवल भारत में बल्कि सुदूर-पूर्व देशों में भी प्रचलित हुई थी, लेकिन भगवान् के रूप में राम-काव्य का वर्णन भारतीय भाषाओं में ही मिलता है। इस देश के लगभग सभी

साहित्यों में राम-भक्ति का स्वरूप देखने को मिलता है।

रामानन्द ने पन्द्रहवीं शताब्दी के आरंभ में उत्तर भारत के जन-साधारण में राम-भक्ति को लोकप्रिय बनाया। उनके दार्शनिक सिद्धान्त श्री-संप्रदाय या रामानन्द-संप्रदाय कहे जाते हैं। उन्होंने 'वैष्णव-मताब्ध-भास्कर', 'श्री रामार्चन-पद्धति' आदि ग्रन्थों में राम-भक्ति का विवेचन किया है। उन्होंने राम को इष्टदेव माना और राम-नाम को ही अपनी साधना का मूल मन्त्र बनाया। उनके दर्शन का आधार रामानुज का विशिष्टाद्वैत ही है। राम ही विष्णु हैं और विष्णु के अवतार हैं। सीता लक्ष्मी हैं और लक्ष्मी की अवतार हैं। वे भगवान् की अनादि सहचरी पुरुषाकारभूता हैं। जगत् का कारण ब्रह्म (राम) ही हैं और वे संकल्प मात्र से उसकी रचना करते हैं। जीव नित्य, ईश्वर की अपेक्षा अज्ञ, सूक्ष्म, अनेक है। इसके बद्ध, मुक्त आदि अनेक भेद हैं। जब जीव सांसारिक बन्धनों से मुक्त होता है, तो साकेत लोक को पहुँच कर सदा ब्रह्म-सुख का अनुभव करता है। मोक्ष परमपुरुषानुभव रूप है। भक्ति ही मोक्ष का साधन है, प्रिय भगवान् में अनुराग ही भक्ति है। सभी लोग भक्ति के अधिकारी हैं। कृष्ण-भक्ति की तरह इस भक्ति में भी नवधा साधनों का विधान है और बाद के कवियों ने राम के प्रति माधुर्य, सख्य, वात्सल्य रूप से भी भक्ति का निवेदन किया है। प्रपत्ति और न्यास-भक्ति के दो मुख्य अंग हैं।

भक्ति के उपास्य राम हैं। वे जगत् के स्रष्टा, रक्षक तथा लयकर्ता हैं। वे ज्ञानस्वरूप, स्वप्रकाश, अविनाशी, नित्य हैं। वे असंख्य कल्याण गुणों के आकर, शरणागतरक्षक और भक्तवत्सल हैं। वे अपूर्व शक्ति, लावण्य एवं शील के आगार हैं। उनमें तथा जीव (भक्त) में पिता-पुत्र, रक्षक-रक्षित, स्वामी-सेवक आदि का संबंध है। इस रूप में राम-भक्ति की धारा में राम का चरित्र अत्यन्त परिष्कृत और अलौकिक बन गया है। राम के साथ अन्य चरित्र भी वैष्णव-धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। सीता लक्ष्मी-अवतार हैं और राम की नित्य सहचरी हैं।

तुलसीदास : हिन्दी में राम-भक्ति धारा में अनेक कवि हुए, लेकिन

राम-भक्ति धारा का साहित्यिक महत्त्व अकेले तुलसीदास (१५३२-१६२३ ई०) के कारण है। उनकी अद्भुत प्रतिभा के कारण अन्य कवि बहुत ही गौण हो गये हैं। उनका संबंध रामानन्द की शिष्य-परंपरा से जोड़ा जाता है। उन्हें पुराण, निगम, आगम आदि ग्रन्थों का ज्ञान था। उन्होंने लगभग एक दर्जन काव्य-ग्रन्थों की रचना की, जिनमें 'रामचरित-मानस' सर्वश्रेष्ठ है और इसके साथ-साथ 'कवितावली', 'गीतावली' तथा 'विनय-पत्रिका' आदि ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण हैं। 'रामचरितमानस' में मर्यादा-पुरुषोत्तम राम का पावन चरित्र है। 'विनय-पत्रिका' दास्य भाव से भक्त का ईश्वर से कृपा प्रदान करने का निवेदन है। अन्य काव्यों में भी राम-चरित सम्बन्धी प्रसंगों को काव्यबद्ध किया गया है।

तुलसी की राम-भक्ति मानवता की एक महान् कल्पना पर आधारित है। तुलसीदास की राम-भक्ति निरी आध्यात्मिक साधना नहीं है, वह एक नीतिमूलक जीवन-दर्शन भी है। उन्होंने राम को लोक-मंगल की भावना से युक्त शील और सहृदयतासंपन्न लोक नायक के रूप में चित्रित किया है। इस लोक-कल्याण की भावना के लिए उन्होंने राम के चरित्र में कई समन्वयकारी प्रवृत्तियों को दर्शाया है। शिव और राम में कोई संघर्ष नहीं है। शिव-भक्ति, राम-भक्ति का एक उपक्रममात्र है। वे निर्गुण की सत्ता को अवश्य मानते हैं, किन्तु सगुण रामोपासना ही उत्तम मार्ग है। उनका सारा काव्य समन्वय की विराट् चेष्टा है। लोक और शास्त्र का, गार्हस्थ्य और वैराग्य का, भक्ति और ज्ञान का, निर्गुण और सगुण का, ब्राह्मण और शूद्र का, लोक भाषा और संस्कृत भाषा का समन्वय उनके काव्य की प्रमुख विशेषता है। इन सबका आधार उन्होंने राम के चरित्र को बनाया और अपने मत का प्रतिपादन किया। इस कारण वे विशुद्ध रामानन्द संप्रदाय के कवि नहीं हैं। उनके काव्य ने सामाजिक चेतना को प्रभावित किया और लोक-मानस के कोमल तन्तुओं को छुआ। इसी कारण वे आज तक घर-घर में पढ़े जाते हैं।

भाषा-शैली : तुलसीदास भाषा के भी मर्मज्ञ विद्वान् थे। उन्हें अवधी

और ब्रज दोनों पर समान अधिकार था। उनके काव्यों में भाषा-शैली की विविधता और भावानुकूल भाषा का प्रयोग दिखायी पड़ता है। मानस में यदि उन्होंने चौपाई-दोहों का प्रबन्ध-रचनानुकूल प्रयोग किया है, तो अन्य कई ग्रन्थों में सुन्दर गेय पदों की रचना की है। मानस की अवधी भाषा में संस्कृतनिष्ठ शब्दावली का प्रयोग है, तो विनयपत्रिका की भाषा ब्रज-भाषा प्रांजल, प्रवाहमयी साहित्यिक भाषा है। प्रबन्ध काव्य की रचना और गेय पदों की रचना दोनों में तुलसी अग्रगण्य हैं। शब्द-चयन, भावानुबन्ध, कथा-निर्वाह, छन्द-विधान, युक्ति-योजना, अलंकार-प्रयोग सभी में वे अद्भुत प्रतिभा प्रकट करते हैं।

केशवदास : इस शाखा के दूसरे कवि केशवदास (१५५५-१६१७ ई०) हैं। वे भक्तिकाल के अंत तथा रीतिकाल के आरम्भ में आते हैं। इस कारण उनमें दोनों युगों की प्रवृत्तियों का आना सहज है। उनका एक ग्रन्थ 'रामचन्द्रिका' है जिसमें राम-चरित्र का वर्णन है। इसमें राम के सम्बन्ध में परमात्म-भावना दबी हुई है और सूर, तुलसी की भक्तिभावना उनमें नहीं है। उनके राम और सीता के चरित्र में रीति-कालीन प्रवृत्तियों के रूप में शृंगार का आधिक्य तो नहीं, बल्कि वर्णन-प्रधानता के कारण गंभीरता की न्यूनता आ गयी है। उनकी रचना प्रबन्धात्मकता की दृष्टि से भी त्रुटिहीन नहीं है, उसमें घटनाओं का उचित क्रम-निर्वाह नहीं है। कहीं-कहीं मुख्य प्रसंग भी एक-दो पदों में ही टाल दिये गये हैं और जिन प्रसंगों में उन्हें वर्णन-वैचित्र्य का अवसर मिला, वहाँ उन्हें विस्तार दे दिया है। उनका मुख्य बल कथा-वर्णन पर नहीं, अलंकार, उक्ति-वैचित्र्य और छन्द-योजना पर है। मौके-बे-मौके अपना पाण्डित्य-प्रदर्शन और कला-प्रदर्शन करने से नहीं चूकते। इस कला-प्रदर्शन में वस्तु गौण हो जाती है और पाठक अलंकारों में ही गोता लगाने लगता है। इसी कारण उनके वर्णनों में कृत्रिमता और क्लिष्टता आ गयी है। लेकिन उनके कई संवाद बहुत सुन्दर बन पड़े हैं। उनकी भाषा ब्रज है, लेकिन इसमें शब्द की यथावसर तोड़-मोड़ कर ली गयी है। इन कारणों से उन्हें भक्त-

कवि कम, रीतिकालीन कवि अधिक कहा जाता है।

कृष्ण-भक्ति-धारा : इस धारा के काव्य में कृष्ण इष्टदेव हैं और वे पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म हैं। ऐतिहासिक रूप से कृष्ण-भक्ति का विकास भागवत पुराण के साथ ही माना जा सकता है। तमिल में छठीं से आठवीं शताब्दी तक का लगभग समस्त अलंकार-साहित्य कृष्ण-भक्ति-प्रधान ही है। कृष्णभक्ति में कृष्ण के दो विशिष्ट रूपों का वर्णन होता है। महाभारत के कृष्ण कुशल राजनीतिज्ञ हैं, उनका चरित्र, ऐश्वर्य और पराक्रमपूर्ण है। उनमें वह लालित्य नहीं दिखायी पड़ता जो नंद-यशोदा-नंदन, गोपी-वल्लभ गोकुल के कृष्ण में है। श्रीमद्भागवत ने ही इस गोपालकृष्ण का विकास किया। हिंदी-साहित्य की कृष्ण-भक्ति धारा ने कृष्ण के इस ललित रूप को ही इष्टदेव बनाया और उनकी लीलाओं का गान किया, जब कि अन्य भाषाओं के साहित्यों में कृष्ण के दोनों रूपों—भारत तथा भागवत के रूपों—का महत्त्व है।

कृष्ण-काव्य का दार्शनिक आधार वैसे तो समस्त वैष्णव वाङ्मय है, लेकिन हिन्दी कृष्ण-काव्य वल्लभाचार्य (१४७९-१५३१ ई०) का ऋणी है। उन्होंने शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार ब्रह्म के तीन रूप हैं—पर या पुरुषोत्तम रूप, अंतर्यामी रूप और अक्षर रूप जिससे सृष्टि-रचना होती है। इसके अनुसार कृष्ण ही पूर्ण पुरुषोत्तम, सच्चिदानंद स्वरूप ब्रह्म हैं, वे अज, अविनाशी, अनादि-अनंत हैं। राधिका कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति हैं, जिनके साथ वे गोलोक में नित्य विहार करते हैं। सभी जीव अक्षर ब्रह्म के चित् अंश से उत्पन्न हैं और अणु हैं। ये तीन प्रकार के हैं—प्रवाही जीव, जो सांसारिक आकर्षणों में ही पड़े जन्मचक्र में घूमा करते हैं, मर्यादा जीव, जो ज्ञान के द्वारा वेदविहित मार्ग से भक्ति करते हैं और पुष्टि जीव, जो ईश्वर की अनन्य शरण में रहते हैं और जिन पर ईश्वर का पोषण ('अनुग्रह) रहता है। जीव रसरूप ब्रह्म के आनन्द के लिए व्याकुल होते हैं और भक्ति द्वारा मुक्ति पाकर उस आनन्द में लीन हो जाते हैं। जगत् ईश्वर के सत् अंश से सर्जित हुआ है, वह उसका

लीला-धाम है। ब्रह्म, जीव, जगत् तीनों ही सत्य हैं और इस प्रकार वल्लभाचार्य ने शंकर के मायावाद का खंडन करके अपने सिद्धांत को शुद्ध बनाया है।

वल्लभाचार्य के दर्शन का साधना-मार्ग पुष्टि-मार्ग कहलाता है, जिसका संगठन उनके पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ ने किया। हिन्दी के आठ प्रमुख कवि कुंभनदास, सूरदास, कृष्णदास, परमानंददास, चतुर्भुजदास, गोविन्द-दास, छीतस्वामी, नंददास उसमें दीक्षित हुए। इन कवियों ने कृष्ण के मधुर और वात्सल्यभाव से ओतप्रोत लीलाओं का वर्णन कर गेय पदों की रचना की। ये पद मथुरा के श्रीनाथजी के मन्दिर में नियमित रूप से गाये जाते थे। इन कवियों में कृष्ण के प्रति नाना रूपों में प्रेम-भक्ति की महत्ता स्पष्ट होती है।

कृष्ण के भक्ति-प्रेम के कई रूप हैं, जिन्हें विभिन्न भावों के नाम से अभिहित किया जाता है। वात्सल्यभाव में वे बालक हैं और यशोदा के समान भक्त उनके बालरूप के सौंदर्य और उनकी लीलाओं पर मुग्ध होता है; माधुर्यभाव में वे नायक हैं और गोपियाँ उनके प्रति विरह और प्रेम-मिलन की व्याकुलता दर्शाती हैं; सख्यभाव में वे बाल सखा हैं, जिनके साथ भक्त किशोरसुलभ चेष्टाएँ करते हैं; दीन भक्त के दैन्यभाव में वे कृपासिंधु हैं और शरणागत दास के दास्यभाव में वे भक्तरक्षक स्वामी हैं। इन सभी रूपों में भक्त श्रवण, कीर्तन, नामस्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन की नवधा भक्ति द्वारा प्रेम का निवेदन करते हैं। इन रूपों में वात्सल्य और माधुर्यभावों का अनुपम चित्रण हुआ है और यह हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है।

भक्ति ही मोक्ष का आधार है, किन्तु भक्ति सभी लोगों को नहीं प्राप्त होती। उसे भगवदनुग्रह से ही प्राप्त किया जा सकता है। इस अनुग्रह को प्राप्त करने के लिए भक्त अपनी दयनीयता और अन्य आश्रयहीनता का वर्णन कर प्रपत्तिमूलक एकनिष्ठ प्रेम का प्रतिपादन करता है। उसका कृष्ण-प्रेम एकनिष्ठ है और उसी की सहायता से वह मुक्ति की प्राप्ति

करता है। कृष्ण-भक्ति की धारा में भी मुक्ति सायुज्य या सालोक्य नहीं, बल्कि ईश्वर के नित्य लीला-धाम में उनकी लीलाओं का आनन्द प्राप्त करना मात्र है।

भाषा-शैली : कृष्ण-भक्ति काव्य प्रधानतया गीति काव्य है। लेकिन ये गीति व्यक्तिगत नहीं होते, उनका वर्ण्य प्रायः कृष्ण-चरित्र ही है। मीरा को छोड़ कर जिनमें आत्मनिवेदन व्यक्तिगत रूप में व्यक्त हुआ है, अन्य कवियों में भक्तिभावना की गहनता ही व्यक्त हुई है। गीति काव्य के लक्षण के अनुसार इनमें भाव-संकलन है और प्रत्येक अच्छे गीति पद में कृष्ण के रूप या लीला का कोई एक प्रमुख भाव ही व्यक्त हुआ है। हर पद अपने विषय में स्वच्छंद होते हुए भी पूरे कृष्ण-काव्य में कृष्ण-चरित्र का निर्वाह भी दिखायी पड़ता है। इस कारण प्रबन्धतत्त्व की दृष्टि से कृष्ण-काव्य का क्रमिक विस्तार संभव नहीं हो पाया है। सूरदास के काव्य को छोड़ कर अन्य अधिकतर गीति पद मुक्तक ही हैं। केवल सूरदास में प्रबन्ध और गीति से विरोधी जैसे लक्षणों का समन्वय दिखायी देता है। उनमें कई ऐसे पद भी हैं, जो लम्बे और वर्णनात्मक हैं, इन स्थानों पर चौपाई आदि छन्दों का भी प्रयोग हुआ है। अन्य कवियों ने कवित्त, सवैया, दोहा आदि छन्दों का प्रयोग किया है। अधिकांश कृष्ण-काव्य गेय है। उसकी रचना प्रायः कृष्ण-कीर्तन के उद्देश्य से विशेष कालों तथा अवसरों पर विविध राग-रागिनियों में गाने योग्य पदों के रूप में हुई है। कृष्ण-काव्य के गीति पदों में गीति-काव्य की सहज स्फूर्ति, अनाडम्बर और निश्छलता अद्‌भुत रूप में मिलती है।

इस काव्य का अंगी रस 'भक्ति' है। इसका स्थायी भाव भगवद्-विषयक रति है। इस रति का अनुभव भक्त ईश्वर को किसी भी रूप में यथाभावेन करता है। इस कारण वात्सल्य, सख्य, माधुर्य आदि भाव भक्ति-रस के अंगी भाव हैं। चरित्र-चित्रण और पात्रों के वर्णन में भी भाव की दृष्टि से कवियों ने प्रतीकात्मकता का उपयोग किया है। वे सब वात्सल्य, सख्य, माधुर्यादि के प्रतीक हैं। स्थान-स्थान पर कवियों ने कृष्ण

या अन्य चरित्रों के माध्यम से आध्यात्मिक तत्त्वों को स्पष्ट करवाया है।

कृष्ण-काव्य की शैली भाव-व्यंजक तथा मार्मिक है। अकेले सूरदास में ही वर्ण्य-विषय और भावानुभूति के आधार पर कई शैलियाँ मिलती हैं, जिनमें भाषा, अलंकार, छन्द की स्पष्ट विभिन्नता है। उनमें वर्णनात्मक प्रसंगों में विषय के अनुरूप सरल-ग्रामीण या धार्मिक शब्दावली में वाच्यार्थ प्रधान है, तो गंभीर भाव-चित्रण में लाक्षणिकता की भरमार है और अत्यन्त सरल, ठेठ शब्दों में भी गूढ़ व्यंजना हुई है। अलंकारों का रूप-चित्रण आदि में सुन्दर प्रयोग हुआ है, यद्यपि कवियों का ध्यान काव्य के अलंकरण की ओर नहीं था।

कृष्ण काव्य ने ब्रजभाषा को अपनाया। इनकी भाषा प्रायः ठेठ, तद्भव शब्दों से युक्त है और कहीं-कहीं शब्दों को तोड़-मोड़ कर अपनी इच्छा से उपयोग करने की प्रवृत्ति भी दिखायी पड़ती है। उनकी भाषा का एक गुण उनका माधुर्य है, जिस कारण वह आधुनिक कालतक काव्य-रचना के लिए उपयोग में लायी जाती रही। कृष्ण-भक्ति के साथ ब्रजभाषा इतनी अधिक जुड़ गयी कि कृष्ण-भक्ति काव्य की रचना के लिए यह केरल, गुजरात, बंगाल, असम आदि दूर-दूर के प्रदेशों तक पहुँची।

सूरदास : सूरदास (१४७८-१५८० ई०) हिन्दी के श्रेष्ठ कृष्ण-भक्त कवि हैं। ये वल्लभाचार्य के शिष्य थे और वल्लभाचार्य ने ही इन्हें दीक्षित कर सगुण लीला पद गाने को कहा था। इनके इष्टदेव नट नागर कृष्ण हैं, राधा उनकी आह्लादिनी शक्ति हैं। कृष्ण की लीलाओं और उनके चरित्र का वर्णन सूर ने अपने ग्रंथ 'सूर-सागर' में किया है। 'सूर-सागर को' भागवत पुराण के अनुकरण पर द्वादश-स्कंधी रूप भी दिया गया है। इसमें विष्णु के सभी अवतारों के संदर्भ हैं, परन्तु मुख्य रूप से कृष्ण की लीला का वर्णन ही सूर-सागर का प्रतिपाद्य है। सूरदास के नाम से दो अन्य रचनाओं—'सूर-सारावली' और 'साहित्य-लहरी' का भी उल्लेख किया जाता है, लेकिन उनकी प्रामाणिकता के विषय में संदेह भी प्रकट किया गया है।

सूरदास ने अपनी आवश्यकता और मत के अनुसार भागवत की कथा में उचित परिवर्तन किया। उन्होंने भागवत में वर्णित लीलाओं—पूतना वध, केशी-वध, गिरि-धारण, गोचारण, माखन-चोरी, चीर-हरण आदि को तो अपनाया, परन्तु साथ ही अन्य अनेक मौलिक प्रसंगों और कथाओं की भी उद्भावना की। दान-लीला, मान-लीला, पनघट-लीला आदि उनकी मौलिक उद्भावनाएँ हैं, जिनके माध्यम से वे कृष्ण के स्वरूप और जीव-ब्रह्म सम्बन्ध का अपने ढंग से विवेचन करते हैं। भ्रमरगीत-काव्य उनके काव्य का सुन्दर अंश है जिसमें वे भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन करते हैं और सगुण भक्ति की तुलना में निर्गुण भक्ति को त्याज्य घोषित करते हैं। इन नवीन प्रसंगों और काव्य के चरित्रों द्वारा सूरदास अपने अनन्य भाव की प्रेम-भक्ति की भावना स्पष्ट करते हैं।

सूर-सागर के आरम्भ के विनय के पदों में दैन्यभाव का स्वरूप मिलता है। ग्रन्थ के मुख्य कलेवर में गोपी-कृष्ण और राधा-कृष्ण की लीलाओं में माधुर्यभाव, कृष्ण के साथ यशोदा और नन्द के सम्बन्धों में वात्सल्यभाव, बलराम तथा सुदामा आदि सखाओं के साथ केलि में सख्य-भाव का प्रतिपादन हुआ है। सूरदास वात्सल्य और माधुर्य, विशेषतः वियोग श्रृंगार के भावों के वर्णन में श्रेष्ठ हैं। दोनों रूपों में कृष्ण का सौंदर्य, उनकी चेष्टाएँ तथा उनके प्रति प्रेमभाव का वर्णन अत्यंत सुन्दर बन पड़ा है। सच्चे कवि होने के नाते सूरदास ने मनुष्य की सौंदर्य-वृत्ति को ही परिष्कृत किया और उसे उदात्त बनाने का यत्न किया। इसमें उन्हें पूरी सफलता मिली और उनके काव्य ने लोक-मानस को बहुत प्रभावित किया। भक्ति का भारत में प्रचलित होने का मुख्य आधार यही है और सूरदास ने अपनी ओर से इसका पूरा उपयोग किया।

नन्ददास : कृष्ण-भक्ति में नन्ददास (अनुमानतः १५३३-१५८६ ई०) का स्थान सूरदास के बाद है। ये गोसाईं विट्ठलनाथ के शिष्य थे। ये जाति के ब्राह्मण और संस्कृत के अच्छे पंडित थे। इन्होंने भी गेय पदों

की रचना करके कृष्ण-लीलाओं का वर्णन किया। इनके कम-से-कम १४ प्रामाणिक ग्रंथ माने जाते हैं, जिनमें रासपंचाध्यायी और भँवरगीत महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने 'सिद्धान्त-पंचाध्यायी' नामक शास्त्र-ग्रन्थ लिखकर पुष्टि-मार्ग का स्वरूप निर्धारित किया। उनकी रचनाओं में स्थान-स्थान पर दार्शनिक विचार प्रकट हुए हैं, तथापि पाण्डित्य से उनका कविरूप पूर्णतया आच्छादित नहीं होता। नन्ददास की रचनाओं में अधिकांश शृंगार और मधुरभाव सम्बन्धी ही हैं। उन्होंने सूरदास की तरह संपूर्ण कृष्ण-लीला का वर्णन नहीं किया। उनका कला-पक्ष कृष्ण-भक्त कवियों में अतुलनीय है। उन्हें भाषा पर पूरा अधिकार था और वे शब्द-चयन इस प्रकार करते थे, जैसे सोने में हीरे जड़ रहे हों। इसी कारण और कवियों को 'गढ़िया' कह कर नन्ददास को 'जड़िया' कहा गया है।

कृष्ण-भक्ति के दो अन्य प्रमुख कवि रसखान और मीरा हैं। दोनों किसी संप्रदाय विशेष से बद्ध नहीं हैं। रसखान जाति के मुसलमान थे और लौकिक प्रेम की गर्हित भावना से छुटकारा पाकर इन्होंने कृष्ण-प्रेम को अपनाया। इनके स्फुट पदों में कृष्ण-लीलाओं का वर्णन है। मीरा के पदों में उनके कृष्ण के सम्बन्ध में प्रणय के आत्म-निवेदन का भाव स्पष्ट प्रतीत होता है। उन्होंने गोपी-भाव से कृष्ण के प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति की।

रीति-काल : हिन्दी-साहित्य का उत्तर-मध्य-काल रीति-काल के नाम से जाना जाता है; यद्यपि इसके कई अन्य नाम—कला-काल, शृंगार-काल, अलंकार-काल आदि भी सुझाये गये हैं, क्योंकि इसमें साहित्य की कई प्रवृत्तियाँ दिखायी पड़ती हैं। इन प्रवृत्तियों का कारण इस युग की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है।

यह युग शाहजहाँ के राज्य की समाप्ति और प्रथम भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के बीच का युग है, जिसमें विघटनकारी और अधोमुखी प्रवृत्तियाँ दिखायी पड़ती हैं। देश में मुगलों के साम्राज्य के प्रभाव के कारण

फारसी साहित्य और कला की प्रवृत्तियाँ स्थान ग्रहण कर चुकी थीं। राजसी प्रभाव के कारण अलंकरण और दरबारी विलासिता दोनों का महत्त्व बढ़ गया था। यह युग अपेक्षाकृत समृद्धि और शान्ति का युग था। ह्रासोन्मुख मुगल-साम्राज्य के अन्तिम शासक तथा उस साम्राज्य के अधीन नवाब और छोटे राजा इस समृद्धि और शान्ति को भोगने को लालायित थे। उनके राज-दरबार में विलासिता का वातावरण बना। भक्ति, वैराग्य और अन्य आदर्शों का कोई मूल्य नहीं रहा और दरबार में नारी तथा मधु की प्रधानता हो गयी। दरबारी कवियों ने इस वातावरण में अपनी काव्य-रचना की।

इस काल के काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति शृङ्गारिकता है। भक्ति-काल के तुरंत बाद निर्मित होने के कारण शृङ्गारिकता के मानसिक स्वरूप को भक्ति-काल की प्रेम-साधना से आधार और प्रेरणा प्राप्त हुई। इस प्रवृत्ति को शास्त्रीय आधार-भूमि संस्कृत काव्यशास्त्र के रस, अलंकार तथा नायिका-भेद के ग्रन्थों से मिली। शृङ्गार-रस के प्राधान्य का कारण दरबारों का विलासितापूर्ण वातावरण था, जिससे दरबारी कवि मुक्त नहीं हो सके। उन्होंने राधा और कृष्ण को, जो भक्ति-काल के रसरूप ब्रह्म की युगल मूर्ति थे, सामान्य नायक और नायिका का स्थान दे दिया और उनमें शृङ्गार-रस के अनुरूप हाव-भाव, विलास-मंडन, नख-शिख वर्णन आदि का आरोप किया है।

इस काल की दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति अलंकरण की है। अलंकरण की प्रवृत्ति फारसी कला से प्रभावित चित्र और वास्तु-कलाओं में दिखायी पड़ती है, जिसे 'पच्चीकारी' कहते हैं। कवि अपनी बातों को शब्दों के विशेष प्रयोग से सजाता था और कोई बात सामान्य ढंग से कहना सम्माननीय नहीं समझता था। उक्ति-चमत्कार द्वारा पाठकों के मन को आकृष्ट कर लेना कवि का अभीष्ट था। इसी कारण रीति-काल के काव्य में अलंकारों के प्रयोग की होड़-सी लग गयी। चाहे कवि रीति-ग्रन्थों की रचना करे, या रीति से प्रभावित होकर रचना करे या रीति से मुक्त-

काव्य की रचना करे, सभी में यह प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है। घनानंद जैसे प्रेम की सरल अभिव्यक्ति करने वाले कवि में भी यह विद्यमान है।

रीति-काव्य की तीसरी और अन्तिम प्रवृत्ति भावप्रधान यथार्थ जीवन के चित्रण की है और उसमें भक्तिकालीन संस्कारों—अलौकिकता, आध्यात्मिकता की अधिकता नहीं है। शृंगार और नायिका-भेद में जो वर्णन मिलते हैं, उनमें प्रत्यक्ष जीवन का अनुभव दिखायी पड़ता है और उसमें कोरी कल्पना या आदर्श नहीं नजर आता। उसमें जीवन्त यथार्थ है, मांसलता का आकर्षण है, यौवन की मादकता है और उसके वर्णन में कवियों ने चमत्कार दिखाया है। उसमें आदर्श की कमी है, जीवन का एक ही रूप है; एक ही पक्ष है, यह उसकी कमी, संकीर्णता और दुर्बलता है। लेकिन उस पक्ष के समस्त वैभव और विलास के चित्रण में उसने कलम तोड़ दी है। उसमें सौंदर्यानुभूति की जीवंतता है, सुरुचिपूर्ण सौकुमार्य है, कुल मिला कर वह रमणीय है और विलासिता के नाम से उसे निंदनीय कहना उसके प्रति अन्याय है।

रीति-काव्य का शास्त्रीय आधार—संस्कृत काव्य के पाँच संप्रदायों—ध्वनि, रस, अलंकार, रीति और वक्रोक्ति के आधार पर रीतिकालीन काव्य का निर्माण हुआ और उनका थोड़ा-बहुत अनुवाद भी हुआ। हिन्दी में विशुद्ध आचार्य नहीं हुए, जिन्होंने केवल काव्य का शास्त्रीय विवेचन किया हो। सभी आचार्य साथ-साथ कवि भी हैं। रीति-कवियों ने जयदेव के 'चंद्रालोक' तथा अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानंद' की लक्षण ग्रंथ रचना की प्रवृत्ति को अपनाया, जिसमें लक्षण और उदाहरण साथ-साथ दिये जाते हैं। इन सम्प्रदायों में से रीति और वक्रोक्ति हिन्दी में नहीं के बराबर हैं, ध्वनि-संप्रदाय के कुलपति मिश्र जैसे कुछ कवि-आचार्य हैं। शेष दो सम्प्रदाय—रस और अलंकार ही हिन्दी में अधिक प्रचलित हुए हैं।

रस के प्रथम कवि केशवदास (ग्रंथ—कवि-प्रिया, रसिक-प्रिया) हैं। तोष कवि ('सुधा-निधि' रचना-काल १६३७) तथा मतिराम ('रसराज'

रचना-काल १६१७) दोनों ख्याति-प्राप्त कवि हैं। दोनों में लक्षण महत्त्व-पूर्ण नहीं और कहीं-कहीं त्रुटिपूर्ण भी हैं। लेकिन उदाहरण दोनों में सरस हैं। देव (१६७३-१७६८) ने रस पर अनेक ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें अधिकतर श्रृंगार और नायिका भेद की ही चर्चा है। इनमें 'भाव-विलास' 'भवानी-विलास' और 'काव्य-रसायन' प्रमुख हैं।

अलंकार-सम्प्रदाय के प्रथम कवि भी केशवदास (कविप्रिय) ही हैं। वे मूलतः अलंकार-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। उनके उपरान्त राजा जस-वन्तसिंह (भाषाभूषण) प्रसिद्ध रहे हैं। मतिराम की प्रवृत्ति रस की ओर ही अधिक थी, लेकिन अलंकारों में भी वे (ललित-ललाम) दक्ष हैं। भूषण (शिवराज-भूषण) में यद्यपि वीर-रस की प्रधानता है, परन्तु उन्होंने भी अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दिये हैं।

कुछ कवि-आचार्यों ने किसी संप्रदाय विशेष का अनुगमन न कर, केवल काव्यशास्त्रीय लक्षण-ग्रन्थों की रचना की। इनमें रीति-काल के अन्तिम प्रसिद्ध कवि पद्माकर (१७५३–१८३३) (जगद्‌विनोद), भिखारीदास (काव्य-निर्णय—रचना-काल १७५० के लगभग), बेनी प्रबीन, ग्वाल आदि प्रमुख हैं। छन्द-शास्त्र पर भिखारी के 'छन्दार्णव पिंगल' जैसी कुछ ही रचाएँ हैं।

हिन्दी लक्षण-ग्रन्थ यद्यपि संस्कृत काव्य-शास्त्र की परम्परा में आते हैं, पर उनमें विचारों की मौलिकता या विवेचन की सूक्ष्मता नहीं दिखायी पड़ती। कवियों ने काव्य के सिद्धान्तों का उल्लेख तो किया है, परन्तु उनका विवेचन गंभीर शास्त्रीय ढंग से नहीं हुआ। कहीं-कहीं लक्षणों का त्रुटिपूर्ण वर्णन भी मिलता है। इसका कारण यही है कि कवियों का ध्यान शास्त्रीय विवेचन की अपेक्षा श्रृंगार रस के सरस उदाहरण प्रस्तुत करना मात्र था। उन काव्यों का उद्देश्य शास्त्र-ज्ञान-हीन दरबारियों का मनोरंजन करना था, जिन्हें काव्यशास्त्र से कोई मतलब ही नहीं था।

इन ग्रन्थों की दूसरी मुख्य विशेषता उनका श्रृङ्गार-रस विवेचन है।

रस के वर्णन में कवियों ने शृंगार, वह भी संयोग शृंगार को ही महत्त्व दिया। अलंकारों और छन्दों के उदाहरण में भी उन्होंने संयोग शृंगार के ही सरस उदाहरण प्रस्तुत किये। संस्कृत-काव्यशास्त्र के अन्य रसों और काव्य के हेतु, काव्य के गुण-दोष आदि अंगों पर उनका अधिक ध्यान नहीं गया। शृंगार-वर्णन के साथ शृंगार के अन्य उपकरणों का भी विस्तार में विवेचन हुआ है। आलंबन के वर्णन में नख-शिख वर्णन, नायिका भेद; उद्दीपन के संदर्भ में षट्ऋतु वर्णन, बारह मासा; संचारी भावों के संदर्भ में मार्मिक प्रसंगों की उद्भावना इन कवियों के विलक्षण वर्णन-वैचित्र्य की विशेषता हैं। शृंगार के विविध प्रसंगों का निर्माण कर उन्होंने उसके सूक्ष्म विश्लेषण में रसज्ञता का परिचय दिया है। इस प्रकार इस काव्य में प्रतिपाद्य विषय रसराज शृंगार का वर्णन ही है, काव्य-शास्त्र का विवेचन नहीं।

रीतिकाल की एक अन्य धारा लक्षणरहित काव्य की परम्परा है, जिसे 'रीति मुक्त काव्य' भी कहा जाता है। इन कवियों ने लक्षणों का विवेचन नहीं किया और न इनका आचार्यत्व का कोई दावा है। रीतिकाव्य की परम्परा के साथ यह एक स्वच्छंद धारा विकसित हुई, जिसने काव्य रसिकों को आप्लावित किया। यद्यपि इन कवियों में लक्षण-उदाहरण का कोई आग्रह नहीं है, फिर भी इन सबमें रीतिकालीन परंपरा का गहरा प्रभाव दिखायी पड़ता है इन सबमें आलंकारिक-चमत्कारिता और काव्य सौष्ठव दिखायी पड़ता है।

इन कवियों में बिहारीलाल (१६०३-१६६२ ई० 'सतसई') सर्वश्रेष्ठ हैं। ये जयपुर के महाराज जयशाह के दरबार में थे। इनकी 'सतसई' में ७१९ दोहे हैं और हर दोहा किसी-न-किसी अलंकार भाव आदि का उदाहरण जैसा है। मुक्तक रचना होते हुए भी उसमें अलंकार, शृंगार-रस, नायिका-भेद, ऋतुवर्णन आदि सब कुछ हैं। उनकी मुख्य विशेषता उनका उक्ति-वैचित्र्य है, जिससे उनका हर दोहा हम पर गहरा प्रभाव डालता है। सेनापति (१५८९ ई० कवित्त रत्नाकर) प्रकृति के कवि हैं। इनमें प्रकृति

उद्दीपन के रूप में नहीं है, बल्कि उसमें प्रकृति का सौंदर्य झलकता है। हर कवित्त में श्लेष का चमत्कार है और इसने रीति-काव्य को अतिशय प्रेरणा दी। 'कवित्त रत्नाकर' के दूसरे भाग में शृंगार, नख-शिख और वयः-संधि आदि का वर्णन है। मतिराम के भाई भूषण (१६१३-१७१५) वीर रस के कवि हैं। ये शिवाजी के मित्र और दरबारी कवि थे। इनका काव्य रीति-काव्य में अपवाद जैसा लगता है, क्योंकि उसमें शृंगार की नहीं, वीर रस की प्रधानता है और शिवाजी तथा छत्रसाल जैसे राजाओं के विद्रोह और वीरतापूर्ण संघर्ष का चित्रण है। फिर भी, इनमें रीति काव्य का गहरा प्रभाव दिखायी पड़ता है। इनका 'शिवराज भूषण' अलंकार का लक्षण ग्रंथ है। घनानंद (१६५८) विशुद्ध प्रेमी, भक्त और कवि थे। इन्होंने काव्य के बाह्य विधान की ओर कोई ध्यान नहीं दिया और 'सुजान सागर' में कृष्ण के प्रति भक्ति-भाव-पूर्ण पदों की रचना की। फिर भी इनकी रचना में आलंकारिक चमत्कार तथा शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का ऐसा दक्षतापूर्ण वर्णन है कि उन पर रीति-परम्परा का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

रीति-काव्य की भाषा-शैली : रीति काल के काव्य की मुख्य विशेषता अलंकार की है और यह अलंकार समान रूप से वस्तु वर्णन और भाषा दोनों में प्रकट होता है। इस काल का कवि भाषा के प्रयोग के संबंध में अधिक सजग है। वर्णमैत्री, अनुप्रासत्व, ध्वन्यात्मकता, शब्दगति, शब्दशोधन, अनेकार्थकता, व्यंग्य, शब्दालंकारों का प्रयोग इन सबकी प्रचुरता इस काव्य में पायी जाती है। इस धारा का अधिकांश काव्य व्रजभाषा में ही लिखा गया। अतः इन कवियों के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप हम व्रजभाषा में एक विशेष निखार, प्रांजलता एवं माधुर्य का समावेश देखते हैं। इस युग की भाषा में एक विशिष्ट विदग्धता, प्रौढ़ता तथा सरसता का संचार है।

यद्यपि कृष्ण-भक्ति की ही तरह रीति-काव्य में भी अधिकतर राधा और कृष्ण के प्रेम का वर्णन है और ये छिटपुट पदों में ही वर्णित हैं, फिर

भी यहाँ गेय पदों का अभाव है और छंदबद्ध रचना का विशेष आग्रह दिखायी पड़ता है। कवियों ने सवैया, कवित्त, छप्पय, दोहा आदि छंदों का प्रमुखता से प्रयोग किया है। इन भावों के क्रमिक चित्रण तथा प्रबंधात्मकता के अभाव में हर छंद अपने में एक पूर्ण चित्र उपस्थित करता है और शृंगार का एक मधुर प्रसंग सामने आ जाता है। बिहारी के बारे में उल्लेख्य है कि उनका हर दोहा भावों की व्यंजना में इतना अधिक सफल है कि कहा जाता है कि उन्होंने 'गागर में सागर' भर दिया है।

रीतिकालीन कवियों ने मुख्य रूप से ब्रजभाषा को ही काव्य का माध्यम बनाया। फिर भी ब्रजभाषा के किसी मानक रूप का निखार नहीं हो पाया। भक्तिकाल की अपेक्षा रीतिकाल के कवियों ने शब्द के प्रयोग में अधिक स्वतन्त्रता का उपयोग किया। कई नये, प्रान्तीय शब्दों के प्रयोग के साथ उन्होंने ब्रज के प्रचलित शब्दों के रूप को भी तोड़ा-मरोड़ा। लेकिन इसमें संदेह नहीं है कि भाषा उनके हाथ में मँजी-सँवरी हुई निखरती है और उसमें इठलाता हुआ सौंदर्य दिखायी पड़ता है। वे अधिकार के साथ और आत्मविश्वास से उसका उपयोग करते हैं और उसकी मस्त गति में संगीत भर देते हैं। भाषा प्रयोग की दृष्टि से बिहारी, मतिराम, पद्माकर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

मध्यकालीन काव्य-भाषा

ध्वनि-परिवर्तन की ऐतिहासिक प्रक्रिया तथा व्याकरणिक विश्लेषण

भाषा 'बहता नीर' है। उसकी उच्चारण-प्रक्रिया में तथा व्याकरणिक संरचना में सतत् परिवर्तन होते रहते हैं। सामाजिक विकास के साथ-साथ ऐतिहासिक शक्तियों के दबाव से ये परिवर्तन इतने सूक्ष्म होते हैं कि भाषा-व्यवहार में वे वक्ता और श्रोताओं के द्वारा सामान्यतः परिलक्षित नहीं हो पाते। वर्तमान हिन्दी-भाषा-संस्कृत-काल से लेकर आज तक अनेक ऐतिहासिक परिवर्तनों से गुजरी है, मध्यकाल उस परिवर्तन-प्रक्रिया का एक सोपान है। मध्यकालीन काव्य-भाषा अपने ध्वन्यात्मक रूप और व्याकरणिक संरचना में हिन्दी के वर्तमान रूप से काफी भिन्न है। जिन लोगों की मातृभाषा हिन्दी है, जिसमें आंचलिक रूप में सम्मिलित हैं, उन्हें मध्यकालीन काव्य-भाषा को समझने में उतनी कठिनाई अनुभव नहीं होती जितनी उन विद्यार्थियों को जो हिन्दी और उसकी आंचलिक बोलियों से अल्प परिचित हैं। हिन्दी-भाषी क्षेत्रों के आंचलिक परिवेश में हिन्दी का मध्यकालीन रूप आज भी काफी हद तक सुरक्षित है। अतः मध्यकालीन काव्य का सम्यक् अनुशीलन करने के लिए उसकी ध्वनि-परिवर्तन की प्रक्रिया और व्याकरणिक संरचना को समझ लेना आवश्यक है।

(क) म० का०-भा० की ध्वनि-परिवर्तन की ऐतिहासिक प्रक्रिया

संस्कृत भाषा-काल से मध्यकालीन काव्य-भाषा-काल तक पहुँचने तक लोक-भाषा हिन्दी एक दीर्घ परिवर्तन-प्रक्रिया से गुजर चुकी थी।

यह परिवर्तन संस्कृत—पाली—प्राकृत—अपभ्रंश—मध्यकालीन लोक-भाषा क्रम से हुआ था। आधुनिक युग की प्रवृत्ति दूसरी है। राष्ट्रभाषा अथवा संपर्क भाषा के रूप में तथा ज्ञान-विज्ञान, प्रशासन की वाहिका के रूप में हिन्दी के जिस रूप का निर्माण किया जा रहा है उसमें लोक-प्रयुक्त भाषा के स्थान पर संस्कृत-निष्ठ भाषारूप को स्वीकार किया जा रहा है। उसका शब्द-कोष सीधा संस्कृत से अथवा संस्कृत के तत्सम शब्दों के आधार पर निर्मित किया जा रहा है। अतः आज का हिन्दी-साहित्य का विद्यार्थी हिन्दी के मध्यकालीन रूप से दूर हटता जा रहा है। मध्यकालीन कवियों ने संस्कृत के तत्सम शब्दों के स्थान पर तद्भव शब्दों को स्वीकार किया है। इस तद्भवीकरण की प्रक्रिया को मोटे तौर से अधोलिखित ध्वनिपरिवर्तन के नियमों के द्वारा समझा जा सकता है—

२. मध्यकालीन काव्य-भाषा में श और 'ष' का प्रयोग बहुत कम मिलता है। परिवर्तन की प्रक्रिया यह है—

श्	स्,	शिव—सिव
ष्	स्, ख्, ह्	विशेष—बिसेस
		पाषंड—पाखंड
		पुष्प—पुहुप

(२-१) इसी प्रकार अर्ध-श्रुति 'व', 'य' व्यंजनों में परिवर्तित हो जाते हैं—

व्	ब्	वन—बन
य्	ज्	यमुना—जमुना
		योग—जोग

(२-२) संयुक्त व्यंजन के रूप में प्रयुक्त रेफ का या तो लोप हो जाता है या फिर स्वरागम के द्वारा उसे असंयुक्त कर दिया जाता है—

लोप = प्रन	पन
प्रिय	पिय

अन्यत्र	अनत
त्रिभुवन	तिभुवन
स्वरागम = प्रपंच	परपंच
धर्म	धरम
कर्म	करम
कर्ता	करता

(२-३) संयुक्त व्यंजन के रूप में प्रयुक्त 'य' श्रुति का प्रायः लोप हो जाता है—

स्यंदन	संदन
अन्यत्र	अनत
माणिक्य	मानिक
असाध्य	असाधि
व्यभिचारी	बिभचारी
व्यथा	बिथा

(२-३) संयुक्त व्यंजन के रूप में प्रयुक्त 'व' श्रुति का भी प्रायः लोप हो जाता है—

स्वभाव	सुभाव—सुभाउ
स्वतन्त्र	सुतंत्र
विश्वासी	बिसासी

(२-४) शब्दान्त में प्रयुक्त 'य' और 'व' श्रुतियों का संयुक्त व्यंजन के रूप में प्रयुक्त न होने पर भी लोप हो सकता है—

(स्त्री) तिय	तिअ—ती
देव	देउ
भाव	भाउ

(२-५) शब्दान्त तथा शब्द-मध्य की स्थिति में 'ल' का 'र' में परिवर्तन हो सकता है—

काली	कारी
विकराल	बिकरार
फलाहार	फरहार
मूल	मूर

(२-६) शब्दान्त अथवा शब्द-मध्य में अघोष व्यंजन अपने वर्ग के सघोष व्यंजन में परिवर्तित हो सकते हैं—

क्	ग्	प्रकट—प्रगट, काक—काग, विकसित—बिगसित, युक्ति—जुगति
त्	द्	कातर—कादर—कायर

(२-७) व्यंजन गुच्छ 'क्ष्' (क्+श्), 'त्र्' (त्+र्) तथा ज्ञ् (ज्+ञ्) को मध्यकालीन भाषा स्वीकार नहीं करती। इनका परिवर्तन या तो एक ही स्थान से उच्चरित होने वाले व्यंजन गुच्छ में जाता है या फिर उनका एकाकी व्यंजन में परिवर्तन हो जाता है—

क्ष्	क्ख्	लक्ष्मण—लक्खन
	ख्	लषन—लखन—लछिमन
	च्छ्	लक्षण—लच्छन
	छ्	क्षीर—छीर, खीर
त्र्	त्	त्रिभुवन—तिभुवन
ज्ञ्	ग्यं—ग्य्—य्	आज्ञा—आग्या
	ज्	ज्ञान—ग्यांन—ग्यान
		अज्ञानी—अजानी—अयानी
		ज्ञानिशिरोमणि—जान-सिरोमनि

(२-८) 'ऋ' स्वर केवल व्यंजन से संयुक्त रूप में तो मिल सकता है अन्यथा वह प्रायः परिवर्तित हो जाता है—

ऋ	रि	ऋषि—रिषि
	—	ऋद्धि—रिधि

(२·९) मध्यकालीन भाषा शब्दारम्भ में भिन्न स्थानीय व्यंजन-गुच्छों 'स्त', 'स्न' तथा 'स्थ' को प्रायः स्वीकार नहीं करती। उनके पहले या तो स्वरागम हो जाता है या 'स्' का लोप हो जाता है--

स्वरागम =	स्त्	अस्त्	स्तुति—अस्तुति
	स्न	अस्न्	स्नान—अस्नान
	स्थ्	अस्थ्	स्थान—अस्थान
लोप =	स्त्	त्	स्त्री—त्रिय—तिय—ती
	स्न	न्	स्नान—नहान
	स्थ्	थ्	स्थान—थान

(२-१०) शब्द-मध्य की स्थिति में संयुक्त व्यंजन 'त्स' भी परिवर्तित हो जाता है—

त्स्	च्छ्	मत्सर—मच्छर
		वत्स—वच्छ
	छ्	उत्साह—उछाह
		उत्संग—उछंग

(२-११) शब्द-मध्य की स्थिति में प्रयुक्त संयुक्त व्यंजन 'ष्ट' तथा 'ष्ठ' भी परिवर्तित हो जाते हैं—

ष्ट्	ट्	दृष्टि—दीटि, दंष्ट्र—दाढा, मुष्टि—मूटि
ष्ठ	,,	पृष्ठ—पीठ

(२-१२) भिन्न स्थानों से उच्चरित होने वाले व्यंजनों का संयुक्त रूप स्वरागम के द्वारा असंयुक्त रूप में परिवर्तित हो जाता है—

क्त	कत	मुक्ता—मुकता
घ्न्	घन्	विघ्न—विघन
ल्क्	लक्	वल्कल—वलकल

(२-१३) शब्दान्त की स्थिति में 'ष्ट' की संयुक्त ध्वनि 'ष्ठ' में परिवर्तित हो जाती है—

वशिष्ठ	बसिष्ट
विष्ठा	बिस्टा

(२-१४) सघोष महाप्राण व्यंजन मध्य अथवा अन्त्य स्थिति में केवल 'ह' में शेष रह जाते हैं—

भ्	ह्	*लाभ—लाह
		सौभाग्य—सोहाग—सुहाग
ध्	,,	क्रोध—कोह

(२-१५) 'य' श्रुति से संयुक्त सघोष महाप्राण व्यंजन 'ध', सघोष महाप्राण 'झ' में परिवर्तित हो जाता है--

संध्या	साँझ
मध्य	माँझ—माँह

(२-१६) शब्दारम्भ के अतिरिक्त सघोष व्यंजन 'ह' कभी-कभी सघोष 'घ' में परिवर्तित हो जाता है। परिवर्तन की स्थिति में पूर्व-व्यंजन में आनुनासिकता होना अनिवार्य है—

सिंह	सिंघ
सिंहल	सिंघल

(२-१७) शब्दान्त का 'थ' कभी-कभी 'ह' में परिवर्तित हो जाता है—

नाथ	नाह

(२-१८) उच्चारण-सुकरता अथवा श्रुति-मधुरता के कारण वर्त्स्य 'ट' और 'ड' की परिणति मध्य तथा अन्त्य स्थिति में 'र' में हो जाती है--

लड़ाई	लराई
लड़का	लरिका
कोटि	कोरि
कटु	करु

(२-१९) मध्यकालीन काव्य-भाषा में ह्रस्व तथा दीर्घ स्वरों के परिवर्तन में काफी स्वच्छन्दता बरती गयी है और शब्दान्त के अ—आ,

इ–ई, उ–ऊ में ह्रस्व से दीर्घ तथा दीर्घ से ह्रस्व में परिवर्तन किया गया है।

(२-२०) मध्यकालीन काव्य-भाषा में 'य' और 'व' श्रुतियों के स्थान पर क्रमशः 'इ', 'उ' का तथा 'इ', 'उ' के स्थान पर 'य', 'व' का परिवर्तन भी देखा जाता है।

(२-२१) मध्यकालीन कविता में उच्चारण-सुकरता तथा श्रुति-मधुरता का बहुत ध्यान रखा गया है। भक्त तथा रीतिकालीन कवि माधुर्य-भाव के उपासक थे। इन्होंने शान्त-रस, वात्सल्य तथा संयोग और विप्रलम्भ शृंगार का जितना चित्रण किया है उतना वीर, रौद्र आदि कठोर रसों का नहीं किया। इसका प्रभाव उनकी भाषा पर यह पड़ा है कि वह माधुर्य, सुकुमारता, कोमलता के साँचे में ढल गयी है। कोमलता लाने की इस प्रक्रिया में व्यंजना-ध्वनियाँ प्रायः कोमल स्वरों में परिवर्तित हो गयी हैं। जैसे—

हृदय—हियउ, हिय
प्रसाद—पसाउ
वचन—बयन, बैन
लोचन—लोयन
राजा—राउ, राय
मृगाङ्क—मयंक

मध्यकालीन काव्य-भाषा की ध्वनि-परिवर्तन-प्रक्रिया का हमने जो सर्वेक्षण किया उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का तद्भवीकरण में उच्चारण की सुकरता एक प्रमुख तत्त्व है। लोक-रुचि सुकरता की ओर सदैव रहती है। ध्वनि-परिवर्तन की प्रक्रिया प्राकृत तथा अपभ्रंश-काल से गुजर कर मध्यकाल की लोकभाषा तथा साहित्यिक भाषा के रूप मे विकसित हुई है। आधुनिक हिन्दी लोक-प्रयुक्त हिन्दी के स्थान पर संस्कृतनिष्ठ हिन्दी

के रूप में विकसित हो रही है, जो समय की माँग है। अधिकांश भारतीय भाषाएँ या तो संस्कृत से विकसित हुई हैं या संस्कृत का उन पर काफी प्रभाव है अतः सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी को सर्वमान्य बनाने के लिए उसका संस्कृतनिष्ठ होना ही वांछनीय है।

(ख) व्याकरणिक विश्लेषण

मध्यकालीन हिन्दी और आधुनिक हिन्दी की व्याकरणिक संरचना में मौलिक अन्तर न होते हुए भी अन्तर अवश्य है। वर्तमान हिन्दी विकास के एक नये सोपान से गुजर चुकी है। वाक्य-संरचना के जिन निर्णायक तत्त्वों का प्रयोग मध्यकालीन भाषा में होता था उनमें से बहुत से लुप्त हो चुके हैं, कुछ के रूपों में ध्वनि-परिवर्तन हो चुका है तथा शेष अब भी ज्यों-के-त्यों प्रयुक्त हो रहे हैं। इसी प्रकार क्रिया-रूपों में भी परिवर्तन हो चुका है। आज की हिन्दी की काल-रचना में सहायक क्रियाओं का जितना अधिक प्रयोग हो रहा है उतना मध्यकालीन हिन्दी में नहीं होता था। नामधातुओं का प्रयोग आंचलिक हिन्दी में तो आज भी सुरक्षित है किन्तु परिनिष्ठित हिन्दी में प्रायः लुप्त हो चुका है। प्रस्तुत विश्लेषण इस अन्तर को ध्यान में रखकर प्रस्तुत किया जा रहा है।

मध्यकालीन काव्य-भाषा का व्याकरणिक विश्लेषण अधोलिखित आठ शीर्षकों में विभक्त करके किया जा रहा है—(१) संज्ञा, (२) सर्वनाम, (३) विशेषण, (४) क्रिया, (५) क्रिया-विशेषण, (६) सम्बन्ध-बोधक अव्यय, (७) समुच्चयबोधक अव्यय तथा (८) विस्मयादिबोधक अव्यय।

मध्यकालीन काव्य-भाषा में छन्दानुरोध से ह्रस्व-दीर्घ स्वरों का परिवर्तन स्वच्छन्दतापूर्वक किया गया है। उसमें कोई व्याकरणिक नियम का विचार नहीं किया गया। शब्दान्त में यह परिवर्तन अधिक हुआ है। प्रस्तुत अध्ययन में इस परिवर्तन को अव्याकरणिक मानकर, छोड़ दिया गया है।

संस्कृत के शब्दों का मध्यकालीन हिन्दी में जो ध्वनि-परिवर्तन हुआ है उसका सामान्य उल्लेख ध्वनि-परिवर्तन की ऐतिहासिक प्रक्रिया के अन्तर्गत किया जा चुका है। प्रस्तुत अध्ययन में लिंग, वचन, कारक तथा विभक्ति-प्रत्ययों का विवेचन प्रस्तुत है।

लिङ्ग

मध्यकालीन और आधुनिक हिन्दी की लिङ्ग-व्यवस्था समान है। आधुनिक हिन्दी के समान मध्यकालीन हिन्दी में भी व्याकरणिक लिंग दो ही हैं—पुंल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग। इन्हीं दो में समस्त संज्ञा, सर्वनाम तथा विशेषण पद विभक्त हैं। अप्राणिवाचक वस्तुओं के लिंग-निर्णय में अनेक तत्त्व काम करते हैं। आगत शब्दों का लिंग-निर्णय प्रायः उस भाषा के आधार पर किया गया है जिसमें से वे उधार लिये गये हैं। यदि आगत भाषा का कोई शब्द हिन्दी के मूल शब्द का पर्याय है तो उसका लिङ्ग-निर्धारण मूल शब्द के लिंग के आधार पर हुआ है। ईकारान्त शब्दों को प्रायः स्त्रीलिंग वर्ग में रखा गया है। संस्कृत के कुछ शब्दों का हिन्दी में लिंग-परिवर्तन भी ऐतिहासिक कारणों से हुआ है। और बहुत से शब्द ऐसे हैं जो संस्कृत में पुंल्लिङ्ग माने गये थे; किन्तु मध्यकालीन हिन्दी में उनका प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में हुआ है, इसका विलोम भी मिलता है। कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनका प्रयोग मध्यकालीन हिन्दी में एक लिंग में होता था तो भाषा की ऐतिहासिक परिवर्तन की प्रक्रिया में उनका लिंग आज बदल गया है। उदाहरण के लिए 'इतिहास' और 'प्रश्न' संज्ञा-पद 'रामचरितमानस' में स्त्रीलिंग में प्रयुक्त हुए हैं जब कि वर्तमान हिन्दी में वे पुंल्लिङ्ग हैं। प्रस्तुत अध्ययन में अपवादों को छोड़कर केवल सामान्य बातों का उल्लेख किया जाता है।

पुंल्लिङ्ग से स्त्रीलिंग बनाने में शब्दान्त में 'इ' स्वर का प्रयोग जिस प्रकार आधुनिक हिन्दी में किया जाता है वैसे ही मध्यकालीन हिन्दी में

भी हुआ है: किन्तु यह प्रवृत्ति जितनी मध्यकालीन भाषा में मिलती है उतनी आधुनिक भाषा में नहीं। उदाहरण के लिए अधोलिखित शब्द मध्यकाल और आधुनिक युग में स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होते हैं; किन्तु मध्यकालीन भाषा में जहाँ वे इकारान्त थे वहाँ आधुनिक हिन्दी में अकारान्त रूप में प्रयुक्त होते हैं—

खबरि—खबर

जरि—जड़

मूरि—मूल

पीठि—पीठ

इसी प्रकार विशेषण और विशेष्य में स्त्रीलिंग पदों में रूपसाम्य के नियम का कड़ाई से पालन किया जाता था, आधुनिक हिन्दी में उसका प्रायः लोप हो गया है; जैसे—'सुन्दरि नारि' के स्थान पर 'सुन्दर नारियाँ' का आधुनिक हिन्दी में प्रयोग होता है।

वचन

(१) आधुनिक हिन्दी में एकवचन से बहुवचन बनाने में 'ओं' अथवा 'यों' का प्रयोग संज्ञाओं के तिर्यक् रूप में होता है। इसके स्थान पर मध्यकालीन हिन्दी में 'न्हि', 'न्ह' (अवधी), 'नि' तथा 'न' (ब्रज) का प्रयोग हुआ है। प्रथमा विभक्ति को छोड़कर शेष सभी विभक्तियों में दोनों लिङ्गों में उक्त प्रत्यय लगते हैं। जैसे—

अखारा—अखारेन्ह (अखाड़ों में)

अनुज—अनुजन्ह (अनुजों को)

आश्रम—आश्रमन्हि (आश्रमों में)

आसन—आसनन्हि (आसनों पर)

द्विज—द्विजन, द्विजन्ह (द्विजों के साथ)

माता—मातन्ह (माताओं से)

वधु—वधुन्ह (वधुओं के साथ)

देवता—देवतन्हि, देवतन्ह (देवताओं को)

कमल—कमलनि, कमलन्हि (कमलों में)

सासु—सासुन्ह (सासों से)

बालक—बालकन्ह, बालकन्हि (बालकों को)

उपर्युक्त प्रयोगों में आकारान्त संज्ञा, चाहे वह स्त्रीलिङ्ग हो अथवा पुंल्लिङ्ग, 'न्ह' अथवा 'न्हि' प्रत्ययों के जुड़ने पर या तो अकारान्त हो गयी है (मातन्ह, देवतन्हि, देवतन्ह) या कोमल एकारान्त हो गयी है (अखारेन्ह)। 'न्ह' अथवा 'न्हि' प्रत्यय बहुवचन में केवल तिर्यक् रूप को सूचित करते हैं उनका सम्बन्ध किसी विभक्ति विशेष से नहीं है। उदाहरण के लिए 'रामचरितमानस' के अधोलिखित रूप द्रष्टव्य हैं—

(क) देइ देवतन्ह गारि पचारी ॥—१।१८२।८ (देवताओं को)

(ख) इहाँ देवतन्ह अस्तुति कीन्ही ॥—६।८६।५ (,, ,, ने)

(ग) अस्तुति करत देवतन्हि देखे ॥—६।९७।५ (,, ,, को)

(घ) नाना खग बालकन्हि जिआए ॥—७।२८।४ (बालकों ने)

(ङ) मातु-पिता बालकन्हि बोलावहिं ॥—७।९९।८ (,, को)

(च) खेलत तहूँ बालकन्ह मीला ॥—७।११०।४ (,, में)

'न' तथा 'न्ह' में और 'नि' तथा 'न्हि' में कोई व्याकरणिक भेद नहीं है। अवधी के 'न्ह' और 'न्हि' ब्रजभाषा में महाप्राण व्यंजन 'ह' के लोप से 'न' तथा 'नि' रह गये हैं। 'रामचरितमानस' अवधीप्रधान है; किन्तु ब्रजभाषा का भी उसमें प्रचुर प्रयोग हुआ है। अधोलिखित उद्धरणों में यह बात स्पष्ट परिलक्षित होती है—

ब्रजभाषा—(क) आए द्विजन सहित नृप द्वारा ॥—१।१९३।७ (द्विजों के साथ)

अवधी—(ख) सकल द्विजन्ह मिलि नाएउ माथा ॥—७।५।५ (द्विजों से)

(ग) बैठे राम द्विजन्ह सिरु नाई ॥—७।१२।२ (द्विजों को)

(घ) बेदमंत्र तब द्विजन्ह उचारे ॥—७।१२।४ (द्विजों ने)

(ङ) द्विजन्ह दान नाना विधि पाए ॥—७।१५।१०
(द्विजों ने)

(च) दान अनेक द्विजन्ह कहँ दीन्हे ॥—७।२४।१
(द्विजों को)

(छ) सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना ॥—७।९९।२
(द्विजों को)

(ज) बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन ॥—७।९९। ख (द्विजों से)

व्रजभाषा—(क) सोहहिं कर कमलनि धनु तीरा ॥—२।११५।८
(कमलों में)

(ख) कर कमलनि धनु सायक फेरत ॥—२।२३९।८
(कमलों में)

अवधी— (ग) पुनि नभ सर मम कर निकर कमलन्हि करि बास ॥
—६।२२। ख (कमलों पर)

(घ) मनहुँ कमलन्हि बसे निसि मधुकरा ॥—६।९८
(कमलों में)

(२) आधुनिक हिन्दी में संज्ञाओं के सरल रूप में (प्रथमा विभक्ति में) एकवचन और बहुवचन का एक ही रूप रहता है। दोनों वचनों में शून्य प्रत्यय जुड़ा रहता है। ऐसे प्रयोगों में वचन की सूचना क्रियारूप से मिलती है। मध्यकालीन हिन्दी में भी वही स्थिति है। जैसे—

(क) बालक पढ़ता है—बालक पढ़हि, पढ़इ।

(ख) बालक पढ़ते हैं—बालक पढ़हिं। पढ़इ।

पहले वाक्य में 'बालक' कर्त्ताकारक एकवचन में है तथा दूसरे वाक्य में 'बालक' कर्त्ताकारक बहुवचन में है। एक और बहुवचन की सूचना 'पढ़ता है' तथा 'पढ़ते हैं' अथवा 'पढ़इ', 'पढ़हि' या 'पढ़हिं', 'पढ़इँ' से मिलती है। 'बालक' दोनों वचनों में शून्य प्रत्यान्त कर्त्ता-कारक है।

(३) आधुनिक हिन्दी में स्त्रीलिङ्ग संज्ञापदों को कर्त्ताकारक में एकवचन से बहुवचन बनाने में 'याँ' प्रत्यय जुड़ता है: किन्तु मध्यकालीन हिन्दी में पदान्त व्यंजन को आनुनासिक कर दिया जाता है, जैसे—

एकवचन	बहुवचन	मध्यकालीन रूप
नदी	नदियाँ	नदीं
नारी	नारियाँ	नारीं
सुन्दरी	सुन्दरियाँ	सुन्दरीं

मध्यकालीन भाषा के ब्रज बोली के रूप में जिसका विकास अवधी के पश्चात् हुआ है, 'याँ' प्रत्यय वाला रूप भी मिलता है; जैसे—छाती—छतियाँ।

(४) प्रथमा विभक्ति में अकारान्त संज्ञाओं को एकवचन से बहुवचन बनाने में अ>एँ, आ>ए का ध्वनि-परिवर्तन आधुनिक तथा मध्यकालीन हिन्दी में समान रूप से होता है। जैसे—

बात—बातें
बेड़ा>बेरा—बेरे
रेख—रेखें
निमेष—निमेषें

धातुमूलक संज्ञापदों में जिन्हें कर्तृवाचक संज्ञा कहा जाता है, 'वाला' तथा 'वाले' प्रत्यय क्रमशः एकवचन और बहुवचन में जुड़ते हैं। मध्यकालीन हिन्दी में 'वाला', 'वाले' के स्थान पर 'वार' तथा 'हार' प्रत्यय मिलते हैं जिनका बहुवचन 'वारे' तथा 'हारे' हो जाता है। जैसे—

धातु—कर्तृवाचक एकव० । कर्तृवाचक बहुव० = मध्यकालीन रूप
मर्—मरनेवाला—मरनेवाले—मरनहार—मरनहारे
मेट्—मेटनेवाला—मेटनेवाले—मेटनहार—मेटनहारे
रख्—रखवाला—रखवाले—रखवार—रखवारे

(५) प्रथमा विभक्ति में नकारान्त संज्ञापदों को एकवचन से बहुवचन बनाने में ह्रस्व अथवा दीर्घ 'अ' स्वर को 'ए' कर दिया जाता है। जैसे—

एकवचन	बहुवचन
पाहुन	पाहुने
बाजन	बाजने
बधावा	बधाए

कारक

मध्यकालीन और आधुनिक हिन्दी की कारक-व्यवस्था समान है। दोनों में कारक-प्रत्ययों के द्वारा वचन-संयुक्त कारकों की सूचना मिलती है। कारक-प्रत्ययों में परसर्गों के साथ-साथ क्रियाविशेषण अव्यय पदों का भी प्रयोग होता है। कारक-प्रत्ययों का अध्ययन अधोलिखित है—

(१) आधुनिक हिन्दी के समान मध्यकालीन हिन्दी में भी कर्त्ता कारक के एकवचन में शून्य प्रत्यय का प्रयोग होता है। एकवचन से बहुवचन बनाने के नियम का उल्लेख वचन-प्रकरण में किया जा चुका है। आधुनिक हिन्दी में कुछ शारीरिक क्रियाओं की सूचना देने वाले क्रियापदों तथा सकर्मक क्रियापदों के सामान्य भूतकाल में कर्त्ताकारक में 'ने' परसर्ग का प्रयोग होता है। मध्यकालीन भाषा में इस नासिक्य ध्वनि व्यंजन 'ने' का तो प्रयोग नहीं मिलता; किन्तु 'ने' के स्थान पर जिन प्रत्ययों का प्रयोग मिलता है उनमें यह नासिक्य ध्वनि अवश्य मिलती है जैसे—सामान्य भूतकाल में संज्ञापदों के साथ प्रयुक्त होने वाले प्रत्यय 'न्ह' तथा 'न्हि' में 'न्' ध्वनि विद्यमान है। यह संज्ञापदों का तिर्यक् रूप है जिसका प्रयोग कर्त्ताकारक में कभी नहीं होता। मध्यकालीन हिन्दी में सकर्मक क्रिया के सामान्य भूतकाल के कर्त्तापदों के साथ-शब्दान्त में आनुनासिक वर्ण का प्रयोग होता है। इन प्रयोगों में

क्रिया का लिंग और वचन कर्म का अनुसरण करता है जैसा कि 'ने' के प्रयोग वाले वाक्यों में देखा जाता है। अतः मध्यकालीन हिन्दी के आनुनासिक्यान्त संज्ञापदों को 'ने' परसर्गयुक्त संज्ञापदों के समकक्ष माना जा सकता है, जैसे—

(क) प्रेम समेत रायँ सबु लीन्हा ॥—१।३०६।३ (राजा ने सब लिया)

(ख) तब सीताँ पूजी सुरसरी ॥—६।१२१।८ (तब सीता ने सुरसरि पूजी)

मध्यकालीन हिन्दी के उत्तरार्ध में उपर्युक्त आनुनासिक प्रयोग लुप्त हो चुका था और आधुनिक हिन्दी में भी वह नहीं मिलता।

(२) द्वितीया विभक्ति के एकवचन में जहाँ आधुनिक हिन्दी में शून्य प्रत्यय का प्रयोग होता है वहाँ मध्यकालीन हिन्दी में भी वैसा ही रूप मिलता है; जैसे—

सीता लखन राम फल खाए॥—(सीता राम लक्ष्मण ने फल खाए।)

किन्तु आधुनिक हिन्दी की द्वितीया विभक्ति के परसर्ग 'को' के स्थान पर मध्यकालीन हिन्दी में 'हि' प्रत्यय का प्रयोग होता है; जैसे—

(क) गोपालहि माखन खान दै ॥—(गोपाल को माखन खाने दे।)

(ख) रामहि केवल प्रेम पियारा ॥—(राम को केवल प्रेम प्यारा है।)

द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में 'हि' का 'न्ह' हो जाता है, जैसे—

सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना ॥—(शूद्र द्विजों को ज्ञान का उपदेश देते हैं।)

(३) तृतीया विभक्ति में 'न्ह' का प्रयोग सामान्य भूतकाल की सकर्मक क्रियाओं के साथ होता है; जैसे—

मिली सकल सासुन्ह सिय जाई ॥ (सीता जाकर सब सासों से मिलीं।)

तृतीया विभक्ति की सूचना कभी शब्दान्त की आनुनासिक ध्वनि से भी मिलती है; जैसे—

कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरें। असि परितीति तजहु जनि भोरें॥
भोरें = भूल से।

आधुनिक हिन्दी में संज्ञापदों के आगे 'से' परसर्ग का प्रयोग तृतीया विभक्ति की सूचना में होता है; किन्तु मध्यकालीन हिन्दी में 'से' का प्रयोग समानतासूचक अर्थ में होता है; जैसे—

तुलसी कहूँ न राम से साहिब सील निधान ॥—(राम के समान शीलनिधान साहब कहीं नहीं हैं)

मध्यकालीन हिन्दी में आधुनिक हिन्दी के 'से' के समकक्ष परसर्ग 'सैं', 'सन', 'सों', 'तें' तथा 'पहिं' हैं। मध्यकालीन भाषा का आधुनिक भाषा में रूपान्तरण करने पर उपर्युक्त सभी परसर्गों के स्थान पर 'से' का प्रयोग किया जायगा। प्रयोग अधोलिखित हैं—

सैं—(क) गीधराज सैं भेंट भइ ॥—३।१३ (गीधराज से भेंट)
(ख) कतहुँ होइ निसिचर सैं भेंटा ॥—४।२४।१ (निशिचरों से भेंट)

सों—(क) नाथ बयरु कीजे ताही सों। बुधिबल सकिय जीति जाही सों ॥—६।६।५
ताही सों = उसी से, जाहीं सों = जिससे।

सन—(क) सो मो सन कहि जाति न कैसें ॥—१।३।१२ (मुझसे)

पहिं—(ख) मो पहिं होइ न प्रति उपकारा ॥—८।११५।४ (मुझसे)
नहिं सारद पहिं जाहिं बखाने ॥—१।३०१।८ (सारदा से)

तें—(क) बचनु मोर प्रिय मानहु जी तें ॥—२।२२।२ (जी से)
मोरें मत बड़ नाम दुहू तें ॥—१।२२।३ (दोनों से)

उपर्युक्त परसर्गों का प्रयोग अवधी तथा व्रजभाषाओं में सामान्य-रूप से पाया जाता है। कहीं 'करि' परसंर्ग से भी तृतीया की सूचना मिलती है; किन्तु यह प्रयोग प्रचलित नहीं है। 'मानस' के एक-दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

करि—(क) जिअत राम बिधु बदन निहारा। राम बिरह करि मरनु सँवारा ॥—१।१५१।२

(ख) परे भूमि नहिं उठत उठाए। बर करि कृपा-सिंधु उर लाए ॥—८।५२।८

राम बिरह करि = राम के विरह से
बर करि = बल से, बलपूर्वक

(४) चतुर्थी विभक्ति का अपभ्रंश-काल से ही लोप होना प्रारम्भ हो गया था। मध्यकालीन हिन्दी में भी उसका कोई पृथक् प्रत्यय नहीं है। द्वितीया के प्रत्यय तथा चतुर्थी के प्रत्यय समान हैं। चतुर्थी विभक्ति की सूचना अधोलिखित परसर्गों से भी मिलती है—

कहुँ—(क) हरि हर पद रति मति न कुतरकी। तिन्ह कहुँ मधुर कथा रघुबर की—१।९।६

तिन्ह कहुँ = उनके लिए

(ख) चहूँ चतुर कहुँ नाम अधारा ॥—१।२२।७

चहूँ चतुर कहुँ = चारों चतुरों को नाम ही आधार है।
= चारों चतुरों के लिए नाम ही आधार है।

व्रजभाषा में 'कहुँ' घिस कर 'कौं' हो गया है और आधुनिक हिन्दी में 'कौं' के स्थान पर 'को' का प्रयोग होता है। 'को' का प्रयोग द्वितीया और चतुर्थी दोनों विभक्तियों में होता है।

लगि—(क) पर अकाजु लगि तनु परिहरहीं ॥—१।४।७

पर अकाजु लगि = दूसरे के अकाज के लिए

(ख) राम जनम कर कारन एहा। जेहि लगि राम धरी नर
देहा ॥—१।१२४।३

जेहि लगि = जिस लिए

लागि—(क) मोहि लागि दुख सहिय प्रभु सज्जन-दीन दयाल ॥
—१।१६६

मोहि लागि = मेरे लिए

(५) पंचमी विभक्ति में संज्ञाओं के बहुवचन में 'तिर्यक्' रूप का प्रयोग होता है और उनमें 'न्ह', 'न', 'न्हि', 'नं' प्रत्यय जुड़ते हैं। इसका उल्लेख किया जा चुका है। मध्यकालीन भाषा में पंचमी विभक्तियों का एक प्रकार से लोप हो चुका है। अपादानत्व की सूचना 'तें' अथवा 'ते' परसर्गों से मिलती है; जैसे—

तें—(क) हिय सुमिरी सारदा सुहाई। मानस तें मुखपंकज
आई ॥—२।२९७।७

(ख) देह बिसाल परम हरुआई। मंदिर तें मन्दिर चढ़
धाई ॥—५।२।१

ते—हृष्ट पुष्ट तन भए सुहाए। मानहुँ अबहिं भवन ते आए ॥
—१।१४५।८

तें, ते = से

(६) षष्ठी विभक्ति में संबन्ध की सूचना 'का', 'की', 'के' परसर्गों के द्वारा मिलती है। मध्यकालीन भाषा में उनके समकक्ष परसर्ग अधोलिखित हैं—

का = का, कर, केर, को, क

के = के, केरे, कें, केरें

की = की, करि, कै, केरि

उदाहरण अधोलिखित हैं—

का—(क) बोली अपर कहेहु सखि नीका। एहिं बिआह अति हित
सबही का ॥—१।२२३।१

(ख) तुनहु प्रानप्रिय भावत जी का । देहु एक बर भरतहिं टीका ॥
—२।२९।१

कर—(क) जे श्रद्धा संबल रहित, नहिं संतन कर साथ ॥—१।३८

(ख) कहउँ जुगल मुनिबर्य कर मिलन सुभग संवाद ॥—१।४३

केर—(क) निज निज गृहँ सब करहिं बिचारा । नहिं निसिचर कुल केर उबारा ॥—५।३६।२

(ख) बिथुरे नभ मुकुताहल तारा । निसि सुंदरी केर सिंगारा ॥
—६।१३।३

चरणान्त में 'केर' का दीर्घान्त प्रयोग छन्दानुरोध से होते हैं जैसे—

(क) परम मित्र तापस नृप केरा । जानइ सो अति कपट घनेरा ॥
—१।१७०।४

को—(क) बंदउ नाम राम रघुबर को ।—१।१९।१

(ख) राम निकाईं रावरी है सब ही को नीक ॥—१।२९

के—(क) पर हित घृत जिन्ह के मन माखी ॥—१।४।४

(ख) उदय केत सम हित सबही के ॥—१।४।६

कें—(क) सो बिचारि सुनिहहिं सुमति जिन्ह कें बिमल बिबेक ॥ —१।९

(ख) जिन्ह कें रही भावना जैसी ॥—१।२४१।४

केरे—(क) चरन कमल बंदउँ तिन्ह केरे ॥—१।१४।३

(ख) बंदउँ पद सरोज सब केरे ॥—१।१८।४

केरें—(क) परहित हानि लाभ जिन्ह केरें ॥—१।४।२

(ख) परम अकिंचन प्रिय हरि केरें ॥—१।१६३।३

की—प्रौढ़ि सुजन जनि जानहिं जन की । कहहुँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की ॥—१।२३।२

करि—(क) जा करि तैं दासी ॥—१।१८४

जाकरि = जिसकी

(ख) श्रवन सुनी सठ ता करि बानी ॥—५।३७।१

ताकरि = उसकी

कै—(क) श्रोता बकता ग्याननिधि कथा राम कै गूढ़ ॥—१।३०

राम कै कथा = राम की कथा

(ख) कहहिं भगति भगवन्त कै ॥—१।४४

भगवन्त कै भगति = भगवन्त की भक्ति

केरि—(क) नृपन्हि केरि आसा निसि नासी ॥—१।२५५।१

नृपन्हि केरि आसा = नृपों की आशा

क—(क) सपनेहु आन भरोस न देव क ॥—३।१०।२

देव क भरोस = देव का भरोसा

'क' रूप 'का' परसर्ग का ही ह्रस्व रूप है। इसका प्रयोग विरल है।

(७) मध्यकालीन भाषा में सप्तमी विभक्ति का एक प्रकार से तृतीया विभक्ति में विलय हो गया है। उसका अपना कोई प्रत्यय नहीं। सप्तमी की सूचना में परसर्गवत् प्रयुक्त कुछ क्रियाविशेषण अव्यय पदों का अवश्य प्रयोग होता है। सप्तमी तथा तृतीया विभक्तियों के प्रत्यय लगभग समान हैं। जिस प्रकार तृतीया विभक्ति के एकवचन के संज्ञापदों के अन्तिम वर्ण को आनुनासिक कर दिया जाता है उसी प्रकार सप्तमी में भी किया जाता है। दोनों विभक्तियां के एकवचन में 'हिं' प्रत्यय भी समानरूप से जुड़ता है। दोनों विभक्तियों के बहुवचन रूपों में 'न्हि' अथवा 'नि' प्रत्यय समानरूप से जुड़ता है। उदाहरण अधोलिखित है।

'हिं' प्रत्यय—होत महा रन रावन रामहिं ॥—६।५७।५

रावन रामहिं = राम रावण में

परसर्गों की सहायता से बनने वाले सप्तमी विभक्ति के उदाहरण अधोलिखित हैं—

महिं—(क) छन महिं सबहिं मिले भगवाना ॥—७।६।७ (क्षण में)

माहीं—(ख) उपजहिं एक संग जल माहीं ॥—१।५।५ (जल में)

महुँ—(क) तातें मैं अति अलप बखाने। थोरे महुँ जानिहहिं सयाने॥

—१।१२।६ (थोड़े में)

माहँ—(क) राजधरम सरबस एतनोई। जिमि मन माहँ मनोरथ गोई॥
—२।३१६।१ (मन में)

माझ—(क) भानुप्रतापहिं बाजि समेता। पहुँचाएसि छन-माझ निकेता॥
—१।१७१।७ (क्षण में)

मझारी—(क) गिरि त्रिकूट एक सिंधु मझारी ॥—१।१७८।५
(सिन्धु में)

मध्य—(क) संबत्त मध्य नास तव होऊ ॥—१।१७४।३
(संवत में)

पहिं—(क) जे जे बर के दोष बखाने। ते सब सिव पहिं मैं अनुमाने॥
—१।६९।३ (शिव में)

पाहीं—(क) निज बुधि बल भरोस मोहि नाहीं। तातें बिनय करउँ सब पाहीं ॥—१।८।४ (सब से)

पर—(क) जाहि दीन पर नेह ॥—१।१।४

उपर—(क) लंका सिखर उपर आगारा ॥—६।१०।७

ऊपर—(क) ताहि सदा सुभ कुसल निरंतर। सुरनर मुनि प्रसन्न ता ऊपर॥
—५।३०।२

(८) **बलात्मक प्रत्यय**—आधुनिक हिन्दी में अवधारणा की सूचना प्रत्यय और परसर्ग दोनों के द्वारा मिलती है। मध्यकालीन हिन्दी में परसर्ग के स्थान पर प्रत्ययों का प्रयोग मिलता है। आधुनिक हिन्दी में सर्वनाम, विशेषण तथा क्रियाविशेषणों में 'ही' अथवा 'भी' प्रत्यय प्रायः सर्वनाम आदि पदों के साथ जुड़ जाते हैं; जैसे—

वह + ही = वही

यह + ही = यही

अब + ही = अभी इत्यादि

किन्तु संज्ञा पदों के आगे 'ही' और 'भी' का प्रयोग परसर्गों के रूप में होता है। कहीं-कहीं 'भी' अथवा 'ही' से महाप्राण व्यंजन का लोप हो

जाता है और स्वर-मात्र शेष रहकर 'ई', 'ऊ', 'औ' आदि का दीर्घ अथवा ह्रस्व रूप धारण कर लेता है; जैसे—

तहाँ + हिं = तहहिं = वहीं
तहाँ + इँ = तहइँ = ,,
अबहुँ, अबहूँ = अब भी, अभी भी
सबुइ, सोइ = सभी, वही
तरनिहु = तरिणी भी
अरिहुक = अरि का भी
महीं = मैं ही।
तुहीं = तूही
तुहू = तूही
मेरी औ = मेरी भी। इत्यादि।

सर्वनाम

आधुनिक हिन्दी में जिस प्रकार सर्वनाम पदों के चार रूप मिलते हैं उसी प्रकार मध्यकालीन हिन्दी में भी। इन चार रूपों के आगे प्रत्यय अथवा परसर्ग अथवा परसर्गवत् प्रयुक्त होने वाले अव्यय पदों का प्रयोग विभिन्न कारकों की सूचना देता है।

मध्यकालीन हिन्दी की कारक-व्यवस्था में इनका उल्लेख हो चुका है। अतः यहाँ सर्वनामों के रूपों का उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा।

आधुनिक रूप = मध्यकालीन रूप
मैं = मैं
मोहि = मुझे
मो = मुझ
मेरा = मेरा, मेरो

बहुवचन में सर्वनाम पदों के केवल दो रूप रह जाते हैं—'हम' जिसके साथ कारकविभक्तियों को जोड़ कर विभिन्न कारकों की सूचना दी जाती

है तथा सम्बन्धवाचक जिसमें सम्बन्धसूचक प्रत्यय 'आरा', 'आरी' जोड़ा जाता है। यही व्यवस्था मध्यकालीन हिन्दी में भी है।

विशेषण

आधुनिक हिन्दी तथा मध्यकालीन हिन्दी में विशेष्य और विशेषण का अन्वित सम्बन्ध समान है। मध्यकालीन हिन्दी पर संस्कृत व्याकरण का प्रभाव आधुनिक हिन्दी से अधिक है। इसलिए लिंग-प्रयोग में विशेषण और विशेष्य का अन्वय जितना अधिक मध्यकालीन हिन्दी में है उतना आधुनिक हिन्दी में नहीं रहा। उदाहरण के लिए आधुनिक हिन्दी में सुन्दर नारी, मनोहर छवि का प्रयोग होता है; किन्तु मध्यकालीन हिन्दी में स्त्रीलिंग सूचक 'इ' प्रत्यय का होना आवश्यक है। वहाँ रूप होगा 'सुन्दरि नारि', 'मदोदरि छवि'। सार्वनामिक विशेषणों के रूपों में, जिनका प्रयोग क्रियाविशेषणों के रूप में भी होता है, आधुनिक हिन्दी तथा मध्यकालीन हिन्दी में अन्तर अवश्य है।

कुछ सार्वनामिक विशेषण पदों की तुलनात्मक सूची अधोलिखित है—

सार्वनामिक विशेषण

मध्यकालीन रूप	आधुनिक रूप
अस	ऐसा
जस	जैसा
कस	कैसा
एता, एतना	इतना
जेता, जेतना, जेते	जितना, जितने
तेता, तेते, तेती	उतना, उतने, उतनी
केता, केते, केती	कितना, कितने, कितनी
आन	अन्य
अपर, अवर	अन्य
और	और

क्रिया

मध्यकालीन हिन्दी और आधुनिक हिन्दी की क्रिया-व्यवस्था—काल-रचना, वाच्य तथा पक्ष—समान है। अन्तर केवल इतना है कि संस्कृत भाषा का आयुक्त रूप मध्यकाल में थोड़ा-बहुत सुरक्षित है जब कि आधुनिक काल में वह लुप्तप्राय हो चुका है, इसलिए काल-निर्माण में आधुनिक हिन्दी सहायक क्रियाओं का अधिक सहारा लेती है। इसी प्रकार संज्ञा, विशेषण-पदों को क्रिया रूप देना अर्थात् नामधातुओं का प्रयोग मध्यकाल में अधिक होता रहा है। आधुनिक काल में उसका रूप संज्ञा + क्रिया एक पदबन्ध का हो गया है। किन्तु मध्यकाल एवं आधुनिक काल दोनों में क्रियाओं का प्रयोग कृदन्त प्रधान है। तिङन्त रूप बहुत थोड़े कालों में सुरक्षित रह गया है।

कृदन्तों का मुख्य रूप विशेषण का है। विशेषण अपने विशेष्य के साथ लिङ्ग और वचन की एकरूपता रखता है। मध्यकालीन और आधुनिक हिन्दी की वाक्य-रचना में जहाँ कृदन्तों का प्रयोग कार्य-व्यापार की सूचना में किया जाता है वहाँ भी उनमें कर्त्ता अथवा कर्म के लिङ्ग के अनुसार परिवर्तन देखा जाता है। कृदन्तीय क्रियारूपों का मध्यकालीन तथा आधुनिक हिन्दी में भी प्राचुर्य होने के कारण पहले कृदन्तों का अध्ययन कर लेना समीचीन होगा।

कृदन्त—कृदन्तों का वाक्य में दो रूपों में प्रयोग होता है। एक, जहाँ वे लिङ्ग और वचन के अनुसार परिवर्तित होते हैं तथा दो, जहाँ वे अव्ययवत् प्रयुक्त होते हैं। इन्हें क्रमशः (अ) विकारी तथा अविकारी कृदन्त कहा जा सकता है।

(अ) **विकारी कृदन्त**—विकारी कृदन्तों का वाक्य में अधोलिखित चार रूपों में प्रयोग होता है—

(१) क्रियार्थक संज्ञा के रूप में
(२) कर्तृवाचक संज्ञा के रूप में

(३) वर्तमानकालिक कृदन्तों के रूप में तथा

(४) भूतकालिक कृदन्तों के रूप में।

(१) क्रियार्थक संज्ञा—आधुनिक हिन्दी में क्रिया के धातुरूप में 'ना' प्रत्यय जोड़ने से क्रियार्थक संज्ञाएँ बनती हैं; जैसे—दौड़् + अना = दौड़ना। मध्यकालीन हिन्दी में 'अन' तथा 'अनि' प्रत्यय भी मिलते हैं। इनके अतिरिक्त 'अइ', 'अब' प्रत्यय जोड़कर भी क्रियार्थक संज्ञाएँ निष्पन्न होती हैं; जैसे—

मूल धातु—प्रत्यय—क्रियार्थक संज्ञा

जि, मर् + अब —जिअब, मरब

धर् + अन —धरन

रह् + अनि —रहनि

उदाहरण—(क) जिअइ मरइ भल भूपति जाना॥

(ख) ताहि धरन कहँ भुजा पसारी॥

(ग) सुनहु पवन सुत रहनि हमारी॥

नकारान्त क्रियार्थक संज्ञाओं का प्रयोग जब तिर्यक् रूप में होता है तो 'अ', 'ऐं' में परिवर्तित हो जाता है; जैसे 'रिसानें'। नकारान्त क्रियार्थक संज्ञाओं का प्रयोग भविष्य-काल की सूचना में भी किया जाता है; जैसे—'भे न भाइ अस अहहिं न होने' आधुनिक एवं मध्यकालीन हिन्दी के क्रियार्थक संज्ञाओं की रूप-रचना को अधोलिखित समीकरण के द्वारा समझा जा सकता है—

आधुनिक रूप	मध्यकालीन रूप
धातु + अना	धातु + अना
	धातु + अन
	धातु + अनि
	धातु + अइ
	धातु + अब

(२) कर्तृवाचक संज्ञा—इनका तुलनात्मक रूप अधोलिखित समीकरण से समझा जा सकता है—

आधुनिक रूप		मध्यकालीन रूप
धातु + ने + वाला	=	धातु + नि + हार (अँगवनिहारे)
(लजाने वाला)	=	धातु + नि + वार (देखनिवारे)
	=	धातु + अ + वार (रखवारे)

कर्तृवाचक संज्ञाओं से जिस प्रकार संभाव्य भविष्य की सूचना आधुनिक हिन्दी में मिलती है उसी प्रकार मध्यकालीन हिन्दी में भी जैसे—

(क) अब यह मरनिहार भा साँचा ॥

कर्तृवाचक संज्ञाओं का रूप विभिन्न कारकों में अकारान्त संज्ञाओं के समान रूपान्तरित होता है।

(३) वर्तमानकालिक कृदन्त—आधुनिक हिन्दी में जिस प्रकार धातु + ता प्रत्यय के द्वारा वर्तमानकालिक कृदन्त बनता है तथा 'ते' और 'ती' रूपान्तरों के द्वारा वचन तथा लिङ्ग का रूपान्तरण होता है उसी प्रकार मध्यकालीन हिन्दी में धातु + त प्रत्यय के द्वारा वर्तमानकालिक कृदन्त बनता है तथा 'तो', 'ते', 'ती' प्रत्ययों के द्वारा उसका लिंग और वचन में रूपान्तरण होता है—

आधुनिक रूप		मध्यकालीन रूप
धातु + ता	=	धातु + त, धातु + तो
धातु + ती	=	धातु + ती
धातु + ते	=	धातु + ते

आधुनिक हिन्दी में जब वर्तमानकालिक कृदन्तों का प्रयोग काल-रचना में होता है तो उसके साथ 'है' क्रिया का कोई-न-कोई रूप सहायक क्रिया के रूप में उपस्थित रहता है जब कि मध्यकालीन हिन्दी में सहायक क्रिया का प्रयोग बहुत कम होता है। सामान्य संकेतार्थ-काल में आधुनिक तथा मध्यकालीन हिन्दी में केवल वर्तमानकालिक कृदन्त का ही प्रयोग होता है। काल-रचना के उदाहरण अधोलिखित हैं—

सामान्य वर्तमान

(क) दृग उरझत, टूटत कुटुम ॥—(उलझते हैं, टूटता है)

(ख) नीति धरम मैं जानत अहहूँ ॥—(जानता हूँ)

सामान्य संकेतार्थ

(क) करतेहुँ राजु तो तुम्हहि न दोषू ॥—(यदि करते भी)

अपूर्ण भूतकाल

(क) जात रहेउँ बिरंचि के धामा ॥—(जा रहा था)

सातत्यबोधक क्रिया

(क) तब सखी मंगल गान करत चलीं ॥—(मंगल-गान करती हुई चलीं)

(४) भूतकालिक कृदन्त—आधुनिक हिन्दी में धातु में 'आ' प्रत्यय जोड़ने से भूतकालिक कृदन्त बनता है। लिंग और वचन के अनुसार 'अ' के स्थान पर 'ए', 'एँ' तथा 'ई', 'ईं' का रूपान्तरण हो जाता है जैसे—'चला', 'चले', 'चलें' तथा 'चली', 'चलीं'। मध्यकालीन हिन्दी में उपर्युक्त प्रत्ययों के अतिरिक्त अधोलिखित प्रत्यय और जुड़ते हैं—

बोल् + आ = बोला

बोल् + यो = बोल्यो

बोल् + एउ = बोलेउ

बोल् + औ = बोलौ

प्रेरणार्थक बोल् + आवा = बोलावा

क्रिया के ईकारान्त रूपों के साथ 'न्ह' प्रत्यय जुड़ता है; जैसे—

ली + न्ह = लीन्ह

की + न्ह = कीन्ह

दी + न्ह = दीन्ह

नामधातुओं में 'आन' अथवा 'आना' प्रत्यय जुड़ते हैं; जैसे—

भूल् + आन = भुलान

भूल् + आना = भुलाना

भूतकालिक कृदन्तों का प्रयोग काल-रचना में भी होता है तथा प्रायः बिना सहायक क्रिया के उनसे सामान्य भूतकाल का बोध होता है। आधुनिक हिन्दी में भी भूतकालिक कृदन्तों के द्वारा सामान्य भूतकाल का बोध होता है तथा कोई सहायक क्रिया साथ में नहीं जुड़ती।

(आ) अविकारी कृदन्त—अविकारी कृदन्तों का प्रयोग क्रिया-विशेषण अव्ययों के समान होता है इसलिए इनके रूपों में लिङ्ग तथा वचन के अनुसार कोई परिवर्तन नहीं होता। प्रयोग अधोलिखित ५ रूपों में हुआ है—

(१) पूर्णकालिक कृदन्त
(२) तात्कालिक कृदन्त
(३) पूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त
(४) अपूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त तथा
(५) इच्छा अथवा प्रयोजनसूचक कृदन्त।

(१) पूर्वकालिक कृदन्त—आधुनिक हिन्दी में पूर्वकालिक कृदन्तों के पश्चात् सहायक क्रिया के रूप में 'कर्' धातु का प्रयोग होता है वहाँ प्रायः मध्यकालीन हिन्दी में धातु में 'इ' प्रत्यय जुड़ता है। 'कर्' का प्रयोग वैकल्पिक एवं विरल है।

ना + इ = नाइ = नवा कर
कर + इ = करि = कर के
जा + इ = जाइ = जा कर
दे + इ = देइ = दे कर
ले + इ = लेइ = ले कर

आधुनिक हिन्दी में जिस प्रकार 'कर्' धातु का संक्षिप्त रूप 'के' भी विकल्प से जुड़ता है और कभी-कभी 'कर के' जैसा प्रयोग भी होता है। मध्यकालीन हिन्दी में भी 'कर्' धातु का 'करि' अथवा 'कै' रूप सहायक क्रिया के रूप में प्रयुक्त होता है, जैसे—नाइ करि> नाइ कै = नवा कर, किन्तु 'करि कै' रूप का प्रयोग नहीं मिलता।

मध्यकालीन हिन्दी में 'इ' प्रत्यय के स्थान पर विकल्प से 'एँ' प्रत्यय भी धातुरूपों में जुड़ता है। जैसे—

(क) साधक नाम जपहिं लय लाएँ। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ॥

(ख) सीय राम पद अंक बराएँ। लखनु चलहिं मगु दाहिन लाएँ॥

(२) तात्कालिककृदन्त—तात्कालिक कृदन्त वर्तमानकालिक कृदन्तों में जब अवधारणासूचक रूप है। तात्कालिक कृदन्तों में जब अवधारणासूचक प्रत्यय 'हिं' लग जाता है तब उससे क्रिया की तात्कालिकता का बोध होता है; जैसे—

(क) छुअतहिं टूट पिनाक पुराना॥—(छूते ही टूट गया)

(३) पूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त—क्रिया की पूर्णता की सूचना में विशेषण रूप में प्रयुक्त होने वाले भूतकालिक कृदन्तों के बहुवचन रूप को सानुनासिक कर देने पर पूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त बनता है; जैसे—

बीता दिन>बीते दिन>बीतें दिन

उदाहरण—

(क) बीतें अवधि रहहिं जो प्राना॥—(अवधि के बीतने पर)

(ख) का बरसा जब कृषी सुखानें॥—(सूख जाने पर)

(४) अपूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त—वर्तमानकालिक कृदन्तों का प्रयोग जब क्रिया-विशेषण-अव्यय के रूप में होता है तो उनसे क्रिया की अपूर्णता की सूचना मिलती है। तात्कालिक और अपूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्तों में अन्तर केवल यह है कि एक में अवधारणासूचक प्रत्यय लगा रहता है जब कि दूसरे में केवल वर्तमानकालिक रूप का प्रयोग होता है; जैसे—

(क) देखत तुम्हहिं नगरु जेहिं जारा॥—(देखते-देखते)

(ख) जानत हूँ पूछिय कस स्वामी॥—(जानते हुए भी)

(५) इच्छा अथवा प्रयोजनसूचक कृदन्त—क्रिया के धातुरूप में 'न' प्रत्यय जोड़ने से इच्छा अथवा प्रयोजनसूचक कृदन्त बनते हैं। खड़ी बोली में 'न' के स्थान पर 'ने' का प्रयोग होता है; जैसे—

(क) काहू बैठन कहा न ओही ॥—(बैठने के लिए)
(ख) करि प्रनाम कछु कहन लिय ॥—(कहने लगीं)
(ग) गुरु गृह गए पढ़न रघुराई ॥—(पढ़ने के लिए)

क्रियाओं का प्रेरणार्थक रूप

आधुनिक हिन्दी में जिस प्रकार क्रिया के धातुरूप में 'अवा' प्रत्यय जोड़ देने से प्रेरणार्थक रूप बनते हैं उसी प्रकार मध्यकालीन हिन्दी में 'आव' अथवा 'आउ' प्रत्यय जुड़ता है; जैसे—

आधुनिक रूप	मध्यकालीन रूप
देख्—दिखावा	देखाव, देखाउ

यहाँ 'देखाउ' रूप व्रजभाषा का है। प्रेरणार्थ-रूपों में शब्दारम्भ का 'ए', 'ओ' स्वर दुर्बल हो जाते हैं। उनकी परिणति आधुनिक हिन्दी में क्रमशः 'इ' तथा 'उ' में हो गयी है; जैसे—

बोल् > बोलवा > बुलावा
देख् > देखावा > दिखावा

नाम-धातु

मध्यकालीन हिन्दी में धातुमूलक संज्ञाओं तथा विशेषणों से नाम-धातुओं के निर्माण की प्रवृत्ति अधिक मिलती है, लोक-भाषाओं में भी नामधातुओं का प्रयोग अब भी प्रचलित है; किन्तु आधुनिक हिन्दी में इनके साथ किसी क्रिया का प्रयोग किया जाता है। अतः संज्ञा तथा क्रिया का एक पदबन्ध के रूप में प्रयोग होता है; जैसे—

क्रोध—क्रुद्ध—क्रुद्धे (क्रुद्ध हुए)
वेग—वेगिय (जल्दी कीजिए)
अनुराग—अनुरागे (अनुरक्त हुए)
अनुसार—अनुसारी (प्रारम्भ की)
अपना—अपनाया (अपना लिया)
अपमान—अपमाने (अपमान करते हुए) इत्यादि ।

संयुक्त क्रियाएँ

धातु के कृदन्त रूप के आगे सहकारी क्रियाओं को जोड़ने से जिस प्रकार आधुनिक हिन्दी में संयुक्त क्रियाएँ बनती हैं उसी प्रकार मध्यकालीन हिन्दी में भी। रामचरितमानस में अधोलिखित क्रियाओं का प्रयोग सहायक क्रियाओं के रूप में हुआ है–दे, ले, पा, हो, रह्, रुक्, जा, उठ, लग् तथा बन्। इन सहायक क्रियाओं का सहयोग अधोलिखित कृदन्तों के साथ हुआ है—

(१) क्रियार्थक संज्ञा
(२) भूतकालिक कृदन्त
(३) पूर्वकालिक कृदन्त
(४) अपूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त
(५) पूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त तथा
(६) धातुमूलक संज्ञा-पद

(१) **क्रियार्थक संज्ञा के मेल से बनी हुई संयुक्त क्रियाएँ**—क्रियार्थक संज्ञाओं में 'ले', 'दे', 'पा', 'चाह्' क्रियाओं के संयोग से क्रमशः (अ) आरम्भ, (आ) अनुमति, (इ) अवकाश तथा (ई) इच्छा की सूचना मिलती है।

(अ) आरम्भबोधक संयुक्त क्रिया

(क) करि प्रनामु कछु कहन लिय सिय भई सिथिल सनेह ॥
—(कहने लगी)

(ख) रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह ॥—(वर्णन करने लगे)

(आ) अनुमतिबोधक संयुक्त क्रिया

(क) सत्य कहउँ मोहि जान दे माई ॥—(मुझे जाने दे)
(ख) कवनेहुँ जतन देइ नहिं जाना ॥—(नहीं जाने देती)

(इ) अवकाशबोधक संयुक्त क्रिया

(क) जे नर नारि न अवसर आए। ते सिय रामु न देख न पाए॥
—(देख न पाए)

(ई) इच्छाबोधक संयुक्त क्रिया

(क) जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ ॥—(जानना चाहते हैं)

(ख) करन चहहुँ रघुपति गुन गाथा ॥—(करना चाहता हूँ)

(२) भूतकालिक कृदन्तों से बनी हुई संयुक्त क्रियाएँ—क्रियार्थक संज्ञाओं की भाँति भूतकालिक कृदन्तों में 'चाह्' क्रिया के संयोग से इच्छाबोधक अर्थ सूचित होता है; जैसे—

(क) चरित बहुत बिधि कीन्ह चहै ॥—(करना चाहता है)

(ख) देखी चहहुँ जानकी माता ॥—(देखना चाहता हूँ)

(३) पूर्वकालिक कृदन्तों से बनी हुई संयुक्त क्रियाएँ—पूर्वकालिक कृदन्तों के साथ 'उठ', 'बैठ', 'आ', 'जा', 'दे', 'ले', 'पर्' तथा 'रह्' क्रियाओं के सहयोग से कथन में शक्ति, बल अथवा अवधारणा सूचित होती है। प्रयोग अधोलिखित हैं—

(क) दलकि उठेउ सुनि हृदय कठोरू ॥—(दलकने लगा)

(ख) बातहिं बात करष बढ़ि आई ॥—(कर्ष बढ़ने लगी)

(ग) धरि धीरजु उठि बैठ भुआलू ॥—(उठ बैठा)

(घ) जानि लेउ जो जाननिहारा ॥—(जान लो)

(ङ) जनु छुइ गयउ पाक बरतोरू ॥—(छू गया)

(च) दीन्ह बाल जिमि रोइ ॥—(रो दिया)

(छ) समुझि न परइ झूठ का साँचा ॥—(समझ नहीं पड़ता)

(ज) जात रहेउँ बिरंचि के धामा ॥—(जा रहा था)

अन्तिम उद्धरण में प्रयुक्त 'जात रहेउँ' को अपूर्ण वर्तमान काल भी माना जा सकता है। सामर्थ्य की सूचना में पूर्वकालिक कृदन्तों के साथ 'सक्' और 'पर्' क्रियाओं का प्रयोग होता है; जैसे—

(झ) राखि न सकइ न कहि सक जाऊ ॥—(न तो रख सकती है और न जाने को कह सकती है)

प्रभु सनमुख कछु कहत न पारहिं ॥—(कहते नहीं बनता)

(४) अपूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्तों से बनी हुई संयुक्त क्रियाएँ—अपूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्तों के साथ 'जा' तथा 'बन्' क्रियाओं के सहयोग से योग्यतासूचक संयुक्त क्रिया बनती है, जैसे—

(क) मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई ॥—(न तो मिलते बनता है और न रुकते बनता है)

(५) पूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्तों के मेल से बनी हुई संयुक्त क्रियाएँ—सकर्मक क्रियाओं से बने हुए पूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्तों के साथ 'जा' क्रिया के सहयोग से सातत्यबोधक अर्थ सूचित होता है; जैसे—

(क) किए जाहिं छाया जलद ॥ —(किए जा रहे हैं)

(६) धातुमूलक संज्ञाओं के योग से बनी हुई संयुक्त क्रियाएँ—ऐसी संज्ञाएँ जो किसी धातु से निर्मित हैं वस्तुतः नामबोधक क्रियाएँ हैं। इनके मेल से बनी हुई संयुक्त क्रियाएँ वस्तुतः 'संज्ञा + क्रिया' के पदबन्ध के रूप में प्रयुक्त होती हैं। जैसे 'प्रणाम', 'क्षार' क्रमशः 'नम्' तथा 'क्षर्' धातुओं से निष्पन्न हैं। इनके साथ 'कर्' अथवा 'हो' क्रियाओं के सहयोग से 'प्रनाम करना', 'छार होना' जैसे पदबन्ध बनते हैं।

वाच्य

आधुनिक हिन्दी के समान मध्यकालीन हिन्दी में भी सकर्मक क्रियाओं के कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य तथा अकर्मक क्रियाओं के कर्तृवाच्य तथा भाववाच्य रूप मिलते हैं। किन्तु कर्मवाच्य का प्रयोग मध्यकालीन हिन्दी-काव्य में प्रायः अन्यपुरुष में मिलता है और कर्मवाच्य तथा भाववाच्य का प्रयोग केवल वर्तमान काल तथा विधिलिङ् में मिलता है—

कर्मवाच्य, अन्यपुरुष विधि तथा वर्तमान काल

(क) चहिय सुधा जग जुरइ न छाछी ॥

(ख) सुनिय सुधा देखिअहिं गरल ॥

चहिय = चह् + इय = चाहिए (विधिलिङ्०)
जुरइ = जुर् + अइ = जुड़ता (वर्तमान)
सुनिय = सुन् + इय = सुन पड़े (विधिलिङ्)
देखिअहि = देख् + इअहिं = दिखाई देता है (वर्तमान)

इसी प्रकार 'देखिअत', 'सराहियत' जैसे प्रयोग कर्मवाच्य की सूचना देते हैं। व्रजभाषा में 'इय' के स्थान पर 'ए' अथवा 'ऐ' हो जाता है, जैसे—

कीजिय = कीजे अथवा कीजै।
जिअइ = जीजे अथवा जीजै।

काल-रचना

मध्यकालीन काव्य-भाषा में काल-रचना के नियम निर्धारित करना कुछ टेढ़ी खीर है। छन्दानुरोध से स्वरों का ह्रस्व-दीर्घ विपर्यय तो एक सामान्य घटना है। कहीं-कहीं क्रियाओं के व्यंजनों तक का लोप कर दिया जाता है। इसके साथ ही एक काल की क्रिया का प्रयोग किसी दूसरे काल की सूचना में भी कर दिया गया है। कविता में वस्तुतः संदर्भ प्रबल होता है और उसी के अनुसार काल निर्धारित कर लिया जाता है। फिर भी 'मध्यकालीन काव्य-संग्रह' के अध्येताओं की जानकारी के लिए एक सामान्य विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

काल-भेद

(१) वर्तमान काल

'कह्' धातु (कहना)

	एकवचन	बहुवचन
III	कहत, कहति, कह, कहइ	कहहिं, कहत, कहैं
II	कहसि, कहहि, कह	कहहु, कहत हौ
I	कहउँ, कहौं, कहत हौं	कहहिं, कहत

(२) भूत काल

I	कहेउँ, कह्यौ, कहिउँ	कहेन्हि, कहिन्ह, कह्यौ
II	कहेसि, कहिसि, कहा, कह्यौ	कहेन्हि, कहिन्हि, कहा, कह्यौ
III	कहेहि, कहिहि, कह्यौ	कहेहु, कहिहु, कह्यौ

(३) भविष्यत् काल

III	कहि, कहइगो, कहैगो, कहहिंगे, कहैंगे	कहिहहिं, कहि हैं
II	कहिहसि, कहिइगो, कहैगो	कहिहहु, कहिहौ, कहौगे, कहहुगे
I	कहिहउँ, कहउँगो, कहिहौं, कहौंगो	कहिहैं, कहैंगे

रामचरितमानस में कहीं-कहीं क्रिया के धातुरूप को अकारान्त करके तीनों कालों तथा विधि अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। यह प्रवृत्ति छन्दानुरोध से अन्यत्र भी पायी जाती है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(क) गाधिसुअन कह हृदयँ हँसि मुनिहिं हरिअरइ सूझ ॥

—(विश्वामित्र ने कहा) भूतकाल।

(ख) छुवतहिं टूट पिनाक पुराना ॥

—(छूते ही टूट गया) भूतकाल।

(ग) जगु जप राम रामु जप जेही ॥

—(जग जपता है) वर्तमान काल।

(घ) माँगत अभिमत पाव जग ॥—(पाता है) वर्तमान काल।

(ङ) दुख न पाव पितु सोच हमारें ॥—(न पावें) विधिलिङ्।

इत्यादि।

(४) संकेतार्थ

III	कहत, कहति	कहते
II	कहतो	कहतेहु
I	कहतेउँ	कहते

(५) आज्ञा अथवा विधि

I	कहउ, कहौ, कहै	कहहुँ, कहहिं, कहइँ

II कहि, कहु, कहहि, कहसि   कहहु
III कहौं   कहहिं

सकर्मक क्रियाओं के कर्मवाच्य में भूतकालिक कृदन्तों के द्वारा भूतकाल की सूचना दी गयी है; जैसे—'लहू' धातु, भूतकाल—लहेउ, लहा, लही, लह्यो = प्राप्त किया अथवा प्राप्त की।

इसी प्रकार भविष्य काल की सूचना 'उब', 'उबि', 'अब' प्रत्ययों के द्वारा दी जाती है। भविष्य काल का प्रयोग आदरार्थक वर्तमान एवं अनुज्ञा में भी होता है। उदाहरण अधोलिखित हैं—

(क) जौं हट करहु प्रेम बस बामा। तौ तुम्ह दुःख पाउब परिनामा॥
—दुःख पाउब = दुःख भुगतने पड़ेंगे।

(ख) पुनि आउब एहि बेरिआँ काली॥
—(कल आना चाहिए अथवा कल आया जाय)

(ग) तदपि करब मैं काजु तुम्हारा॥—(करूँगा)

(घ) अवसि उपाय करबि मैं सोई॥
—[उपाय (स्त्री लिंग) की जायगी]

(ङ) भाषाबद्ध करबि मैं सोइ॥—(उसी कथा को मैं भाषाबद्ध करूँगा अथवा भाषाबद्ध की जायगी)

(च) जाब जहाँ लगि तहँ पहुँचाई। फिरब बहोरि तुम्हहि सिरु नाई॥
—जाब = जाइएगा, फिरब = फिरेंगे॥

(छ) पितु पद गहि कहि कोटि नति बिनय करब कर जोरि॥
—बिनय करब = विनय कीजिएगा। इत्यादि

क्रियाविशेषण अव्यय

मध्यकालीन भाषा में प्रयुक्त क्रियाविशेषणों का आधुनिक भाषा में थोड़ा परिवर्तन अवश्य हुआ है, किन्तु उनको समझने तथा पहचानने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती। अध्येताओं के उपयोगार्थ दोनों रूपों की सूची यहाँ प्रस्तुत की जाती है—

समयवाचक क्रि० वि०	दिशासूचक क्रि० वि०
म० रू० । आ० रू०	म० रू० । आ० रू०
इहाँ—यहाँ	इत—इधर
उहाँ, महाँ = वहाँ	उत—उधर
	दूरि—दूर
तहाँ, तहँ, तहँवा—वहाँ	पाछें—पीछे
कहँ, कहाँ—कहाँ	सामुहें—सामने
	कालवाचक क्रि० वि०
जहँ, जहाँ, जहँवा—जहाँ	म० रू० । आ० रू०
बहेर—बाहर	आजु—आज
अनत—अन्यत्र	कालि—कल
कतहुँ, कहूँ—कहीं	अबहिं—अभी
	जबहिं—जभी
	तबहुँ—तभी
	कबहुँ, कबहुँक—कभी, कभी भी

परिमाणबोधक क्रियाविशेषण

म०रू०।आ०रू०	म०रू०।आ०रू०	म०रू०।आ०रू०
तुरत—तुरंत	बहु—बहुत	इमि—इस प्रकार
आगें—आगे (भविष्य में)	सुठि—सुष्ठु	किमि—किस प्रकार
		अस—इस प्रकार
	निपट—निपट	जस—जिस प्रकार
पाछें—पीछे (बाद में)	अधिकु—अधिक	तस—उस प्रकार
	अतिसय—अतिशय	कस—किस प्रकार
बहुरि—बाद को		
बहोरी—पश्चात्	किछु	निश्चयबोधक

नित—नित्य	कछु—कुछ	म०रू०।आ०रू०
अजहुँ—आज भी	कछुक—कुछेक	अवसि—अवश्य
		पार--किन्तु

रीतिवाचक क्रि० वि०

ओर—अन्ततक	म०रू०।आ०रू०	पै—किन्तु
चिरु—चिर	ऐसें—ऐसे	तौ—तो
	कैसें—कैसे	**अनिश्चयवाचक**
	तैसें—वैसे	म०रू०।आ०रू०
	जैसें—जिस प्रकार	कदाचि—कदाचित्

निषेधवाचक क्रियाविशेषण

न = न
नहिं, नाहिं, नाहिन = नहीं
जनि = मत

प्रश्नवाचक क्रियाविशेषण

कत = क्यों; किन = क्या न
कि = क्या; का, काह = क्या

क्रियाविशेषणों के अवधारणात्मक प्रयोग—आधुनक हिन्दी में जिस प्रकार सार्वनामिक क्रियाविशेषणों में—'भी', 'ही' अथवा 'ऊ' प्रत्यय जुड़कर अवधारणात्मक रूप बनते हैं उसी प्रकार मध्यकालीन हिन्दी में 'हिं', 'हीं', 'ई', 'उँ', 'ऊँ' आदि प्रत्यय जुड़ते हैं; जैसे—तहहिं, तहइँ, तहउँ = वहाँ भी अथवा वहाँ ही।

उपर्युक्त प्रत्यय अवधारणा की सूचना में अन्य पद-कोटियों में भी लगते हैं जैसे—

तरनिहु = तरणी भी (संज्ञा)
सोइ = वही (सर्वनाम)
मेरिऔ = मेरी भी (सर्वनाम)
महीं = मैं ही ,,

{ तुहीं = तू ही } इत्यादि
{ तुहू = तू ही } ,,

सम्बन्धसूचक अव्यय (Preposition)

सम्बन्धसूचकों का प्रयोग हिन्दी में दो प्रकार से होता है—

(१) जहाँ संज्ञा के बाद कोई विभक्ति प्रत्यय लगता है और उसके आगे सम्बन्धसूचक अव्यय लगता है।

(२) जहाँ संज्ञा के पद के बाद सम्बन्धसूचक अव्यय लगता है अर्थात् संज्ञा के केवल रूप के आगे सम्बन्धसूचक अव्यय का प्रयोग होता है।

दोनों प्रकार के प्रयोगों के उदाहरण अधोलिखित हैं—

संज्ञा + विभक्ति + सम्बन्धसूचक अव्यय = मारहु मोहि व्याध की नाईं।
= परेहु कठिन रावन के पाले।

संज्ञा + विभक्ति + सम्बन्धसूचक = गातु समीप कहत सकुचाहीं ॥

सम्बन्धसूचक अव्ययों की सूची अधोलिखित है—

(१) कालवाचक—आगें—आगे, पाछें—पीछे

(२) स्थानवाचक—आगें—आगे, पाछें—पीछे, उपर—ऊपर, तर—तले, नीचे, पास—पास, पहिं—के पास, निकट—निकट, समीप—समीप, बीच—बीच, माँझ, मझारी—में, इत्यादि।

(३) दिशावाचक—दिसि—ओर, ओर—ओर से, तन—ओर

(४) साधनवाचक—कर, करि—द्वारा

(५) हेतुवाचक—निति, हेतु, हित, लागि, लागें, कारन, लेखे = इन सबके स्थान पर आधुनिक हिन्दी में 'लिए' का प्रयोग होता है।

(६) व्यतिरेकवाचक—बिना, बिनु, रहित, हीन, विहीन इत्यादि। इनके स्थान पर आधुनिक हिन्दी में 'के बिना' अथवा 'के बगैर' का प्रयोग होता है।

(७) सादृश्य अथवा तुलनावाचक—'सम', 'नाईं', 'अनुहारिं',

'अनुसार', 'इव' इत्यादि। इनके स्थान पर आधुनिक हिन्दी में 'सम', 'के समान', 'की तरह' तथा 'के अनुसार' का प्रयोग होता है।

(८) साहचर्यवाचक—संग, साथ, समेत, सहित इत्यादि। इनके स्थान पर प्रायः 'के साथ' का प्रयोग होता है।

(९) अवधि अथवा परिसीमावाचक—लौं, लगि, प्रजंत, भरि, लगि इत्यादि। इनके स्थान पर आधुनिक हिन्दी में 'तक' का प्रयोग होता है।

(१०) अधीनतावाचक—अधीन, आधीन, बस, पाले, हवाले इत्यादि। अधीनता, विवशता, निर्भरता की सूचना में इनका क्वचित् प्रयोग आधुनिक हिन्दी में मिलता है।

समुच्चयबोधक अव्यय (Conjunction)

मुख्य तथा आश्रित वाक्यों को जोड़ने के आधार पर समुच्चयबोधक अव्ययों के दो भेद हैं—

(अ) समानाधिकरणबोधक अव्यय तथा

(आ) व्यधिकरणबोधक अव्यय।

(अ) समानाधिकरणबोधक अव्यय—समानाधिकरण अव्यय दो मुख्य वाक्यों को जोड़ने के साथ-साथ (i) संयोजन, (ii) विभाजन अथवा विकल्प तथा (iii) विरोध की सूचना देता है। सूची अधोलिखित है—

(क) **संयोजन**—'अरु', 'औंर', 'औरु' = 'और', 'तथा'।

(ख) **विकल्प विभाजन**—'अथवा', 'किंवा', 'वा', 'कि', 'कि—की', 'न—न', 'न त', 'नतरु', 'नाहिं' इत्यादि। इनके स्थान पर आधुनिक हिन्दी में 'अथवा', 'या तो', 'या तो—या', 'न तो—न', 'नहीं तो' आदि पदबन्धों का प्रयोग होता है।

(ग) **विरोध**—पै, परन्तु, किन्तु, बरु। इनके स्थान पर आधुनिक हिन्दी में 'पर', 'चाहे—पर', 'परन्तु' आदि का प्रयोग होता है।

(आ) व्यधिकरणबोधक अव्यय—व्यधिकरणबोधक अव्यय मुख्य

तथा आश्रित वाक्यों को जोड़ने के साथ-साथ (i) संकेत तथा (ii) स्वरूपता की सूचना देते हैं। सूची अधोलिखित है।

(क) संकेत—'जौं—तौं', 'त', 'जद्यपि', 'जदपि'—'तद्यपि', 'तदपि'। इनके स्थान पर आधुनिक हिन्दी में यद्यपि—तो भी, यदि—तो का प्रयोग होता है।

(ख) स्वरूपता—'मानहुँ', 'मनहुँ', 'मनौ', 'जनु' इत्यादि। इनके स्थान पर आधुनिक हिन्दी में 'मानो' का प्रयोग होता है।

विस्मयादिबोधक अव्यय

हर्ष, शोक, विस्मय, प्रशंसा, अनुशंसा आदि मनोभावों की तीव्रता के कारण मुख से अनायास जो शब्द निकलते हैं उन्हें विस्मयादिबोधक कहते हैं। इनका प्रयोग वाक्यारम्भ में होता है तथा वाक्य की संरचना में ये पृथक् इकाई के रूप में जुड़े रहते हैं, अतः वाक्य की संरचना की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व नहीं है। नमूने के तौर पर इनका मध्यकालीन प्रयोग अधोलिखित है—

अहह, जय, धन्य, हा, त्राहि, पाहि, आह, आह दइअ, दैया, रे, धिग इत्यादि, अस्तु।

उपर्युक्त अध्ययन केवल व्यावहारिक है और मध्यकालीन काव्य-भाषा को समझने की दृष्टि से किया गया है। पूरे मध्यकाल की न तो एक भाषा रही है और न एक ही काल के विभिन्न कवियों की भाषा में कोई व्याकरणिक समानता है। पूरे मध्यकाल में रामचरितमानस की भाषा परिनिष्ठित और टकसाली है इसलिए उसी को विश्लेषण का मुख्य आधार बनाया गया है।

—शम्भुनाथ पाण्डेय

महात्मा कबीरदास

पद

[१]

सतगुरु साह संत सौदागर तहँ मैं चलि कै जाऊँ जी।
मन की मुहर धरौं गुरु आगैं ग्यान के घोड़ा लाऊँ जी॥
सहज पलान चित कै चाबुक लौ की लगाम लगाऊँ जी।
बिबेक बिचार भरौं तन तरगस सुरति कमाँन चढ़ाऊँ जी॥
धीर गंभीर खड़ग लिए मुदगर माया के कोट ढहाऊँ जी।
मोह मस्त मैवासी राजा ताकौं पकड़ि मँगाऊँ जी॥
रिपु कै दल मैं सहजहिं रौंदौं अनहद तबल घुराऊँ जी।
कहै कबीर मेरै सिर परि साहेब मैं ताकौं सीस नवाऊँ जी॥

[२]

दुलहिनीं गावहु मंगलचार।
हम घरि आए राजा राम भरतार॥
तन रत करि मैं मन रति करिहौं पाँचउ तत्त बराती।
राम देव मोरै पाहुनैं आए मैं जोबन मैमाती॥
सरीर सरोबर बेदी करिहौं ब्रह्मा बेद उचारा।
राम देव सँगि भाँवरि लेहहौं धनि धनि भाग हमारा॥
सुर तैतीसौ कौतिग आए मुनिवर सहसअठासी।
कहै कबीर हम ब्याहि चले हैं पुरिख एक अविनासी॥

[३]

बालम आउ हमारै गेह रे।
तुम्ह बिन दुखिया देह रे॥

सब कोइ कहै तुम्हारी नारी मोकौं यह अन्देह रे।
एकमेक ह्वै सेज न सोवै तब लगि कैसा नेह रे॥
अन्न न भावै नींद न आवै ग्रिह बन धरै न धीर रे।
ज्यौं कामीं कौं कामिनि प्यारी ज्यौं प्यासे कौं नीर रे॥
है कोई ऐसा पर उपगारी हरि सौं कहै सुनाइ रे।
अब तौ बेहाल कबीर भए हैं बिनु देखैं जिउ जाइ रे॥

[४]

अवधू मेरा मनु मतिवारा।
उनमनि चढ़ा मगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजिआरा॥

गुड़ करि ग्यान ध्यान करि महुआ भौ भाठी मन धारा।
सुखमनि नारी सहज समानी पीवै पीवनहारा॥
दोइ पुर जोरि रसाई भाठी चुआ महारसु भारी।
कामु क्रोध दोइ किए बलीता छूटि गई संसारी॥
सहज सुन्नि मैं जिन रस चाखा सतिगुर तैं सुधि पाई।
दासु कबीर तासु मद माता उछकि न कबहूँ जाई॥

[५]

डगमग छाँड़ि दै मन बौरा।
अब तौ जरैं मरैं बनि आवै लीन्हों हाथि सिंधौरा॥

होइ निसंक मगन होइ नाचै लोभ मोह भ्रम छाँड़ै।
सूरा कहा मरन तैं डरपै सती न संचै भाँड़ै॥

लोक बेद कुल की मरजादा इहै गले में फाँसी।
आधा चलि करि पाछैं फिरिहौ होइ जगत में हाँसी॥
यहु संसार सकल है मैला राम कहैं ते सूचा।
कहै कबीर नाउँ नहिं छाँड़ौ गिरत परत चढ़ि ऊँचा॥

[६]

फिरहु का फूले फूले फूले।
जब दस मास उरध मुखि होते सो दिन काहे भूले॥

जब जरिऐ तब होइ भसम तन रहै किरिम दल खाई।
काँचै कुंभ उदिक ज्यौं भरिया या तनकी इहै बड़ाई॥
ज्यों माखी सहतैं नहिं बिहुरै जोरि जोरि धन कीन्हा।
मूएँ पीछै लेहु लेहु करै भूत रहन क्यूँ दीन्हा॥
देहरि लौं बरी नारि संग है आगे सजन सुहेला।
मरहट लौं सभ लोग कुटुंब भयौ आगें हंसु अकेला॥
राम न रमसि मोह कहा माते परहु काल बस कूवा।
कहै कबीर नर आपु बँधायौ ज्यौं ललनीं भ्रमि सूवा॥

[७]

बावरे तै ग्यान बिचारु न पाया।
बिरथा जनमु गँवाया॥

थाके नैन स्रवन सुनि थाके थाकी सुंदरि काया।
जामन मरना ए दोइ थाके एक न थाकी माया॥
तब लागि प्रानी तिसै सरेवहु जब लगि घट महिं साँसा।
भगति जाउ पर भाव न जइयौ हरि कै चरन निवासा॥
जो जन जानि भजहिं अबिगत कौं तिनका कछू न नासा।
कहै कबीर ते कबहुँ न हारहिं घालि जु जानहिं पासा॥

माया महा ठगिनी हम जानीं ।
तिरगुन फाँसि लिए कर डोलै बोलै मधुरी बानी ॥
केसव कै कँवला होइ बैठी सिव कै भवन भवानी ।
पंडा कै मूरति होइ बैठी तीरथ हू में पानी ॥
जोगी के जोगिनी होइ बैठी राजा कै घरि रानी ।
काहू कैं हीरा होइ बैठी काहू कै कौड़ी कानी ॥
भगताँ के भगतिनि होइ बैठी तुरकाँ कै तुरकानी ।
दास कबीर साहेब का बंदा जाकै हाथि बिकानी ॥

[९]

अल्लह राम जिऊँ तेरै नाईं ।
बंदै ऊपरि मिहरि करो मेरै साँईं ॥

क्या लै माटी भुइँ सौं मारै क्या जल देह न्हवाएँ ।
खून करै मिसकीन कहावै गुनही रहै छिपाएँ ॥
क्या ऊजू जप मंजन कीएँ क्या मसीति सिरु नाएँ ।
दिल महिं कपट निवाज गुजारै क्या हज काबै जाएँ ॥
बाह्मन ग्यारसि करै चौबीसा काजी मह रमजाना ।
ग्यारह मास कहौ क्यूँ खाली एकहिं माहिं नियाना ॥
जौ रे खुदाइ मसीति बसतु है और मुलुक किस केरा ।
तीरथि मूरत राम निवासी दुहु महिं किनहुँ न हेरा ॥
पूरब दिसा हरी का वासा पच्छिमि अलह मुकामा ।
दिल महिं खोजि दिलै दिलि खोजहु इहँई रहीमा रामा ॥
जेते औरति मरद उपानैं सो सम रूप तुम्हारा ।
कबीर पुंगरा अलह राम का सोइ गुर पीर हमारा ॥

[१०]

पंडित बाद बदै सो झूठा।
राम कहें दुनियाँ गति पावै खाँड़ कहें मुख मीठा॥

पावक कहें पाँव जे दाझै जल कहें त्रिखा बुझाई।
भोजन कहें भूख जे भाजै तौ सब कोई तिरि जाई॥
नर कै सँगि सुवा हरि बोलै हरि परताप न जानै।
जौ कबहूँ उड़ि जाइ जंगल में बहुरि सुरति नहिं आनैं॥
बिनु देखे बिनु अरस परस बिनु नाम लिएँ का होई।
धन के कहैं धनिक जौ होई तौ निरधन रहै न कोई॥
साँची प्रीति बिखै माया सौं हरि भगतन सौं हाँसी।
कहै कबीर प्रेम नहिं उपजै तौ बाँधे जमपुर जासी॥

[११]

भूली मालिनी है एउ।
सतिगुरु जागता है देउ॥

पाती तोरै मालिनी पाती पाती जीउ।
जिसु मूरति कौं पाती तोरै सो मूरति निरजीउ॥
टाँचनहारे टाँचिया दै छाती ऊपरि पाउ।
जे तूँ मूरति साँचि है तौ गढ़नहारै खाउ॥
लाडू लावन लापसी पूजा चढ़ै अपार।
पूजि पुजारा लै गया दै मूरति कै मुहिं छार॥
पाती ब्रह्मा पुहुप बिसनू मूल फल महादेव।
तीनि देव प्रतखि तोरहि करहि किसकी सेव॥
मालिनी भूली जग भुलाना हम भुलानै नाहिं।
कहै कबीर हम राम राखे क्रिपा करि हरि राइ॥

साखी

सतगुर महिमा

सतगुरु मार्‍या बान भरि, धरि करि सूधी मूठि।
अंगि उघारै लागिया, गई दवा सूँ फूटि॥
कबीर गुर गरवा मिला, मिलि गया आटैं लौन।
जाति पाँति कुल सब मिटे, नाउँ धरौगे कौन॥
भली भई जो गुरु मिले, नहिंतर होती हानि।
दीपक जोति पतंग ज्यों, पड़ता पूरी जानि॥
माया दीपक नर पतँग, भ्रमि भ्रमि माहि पडंत।
कहै कबीर गुरु ग्यान तै, एक आध उबरंत॥
चेतन चौकी बैसि करि, सतगुर दीन्हीं धीर।
निर्भय होइ निसंक भजि, केवल कहैं कबीर॥
गुरु गोविंद तौ एक हैं, दूजा सब आकार।
आपा मेटैं हरि भजै, तब पावै दीदार॥
कबीर सतगुर ना मिला, रही अधूरी सीख।
स्वाँग जती का पहिरि करि, घरि घरि मागे भीख॥
सतगुर मेरा सूरिबाँ, ज्यों तातैं लोहि लुहार।
कसनी दै कंचन किया, ताइ लिया ततसार॥
निहचल निधि मिलाइ तत, सतगुरु साहस धीर।
निपजी मैं साझी धना, बाँटै नहीं कबीर॥
चौपड़ माड़ी चौहटै, अरध उरध बाजारि।
सतगुर सेती खेलताँ, कबहुँ न आवैं हारि॥

पाँसा पकड़ा प्रेम का, सारी किया सरीर।
सतगुर दाँव बताइया, खेलै दास कबीर॥

सतगुर हम सौं रीझि करि, कहा एक परसंग।
बरसा बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग॥

प्रेम बिरह

बिरह भुवंगम तन बसै, मंत्र न मानै कोइ।
राम बियोगी ना जिए, जिए त बउरा होइ॥

बिरह भुवंगम पैठि कै, किया करेजै घाउ।
साधू अंग न मोरहीं, ज्यौं भावै त्यौं खाउ॥

अंबरि कुंजा कुरलियाँ गरजि भरे सब ताल।
जिनतै साहिब बीछुरा, तिनको कौन हवाल॥

चकई बिछुरी रैनि की, आइ मिलै परभाति।
जे नर बिछुरे राम सों, ते दिन मिले न राति॥

झल ऊठी झोली जली, खपरा फूटसफूट।
जोगी था सो रमि गया, आसनि रही बिभूति॥

हिरदै भीतरि दौं बलै, धुवाँ न परगट होइ।
जाकै लागी सो लखे, कै जिहि लाई सोइ॥

बिरह की ओदी लाकड़ी, सपचै औ धुँधुवाइ।
छूटि पड़ै या बिरह तैं, जौ सगली जरि जाइ॥

बिरहिन उठि उठि भुइँ परै, दरसन कारन राम।
मूएँ दरसन देहुगे, सो आवै कौने काम॥

मूएँ पीछैं मति मिलौ, कहै कबीरा राम।
लोहा माटी मिलि गया, तब पारस कौनैं काम॥

मेरा पाया सरप का, भौसागर के माहिं।
जौ छाँड़ौं तौ बूड़िहौं, गहौं त डसिहैं बाँहिं॥

मारा है मरि जाइगा, बिन सर थोथी भालि।
परा कराहै बिरिछ तलि आजु मरै कै कालि॥

आगि जु लागी नीर महिं, काँदो जरिया झारि।
उतर दखिन के पंडिता, मुए बिचारि बिचारि॥

जाहु बैद घर आपने, तेरा किया न होइ।
जिन या वेदन निरमइ, भला करैगा सोइ॥

वासुरि सुख ना रैनि सुख, ना सुख सुपिनै माहिं।
कबीर बिछुड़े रामसों, ना सुख धूप न छाँहिं॥

बिरहा बिरहा मति कहो, बिरहा है सुलतान।
जिहिं घटि बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान॥

सब रग ताँति रबाब तन, बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुनि सकै, कै साँई कै चित्त॥

बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिय तरसै तुझ मिलन को, मन नाही बिसराम॥

अँदेसौ नहिं भाजिसी, सँदेसौ कहियाँह।
कै हरि आयाँ भाजिसी, कै हरि पासि गयाँह॥

यहु तनु जारौं मसि करौं, ज्यूँ धूवाँ जाइ सरग्गि।
मति वै राम दया करै, बरसि बुझावै अग्गि॥

यहु तन जारौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउँ।
लेखनि करौं करंक की, लिखि लिखि राम पठाउँ॥

इस तन का दीवा करौं, बाती मेलौं जीव।
लोही सींचों तेल ज्यौं, तब मुख देखौं पीव॥

परबति परबति मैं फिरा, नैन गँवाया रोइ।
सो बूटी पाऊँ नहीं, जातै जीवन होइ॥

नैन हमारे बावरे, छिन छिन लोरैं तुज्झ।
ना तूँ मिलै न मैं सुखी, ऐसी वेदनि मुज्झ॥

कमोदिनीं जलहरि बसै, चंदा बसै अकासि।
जो है जाका भावता, सो ताही कै पासि॥

गुर जौ बसै बनारसी, सीख समुंदर तीर।
बीसारे नहीं बीसरे, जौ गुन होइ सरीर॥

जो है जाका भावता, जदि तदि मिलिहै आइ।
जाकों तन मन सौंपिया, सो कबहूँ छाँडि न जाइ॥

स्वामीं सेवक एक मत, मत मैं मत मिलि जाइ॥
चतुराई रीझै नहीं, रीझै मन कै भाइ॥

दीपक पावक आनिया, तेल भी आना संग।
तीनौं मिलि कै जारिया, तब उड़ि उड़ि परैं पतंग॥

सुमिरन भजन महिमा

तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझ मै रही न हूँ।
बारी तेरे नाउँ परि, जित देखौं तित तूँ॥

भगति भजन हरि नाउ है, दूजा दुक्ख अपार।
मनसा बाचा कर्मना, कबीर सुमिरन सार॥

चिंता तौ हरि नाउँ की, और न चितवै दास।
जो कछु चितवै राम बिनु, सोई काल की पास॥

जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस पुनि रसना नहिं राम।
ते नर आइ संसार मै, उपजि खए बेकाम॥

पहिलै बुरा कमाइ करि, बाँधी बिख की पोट।
कोटि करम फिल पलक में, जब आया हरि की ओट।।

कोटि करम फिल पलक में, जे रंचक आवै नाउँ।
जुग अनेक जो पुंनि करै, नहीं नाउँ बिनु ठाउँ।।

लंबा मारग दूरि घर, बिकट पंथ बहु मार।
कहौ संतो क्यों पाइए, दुरलभ हरि दीदार।।

तत्त तिलक तिहुँ लोक में, राम नाम निज सार।
जन कबीर मस्तकि दिया, सोभा अनंत अपार।।

कबीर सुमिरन सार है, और सकल जंजाल।
आदि अंत सब सोधिया, दूजा देखौं काल।।

पाँच संगि पिउ पिउ करैं, छठा जो सुमिरे मंन।
आई सूति कबीर की, पाया राम रतंन।।

महात्मा सूरदास

विनय

[१]

अबिगत-गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगै मीठे फल कौ रस अंतरगत ही भावै।
परम स्वाद सबही सु निरंतर अमित तोष उपजावै।
मन-बानी कौं अगम-अगोचर, सो जानै जो पावै।
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु निरालंब कित धावै।
सब बिधि अगम बिचारहिं तातैं सूर सगुन-पद गावै॥

[२]

मेरौ मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पच्छी, फिरि जहाज पर आवै।
कमल-नैन कौं छाँड़ि महातम, और देव कौं ध्यावै॥
परम गंग कौं छाँड़ि पियासौ, दुरमति कूप खनावै।
जिहिं मधुकर अंबुज-रस चाख्यौ, क्यौं करील-फल भावै।
सूरदास-प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै॥

[३]

अचंभौ इन लोगनि कौ आवै।
छाँड़ैं स्याम-नाम-अम्रित फल, माया-विष-फल भावै।
निंदत मूढ़ मलय चंदन कौं, राख अंग लपटावै।

मानसरोवर छाँड़ि हंस तट काग-सरोवर न्हावै।
पग तर जरत न जानै मूरख, घर तजि घूर बुझावै।
चौरासी लख जोनि स्वाँग धरि, भ्रमि-भ्रमि जमहिं हँसावै।
मृगतृष्ना आचार-जगत जल, ता सँग मन ललचावै।
कहतु जु सूरदास संतनि मिलि हरि जस काहे न गावै!

शिशु कृष्ण

[१]

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।
मनिमय कनक नंद कैं आँगन, बिंब पकरिबै धावत।
कबहुँ निरखि हरि आपु छाँह कौं, कर सौं पकरन चाहत।
किलकि हँसत राजत द्वै दतियाँ, पुनि-पुनि तिहिं अवगाहत।
कनक-भूमि पर कर-पग-छाया, यह उपमा इक राजति।
करि-करि प्रतिपद प्रतिमनि बसुधा, कमल बैठकी साजति।
बालदसा-सुख निरखि जसोदा, पुनि-पुनि नन्द बुलावति।
अँचरा तर लै ढाँकि, सूर के प्रभु कौं दूध पियावति॥

माखन चोरी

[१]

गोपालहिं माखन खान दै।
सुनि री सखी, मौन ह्वै रहिऐ, बदन दही लपटान दै।
गहि बहियाँ हौं लैकै जैहौं, नैननि तपनि बुझान दै।
याकौ जाइ चौगुनी लैहौं, मोहिं जसुमति लौं जान दै।
तू जानति हरि कछू न जानत, सुनत मनोहर कान दै।
सूर स्याम ग्वालिन बस कीन्हीं, राखति तन-मन-प्रान दै॥

[२]

जसुदा कहँ लौं कीजै कानि।
दिन-प्रति कैसे सही परति है, दूध-दही की हानि।
अपने या बालक की करनी, जौ तुम देखौ आनि।
गोरस खाइ, खवावै लरिकनि, भाजत भाजन भानि।
मैं अपने मंदिर के कोनैं, राख्यौ माखन छानि।
सोई जाइ तिहारै ढोटा, लीन्हो है पहिचानि।
बूझि ग्वालि निज गृह मैं आयौ, नैकु न संका मानि।
सूर स्याम यह उतर बनायौ, चींटी काढ़त पानि॥

[३]

अब ये झूठहु बोलत लोग।
पाँच बरष अरु कछुक दिननि कौ, कब भयौ चोरी जोग।
इहिं मिस देखन आवति ग्वालिनि, मुँह फाटे जु गँवारि।
अनदोषे कौ दोष लगावतिं, दई देइगौ टारि।
कैसै करि याकी भुज पहुँची, कौन बेग ह्याँ आयौ ?
ऊखल ऊपर आनि, पीठि दै, तापर सखा चढ़ायौ।
जौ न पत्याहु चलो सँग जसुमति देखौ नैन निहारि।
सूरदास प्रभु नैकु न बरजौ, मन मैं महरि बिचारि॥

गोपाल कृष्ण

[१]

मैया बहुत बुरौ बलदाऊ।
कहन लग्यौ बन बड़ो तमासौ, सब मौड़ा मिलि आऊ।
मोहूँ कौं चुचकारि गयौ लै, जहाँ सघन बन झाऊ।
भागि चलौ कहि गयौ उहाँ तै, काटि खाइ रे हाऊ।
हौं डरपौं, काँपौं अरु रोवौं, काउ नहिं धीर धराऊ।

थरसि गयौ नहिं भागि सकौ, वै भागे जात अगाऊ।
मौसौं कहत मोल कौ लीनो, आपु कहावत साऊ।
सूरदास बल बड़ौ चबाई, तैसेहिं मिले सखाऊ॥

[२]

मैया हौं न चरैहौं गाइ।
सिगरे ग्वाल घिरावत मोसौं, मेरे पाँइ पिराइ।
जौ न पत्याहि पूछि बलदाउहिं, अपनी सौंह दिवाइ।
यह सुनि माइ जसोदा ग्वालनि, गारी देति रिसाइ।
मैं पठवति अपने लरिका कौं, आवै मन बहराइ।
सूर स्याम मेरौ अति बालक, मारत ताहि रिंगाइ॥

कालीय दमन

[१]

गोपाल राइ निरतत फन-प्रति ऐसे।
गिरि पर आए बादर देखत, मोर अनंदित जैसे।
डोलत मुकुट सीस पर हरि के, कुंडल-मंडित गंड।
पीत बसन, दामिन मनु घन पर, तापर सुर-कोदंड।
उरग-नारि आगैं सब ठाढ़ीं, मुख मुख अस्तुति गावैं।
सूर स्याम अपराध छमहु अब, हम माँगैं पति पावैं॥

मुरली मनोहर

[१]

जब हरि मुरली अधर धरत।
थिर चर, चर थिर, पवन थकित रहै, जमुना जल न बहत।
खग मोहैं मृग-जूथ भुलाहीं, निरखि मदन छबि छरत।
पसु मोहैं, सुरभी विथकित, तृन दंतनि टेकि रहत॥

सुक सनकादि सकल मुनि मोहैं, ध्यान न तनक गहत।
सूरदास भाग हैं तिनके, जे या सुखहिं लहत॥

[२]

मुरलिया कपट चतुरइ ठानी।
कैसें मिलि गई नंद-नंदन कों, उन नाहिंन पहिचानी॥
इक वह नारि, वचन मुख मीठे, सुनत स्याम ललचाने।
जाति-पाँति की कौन चलावै, वाकै रंग भुलाने॥
जाकौ मन मानत है जासौं, सो तहँई सुख मानै।
सूर स्याम वाके गुन गावत, वह हरि के गुन गानै॥

[३]

मेरे दुख कौ ओर नहीं।
षट रितु सीत उष्न बरषा मैं ठाढ़े पाइ रही॥
कसकी नहीं नैकुहूँ काटत, घामैं राखी डारि।
अगिनि सुलाक देत नहीं मुरकी, बेह बनावत जारि॥
तुम जानति मोहिं बाँस बँसुरिया अगिनि छाप दै आई।
सूर स्याम ऐसे तुम लेहु न, खिझति कहा हौ माई॥

कारी कमरी

[१]

यह कमरी कमरी करि जानति।
जाके जितनी बुद्धि हृदय में, सो तितनौ अनुमानति॥
या कमरी के एक रोम पर, वारौं चीर पटंबर।
सो कमरी तुम निंदति गोपी, जो तिहु लोक अडंबर॥
कमरी कै बल असुर संहारे, कमरिहिं तैं सब भोग।
जाति-पाँति कमरी सब मेरी, सूर सबै यह जोग॥

गिरिधारण

[१]

गिरि जनि गिरै स्याम के कर तैं ।
करत बिचार सबै ब्रजबासी, भय उपजत अति उर तैं ।।
लै-लै लकुट ग्वाल सब धाए, करत सहाय जु तुरतैं ।
यह अति प्रबल, स्याम अति कोमल, रबकि रबकि हरबर तैं ।।
सप्त दिवस कर पर गिरि धार्‌यौ, बरसि थक्यौ अंबर तैं ।
गोपी ग्वाल नंद-सुत राख्यौ, मेघ-धार जलधर तैं ।।
जमलार्जुन दोउ सुत कुबेर के, तेउ उखारे जर तैं ।
सूरदास प्रभु इंद्र-गर्ब हरि, ब्रज राख्यौ करबर तैं ।।

[२]

भुजनि बहुत बल होइ कन्हैया ।
बार-बार भुज देखि तनक से, कहति जसोदा मैया ।।
स्याम कहत नहिं भुजा पिरानी, ग्वालनि कियौ सहैया ।
लकुटिनि टेकि सबनि मिलि राख्यौ, अरु बारा नंदरैया ।।
मोसौं क्यौं रहतौ गोबरधन, अतिहिं बड़ौ वह भारी ।
सूर स्याम यह कहि परबोध्यौ चकित देखि महतारी ।।

गोपिकारमण

[१]

मानौ माई घन-घन अंतर दामिनि ।
घन दामिनि दामिनि घन अंतर, सोभित हरि-ब्रज-भामिनि ।।
जमुन पुलिन मल्लिका मनोहर, सरद-सुहाई-जामिनि ।
सुंदर ससि गुन रूप-राग-निधि, अंग-अंग अभिरामिनि ।।
रच्यौ रास मिलि रसिक राइ सौं, मुदित भई गुन ग्रामिनि ।
रूप-निधान स्याम सुंदर तन, आनंद मन बिस्रामिनि ।।

खंजन-मीन-मयूर-हंस-पिक भाइ-भेद गज-गामिनि।
को गति गनैं सूर मोहन संग, काम बिमोह्यौ कामिनि॥

[२]

यह जानति तुम नंदमहर-सुत।
धेनु दुहत तुमकौं हम देखतिं, जबहिं जाति खरिकहिं उत॥
चोरी करत यहौ पुनि जानति, घर-घर ढूँढ़त भाँड़े।
मारग रोकि भए अब दानी, ये ढंग कब तैं छाँड़े॥
और सुनौ जसुमति जब बाँधे, तब हम कियौ सहाइ।
सूरदास-प्रभु यह जानति हम, तुम ब्रज रहत कन्हाइ॥

[३]

जाइ सबै कंसहि गुहरावहु।
दधि माखन घृत लेत छुड़ाए, आजु हजूर बुलावहु॥
ऐसे कौं कहि मोहिं बतावति, पल भीतर गहि मारौं।
मथुरापतिहिं सुनौगी तुमहीं, जब धरि केस पछारौं॥
बार-बार दिन हमहिं बतावति, अपनौ दिन न बिचार्‌यौ।
सूर इंद्र ब्रज जबहिं बहावत, तब गिरि राखि उबार्‌यौ॥

[४]

सुनहु बात जुवती इक मेरी।
तुमतैं दूरि होत नहिं कबहूँ, तुम राख्यौ मोहिं घेरी।
तुम कारन बैकुंठ तजत हौं, जनम लेत ब्रज आइ।
बृंदावन राधा-गोपी सँग, यह नहिं बिसर्‌यौ जाइ॥
तुम अंतर-अंतर कह भाषति, एक प्रान द्वै देह।
क्यौं राधा ब्रज बसैं बिसारौं, सुमिरि पुरातन नेह॥
अब घर जाहु दान मैं पायौ, लेखा कियौ न जाइ।
सूर स्याम हँसि-हँसि जुवतिनि सौं, ऐसी कहत बनाइ॥

[५]

एक गाउँ के बास सखी हौं, कैसें धीर धरौं।
लोचन-मधुप अटक नहिं मानत, जद्यपि जतन करौं॥
वै इहिं मग नित प्रति आवत हैं, हौं दधि लै निकरौं।
पुलकित रोम-रोम, गद्गद सुर, आनँद उमँग भरौं॥
पल अंतर चलि जात, कलप वर बिरहा अनल जरौं।
सूर सकुच कुल-कानि कहाँ लगि, आरज-पथहिं डरौं॥

[६]

देखौ माई सुंदरता को सागर।
बुधि-बिबेक बल पार न पावत, मगन होत मन-नागर॥
तनु अति स्याम अगाध अंबु-निधि, कटि पट पीत तरंग।
चितवत चलत अधिक रुचि उपजति, भँवर परति सब अंग॥
नैन-मीन मकराकृत कुंडल, भुज सरि सुभग भुजंग।
मुक्ता-माल मिलीं मानौ द्वै, सुरसरि एकै संग॥
कनक खचित मनिमय आभूषन, मुख स्रम-कन सुख देत।
जनु जल-निधि मथि प्रगट कियौ ससि, श्री अरु सुधा समेत॥
देखि सरूप सकल गोपी जन, रहीं बिचारि-बिचारि।
तदपि सूर तरि सकीं न सोभा, रहीं प्रेम पचि हारि॥

[७]

नटवर-वेष धरैं ब्रज आवत।
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल, कुटिल अलक मुख पर छबि पावत॥
भ्रकुटी बिकट नैन अति चंचल इहिं छबि पर उपमा इक आवत।
धनुष देखि खंजन बिबि डरपत, उड़ि न सकत उड़िबै अकुलावत॥
अधर अनूप मुरलि-सुर पूरित, गौरी राग अलापि बजावत।
सुरभी-बृंद गोप-बालक-सँग, गावत अति आनंद बढ़ावत॥

कनक-मेखला कटि पीतांबर, निर्तत मंद-मंद सुर गावत।
सूर स्याम प्रति-अंग-माधुरी, निरखत ब्रज-जन कें मन भावत ॥

[८]

उपमा हरि तनु देखि लजानी।
कोउ जल में, कोउ बननि रहीं दुरि, कोउ कोउ गगन समानी ॥
मुख निरखत ससि गयौ अंबर कौं, तड़ित दसन-छवि हेरि।
मीन कमल, कर चरन नयन डर, जल मैं कियौ बसेरि ॥
भुजा देखि अहिराज लजाने, बिवरनि पैठे धाइ।
कटि निरखत केहरि डर मान्यौ, बन-बन रहे दुराइ ॥
गारी देहिं कबिनि कें बरनत, श्री-अँग पटतर देत।
सूरदास हमकौं सरमावत, नाउँ हमारौ लेत ॥

[९]

नैना घूँघट मैं न समात।
सुंदर बदन नंद-नंदन कौ, निरखि-निरखि न अघात ॥
अति रस-लुब्ध महा मधु लंपट, जानत एक न बात।
कहा कहौं दरसन-सुख मातें, ओट भएँ अकुलात ॥
बार बार बरजत हौं हारी, तऊ टेव नहिं जात।
सूर तनक गिरिधर बिनु देखें, पलक कलप सम जात ॥

राधिका-वल्लभ

[१]

खेलत हरि निकसे ब्रज-खोरी।
कटि कछनी पीताम्बर बाँधें, हाथ लए भौंरा, चक, डोरी ॥
मोर-मुकुट, कुंडल स्रवननि बर, दसन-दमक दामिनि-छबि छोरी।
गए स्याम रवि-तनया के तट, अंग लसति चंदन की खोरी ॥

औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल भाल दियें रोरी।
नील बसन फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठि रुलति झकझोरी।।
संग लरिकिनी चलि इत आवति, दिन-थोरी, अति छबि तन-गोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझे, नैन-नैन मिलि परी ठगोरी।।

[२]

ब्रज बसि काके बोल सहौं।
तुम बिनु स्याम और नहिं जानौं, सकुचि न तुमहिं कहौं।।
कुल की कानि कहा लै करिहौं तुमकौं कहाँ लहौं।
धिक माता, धिक पिता बिमुख तुव भावै तहाँ बहौं।।
कोउ कछु करै, कहै कछु कोऊ, हरष न सोक गहौं।
सूर स्याम तुमकौं बिनु देखें, तनु मन जीव दहौं।।

[३]

ब्रजहिं बसैं आपुहिं बिसरायौ।
प्रकृति पुरुष एकहिं करि जानहु, बातनि भेद करायौ।।
जल थल जहाँ रहौं तुम बिनु नहिं बेद उपनिषद गायौ।
द्वै-तन जीव एक हम दोऊ, सुख-कारन उपजायौ।।
ब्रह्म-रूप द्वितिया नहिं कोऊ, तब मन तिया जनायौ।
सूर स्याम-मुख देखि अलप हँसि, आनँद-पुंज बढ़ायौ।।

[४]

स्याम सखि नीकैं देखे नाहिं।
चितवत ही लोचन भरि आए, बार-बार पछिताहिं।।
कैसेहुँ करि इक टक मैं राखति, नैकहिं मैं अकुलाहिं।
निमिष मनौ छबि पर रखवारे, तातैं अतिहिं डराहिं।।

कहा करैं इनकौ कह दूषन, इन अपनी सी कीन्ही।
सूर स्याम-छवि पर मन अटक्यौ, उन सब सोभा लीन्ही ॥

[५]

राधा परम निर्मल नारि।
कहति हौं मन कर्मना करि, हृदय-दुविधा टारि ॥
स्याम कौं इक तुहीं जान्यौ, दुराचारिनि और।
जैसे घट-पूरन न डोलै, अधभरौ डगडौर ॥
धनी धन कबहूँ न प्रगटै, धरै ताहि छिपाइ।
तैं महानग स्याम पायौ, प्रगटि कैसैं जाइ ॥
कहति हौं यह बात तोसौं, प्रगट करिबौ नाहिं।
सूर सखी सुजान राधा, परसपर मुसुकाहिं ॥

[६]

जौ बिधना अपबस करि पाऊँ।
तौ सखि कह्यौ होइ कछु तेरौ, अपनी साध पुराऊँ ॥
लोचन रोम-रोम-प्रति माँगौं, पुनि-पुनि त्रास दिखाऊँ।
इकटक रहैं पलक नहिं लागैं, पद्धति नई चलाऊँ ॥
कहा करौं छवि-रासि स्यामघन, लोचन द्वै नहिं ठाऊँ।
एते पर ये निमिष सूर सुनि, यह दुख काहि सुनाऊँ ॥

[७]

धन्य धन्य वृषभानु कुमारी।
धनि माता, धनि पिता तिहारे तोसी ज्याई बारी ॥
धन्य दिवस, धनि निसा तबहिं की, धन्य घरी, धनि जाम।
धन्य कान्ह तेरे बस जे हैं, धनि कीन्हे बस स्याम ॥
धनि मति, धनि रति, धनि तेरौ हित, धन्य भक्ति, धनि भाउ।
सूर स्याम पति धन्य नारि तू, धनि-धनि एक सुभाउ ॥

[८]

राधेहि मिलेहुँ प्रतीति न आवति ।
जदपि नाथ-बिधु बदन बिलोकत, दरसन को सुख पावति ।।
भरि-भरि लोचन रूप-परम-निधि, उर मैं आनि दुरावति ।
बिरह-बिकल-मतिदृष्टि दुहूँ दिसि, सँचि सरधा ज्यों धावति ।।
चितवत चकित रहति चित अंतर, नैन निमेष न लावति ।
सपनो आहि कि सत्य ईस, यह बुद्धि बितर्क बनावति ।।
कबहुँक करति बिचार कौन हौं को हरि कैं हिय भावति ।
सूर प्रेम की बात अटपटी, मन तरंग उपजावति ।।

[९]

खंजन नैन सुरँग रस माते ।
अतिसय चारु बिमल, चंचल ये, पल पिंजरा न समाते ।
बसे कहूँ सोइ बात सखी, कहि रहे इहाँ किहिं नातैं ?
सोइ संग्या देखति औरासी, बिकल उदास कला तैं ।।
चलि-चलि जात निकट स्रवननि के सकि ताटंक फँदातें ।
सूरदास अंजन गुन अटके, नतरु कबै उड़ि जाते ।।

[१०]

यह ऋतु रूसिबे की नाहीं ।
बरषत मेघ मेदिनी कैं हित, प्रीतम हरषि मिलाहीं ।।
जेती बेलि ग्रीष्म ऋतु डाहीं, ते तरवर लपटाहीं ।
जे जल बिनु सरिता ते पूरन, मिलन समुद्रहिं जाहीं ।।
जोबन धन है दिवस चारि कौ, ज्यौं बदरी की छाहीं ।
मैं दंपति-रस-रीति कही है, समुझि चतुर मन माहीं ।
यह चित धरि री सखी राधिका, दै दूती कौं बाहीं ।
सूरदास उठि चलि री प्यारी, मेरे सँग पिय पाहीं ।।

मथुरा प्रवासी कृष्ण

[१]

बिछुरत श्री ब्रजराज आजु, इनि नैननि की परतीति गई ।
उड़ि न गए हरि संग तबहिं तैं, ह्वै न गए सखि स्याममई ।।
रूप रसिक लालची कहावत, सो करनी कछुवै न भई ।
साँचे क्रूर कुटिल ये लोचन, बृथा मीन-छबि छीन लई ।।
अब काहैं जल-मोचत, सोचत, समौ गए तैं सूल नई ।
सूरदास याही तैं जड़ भए पलकनिहूँ हठि दगा दई ।।

[२]

गोपालराइ हौं न चरन तजि जैहौं ।
तुमहिं छाँड़ि मधुबन मेरे मोहन, कहा जाइ ब्रज लैहौं ।।
कैहौं कहा जाइ जसुमत सौं, जब सनमुख उठि ऐहै ।
प्रात समय दधि मथत छाँड़ि कैं, काहि कलेऊ दैहै ।।
बारह बरस दियौ हम ढीठौ, यह प्रताप बिनु जाने ।
अब तुम प्रगट भए बसुद्यौ-सुत गर्ग बचन परमाने ।।
रिपु हति काज सबै कत कीन्हौ, कत आपदा बिनासी ।
डारि न दियौ कमल कर तैं गिरि, दबि मरते ब्रजबासी ।।
बासर संग सखा सब लीन्हें, टेरि न धेनु चरैहौ ।
क्यौं रहिहैं मेरे प्रान दरस बिनु, जब संध्या नहिं ऐहौ ।।
ऊरध स्वाँस चरन गति थाकी, नैन नीर भरहाइ ।
सूर नंद बिछुरन की वेदनि, मो पै कही न जाइ ।।

[३]

नंद हरि तुमसौं कहा कह्यौ ।
सुनि सुनि निठुर बचन मोहन के, कैसैं हृदय रह्यौ ।।
छाँड़ि सनेह चले मंदिर कत, दौरि न चरन गह्यौ ।
दरकि न गई बज्र की छाती, कत यह सूल सह्यौ ।।

सुरति करति मोहन की बातैं, नैननि नीर बह्यो।
सुधि न रही अति गलित गात भयौ, मनु डसि गयौ अह्यौ॥
उन्हैं छाँड़ि गोकुल कत आए, चाखन दूध दह्यौ।
तजे न प्रान सूर दसरथ लौं, हुतौ जन्म निबह्यौ॥

[४]

देखियति कालिंदी अति कारी।
अहो पथिक कहियौ उन हरि सौं, भई बिरह जुर जारी॥
गिरि-प्रजंक तैं गिरति धरनि धसि, तरँग तरफ तन भारी।
तट बारू उपचार चूर, जल-पूर प्रस्वेद पनारी॥
बिगलित कच कुस काँस कूल पर, पंक जु काजल सारी।
भौंरै भ्रमत अतिफिरति भ्रमित गति,निसि दिसि दीन दुखारी॥
निसि दिन चकई पिय जु रटति है, भई मनौ अनुहारी।
सूरदास-प्रभु जो जमुना गति, सो गति भई हमारी॥

[५]

आजु घन स्याम की अनुहारि।
आए उनइ साँवरे सजनी, देखि रूप की आरि॥
इंद्र धनुष मनु पीत बसन छबि, दामिनि दसन बिचारि।
जनु बगपाँति माल मोतिनि की, चितवत चित्त निहारि॥
गरजत गगन गिरा गोबिंद मनु, सुनत नयन भरे बारि।
सूरदास गुन सुमिरि स्याम के, बिकल भई ब्रजनारि॥

भ्रमरगीत

[१]

निरखति अंक स्याम सुन्दर के बार बार लावति लै छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गई स्याम स्याम जू की पाती॥

गोकुल बसत नंदनंदन के, कबहुँ बयारि न लागी तात।।
अरु हम उती कहा कहें ऊधौ, जब सुनि बेनु नाद सँग जाती।।
उनकैं लाड़ बदति नहिं काहूँ, निसि दिन रसिक-रास-रस राती।
प्राननाथ तुम कबहिं मिलौगे, सूरदास-प्रभु बाल-सँघाती।।

[२]

मधुकर हम न होहिं वै बेलि।
जिन भजि तजि तुम फिरत और रँग, करन कुसुम-रस-केलि।।
बारे तैं बर बारि बढ़ी हैं, अरु पोषी पिय पानि।
बिनु पिय परस प्रात उठि फूलत, होति सदा हित हानि।।
ये बेली बिरही बृंदाबन, उरझीं स्याम तमाल।
प्रेम-पुहुप-रसबास हमारे बिलसत मधुप गोपाल।।
जोग समीर धीर नहिं डोलतिं, रूप डार दृढ़ लागीं।
सूर पराग न तजति हिए तैं, श्री गुपाल अनुरागीं।।

[३]

ऊधौ हम आजु भईं बड़-भागी।
जिन अँखियनि तुम स्याम बिलोके, ते अँखियाँ हम लागीं।।
जैसैं सुमन बास लै आवत, पवन मधुप अनुरागी।
अति आनंद होत है तैसैं, अंग-अंग सुख रागी।।
ज्यौं दरपन में दरस देखियत, दृष्टि परम रुचि लागी।
तैसें सूर मिले हरि हमकौं, बिरह-बिथा तन त्यागी।।

[४]

उपमा नैन न एक रही।
कबि जन कहत-कहत सब आए, सुधि करि नाहिं कही।।
कहि चकोर बिधु मुख बिनु जीवत, भ्रमर नहीं उड़ि जात।
हरि-मुख कमल कोष बिछुरे तैं ठाले कत ठहरात।।

ऊधौ बधिक ब्याध ह्वै आए, मृग सम क्यों न पलात।
भागि जाहिं बन सघन स्याम मैं, जहाँ न कोऊ घात॥
खंजन मन-रंजन न होहिं ये, कबहुँ नहीं अकुलात।
पंख पसारि न होत चपल गति, हरि समीप मुकुलात॥
प्रेम न होइ कौन बिधि कहियै, झूठैं ही तन आड़त।
सूरदास मीनता कछू इक, जल भरि कबहुँ न छाँड़त॥

[५]

मधुकर भली करी तुम आए।
वै बातैं कहि-कहि या दुख मैं, ब्रज के लोग हँसाए॥
मोर मुकुट मुरली पीतांबर, पठवहु सौंज हमारी।
आपुन जटाजूट, मुद्रा धरि, लीजै भस्म अधारी॥
कौन काज बृंदावन कौ सुख, दही भात की छाक।
अब वै स्याम कूबरी दोऊ, बने एक ही ताक॥
वै प्रभु बड़े सखा तुम उनके, जिनकैं सुगम अनीति।
या जमुना जल कौ सुभाव यह, सूर बिरह की प्रीति॥

[६]

हमारैं हरि हारिल की लकरी।
मनक्रम बचन नंद-नंदन उर, यह दृढ़ करि पकरी॥
जागत सोवत स्वप्न दिवस-निसि, कान्ह-कान्ह जकरी।
सुनत जोग लागत है ऐसौ, ज्यौं करुई ककरी॥
सु तौ ब्याधि हमकौं लै आए, देखी सुनी न करी।
यह तौ सूर तिनहिं लै सौंपौ, जिनके मन चकरी॥

[७]

ऊधौ इतनी कहियौ बात।
मदन गुपाल बिना या ब्रज मैं, होन लगे उतपात॥

तृनावर्त, बक, बकी, अघासुर, धेनुक फिरि-फिरि जात।
व्योम, प्रलंब, कंस केसी इत, करत जिअनि की घात।
काली काल-रूप दिखियत है, जमुना जलहिं अन्हात।
बरुन फाँस फाँस्यौ चाहत है, सुनियत अति मुरझात।
इन्द्र आपने परिहँस कारन, बार बार अनखात।
गोपी, गाइ, गोप, गोसुत सब, थर थर काँपत गात॥
अंचल फारति जननि जसोदा, पाग लिये कर तात।
लागौ बेगि गुहारि सूर-प्रभु, गोकुल बैरिनि घात॥

[८]

अति मलीन बृषभानु-कुमारी।
हरि स्रम-जल भीज्यौ उर-अंचल,
तिहिं लालच न धुवावति सारी॥
अधमुख रहति अनत नहिं चितवति,
ज्यौं गथ हारे थकित जुवारी।
छूटे चिकुर बदन कुम्हिलाने,
ज्यौं नलिनी हिमकर की मारी॥
हरि सँदेस सुनि सहज मृतक भइ,
इक बिरहिनि, दूजे अलि जारी।
सूरदास कैसैं करि जीवैं,
ब्रज बनिता बिन स्याम दुखारी॥

पुनर्मिलन

[१]

हरि सौं बूझति रुकमिनि इनमैं कौं बृषभानु किसोरी।
बारक हमैं दिखावहु अपने बालापन की जोरी॥

जाकौं हेत निरंतर लीन्हें, डोलत ब्रज की खोरी।
अति आतुर ह्वै गाइ दुहावन, जाते पर-घर चोरी॥
रचते सेज स्वकर सुमननि की, नव-पल्लव पुट तोरी।
बिन देखैं ताके मन तरसै, छिन बीतै जुग कोरी॥
सूर सोच सुख करि भरि लोचन, अंतर प्रीति न थोरी।
सिथिल गात मुख बचन फुरत नहिं, ह्वै जु गई मति भोरी॥

[२]

राधा माधव, भेंट भई।
राधा माधव, माधव राधा, कीट-भृंग गति ह्वै जु गई॥
माधव राधा के रंग राँचे, राधा माधव रंग रई।
माधव राधा प्रीति निरंतर, रसना करि सो कहि न गई॥
बिहँसि कह्यौ हम तुम नहिं अंतर, यह कहिकैं उन ब्रज पठई।
सूरदास प्रभु राधा माधव, ब्रज-विहार नित नई नई॥

नन्ददास

महारास

नव मर्कत-मनि स्याम कनक-मनिगन व्रज बाला।
वृंदावन को रीझि मनहुँ पहिराई माला ॥ १ ॥
नूपुर, कंकन, किंकिनि करतल मंजुल मुरली।
ताल मृदंग उपंग चंग एकै सुर जुरली ॥ २ ॥
मृदुल मुरज टंकार तार झंकार मिली धुनि।
मधुर जंत्र की सार भँवर गुंजार रली पुनि ॥ ३ ॥
तैसिय मृदु पद पटकनि चटकनि करतारन की।
लटकनि मटकनि झलकनि कल कुंडल हारन की ॥ ४ ॥
साँवरे पिय सँग निरतत चंचल व्रज की बाला।
मनु घन-मंडल खेलत मंजुल चपला माला ॥ ५ ॥
चंचल रूप लतनि सँग डोलति जनु अलि सैनी।
छबिली तियन के पाछें आछें बिलुलित बैनी ॥ ६ ॥
ग्रीव ग्रीव भुज मेलि केलि कमनीय बढ़ी अति।
लटकि लटकि वह निर्त्तनि कापै कहि आवै गति ॥ ७ ॥
अद्भुत रस रह्यो रास गीत धुनि सुनि मोहे मुनि।
सिला सलिल ह्वै चली सलिल ह्वै रह्यो सिला पुनि ॥ ८ ॥
पवन थक्यौ, ससि थक्यौ, थक्यौ उडु-मंडल सिगरौ।
पाछें रबि रथ थक्यौ, चलै नहिं आगे डगरौ ॥ ९ ॥
थकित सरद की रजनी न जनी केतिक बाढ़ी।
विहरत सजनी स्याम जथा रुचि अति रति बाढ़ी ॥१०॥

यह अद्भुत रस-रासि कहत कछु नहिं कहि आवै।
सुकु सनकादिक नारद सारद अतिसय भावै ॥११॥
बिनु अधिकारी भए नहिंन बृंदावन सूझै।
रेनु कहाँ तें सूझै जब लौं बस्तु न बूझै ॥१२॥
निपट निकट घट में ज्यों अंतरजामी आही।
विषय वदूषित इंद्री पकरि सकैं नहिं ताही ॥१३॥
यह उज्जल रस-माल कोटि जतनन कै पोई।
सावधान ह्वै पहिरौ यहि तोरौ जिनि कोई ॥१४॥
श्रवन-कीर्तन सार सार सुमिरन को है पुनि।
ज्ञान-सार हरि-ध्यान-सार स्तुतिसार गहन गुनि ॥१५॥
अघ-हरनी मन-हरनी सुंदर प्रेम वितरनी।
'नंददास' के कंठ बसौ नित मंगल-करनी ॥१६॥

गोस्वामी तुलसीदास

(रामचरितमानस)

शृंगवेरपुर प्रसंग

उठे लखनु प्रभु सोवत जानी। कहि सचिवहि सोवन मृदु बानी॥
कछुक दूर सजि बान सरासन। जागन लगे बैठि बीरासन॥
गुहँ बोलाइ पाहरू प्रतीती। ठावँ ठावँ राखे अति प्रीती॥
आपु लखन पहिं बैठेउ जाई। कटि भाथी सर चाप चढ़ाई॥
सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयउ प्रेमबस हृदयँ बिषादू॥
तनु पुलकित जल लोचन बहई। बचन सप्रेम लखन सन कहई॥
भूपति भवनु सुभायँ सुहावा। सुरपति सदनु न पटतर पावा॥
मनिमय रचित चारु चौबारे। जनु रतिपति निज हाथ सँवारे॥

दो०—सुचि सुबिचित्र सुभोगमय सुमन सुगंध सुबास।
पलँग मंजु मनि दीप जहँ सब बिधि सकल सुपास॥ १॥

बिबिध बसन उपधान तुराईं। छीर फेन मृदु बिसद सुहाईं॥
तहँ सिय रामु सयन निसि करहीं। निज छबि रति मनोज मदु हरहीं॥
ते सिय रामु साथरीं सोए। श्रमित बसन बिनु जाहिं न जोए॥
मातु पिता परिजन पुरबासी। सखा सुसील दास अरु दासी॥
जोगवहिं जिन्हहि प्रान की नाईं। महि सोवत तेइ राम गोसाईं॥
पिता जनकु जग बिदित प्रभाऊ। ससुर सुरेस सखा रघुराऊ॥
रामचंदु पति सो बैदेही। सोवति महि बिधि बाम न केही।
सिय रघुबीर कि कानन जोगू। करमु प्रधान सत्य कह लोगू॥

दो०—कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह।
जेहिं रघुनंदन जानकिहि सुख अवसर दुखु दीन्ह॥ २॥

भइ दिनकर कुल बिटप कुठारी। कुमति कीन्ह सबु बिस्व दुखारी॥
भयउ बिषादु निषादहिं भारी। रामु सीय महि सयन निहारी॥
बोले लखनु मधुर मृदु बानी। ग्यान बिराग भगति रस सानी॥
काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥
जोग बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥
जनमु मरनु जहँ लगि जगजालू। संपति बिपति करमु अरु कालू॥
धरनि धामु धनु पुर परिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू॥
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोह मूल परमारथु नाहीं॥

दो०—सपने होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ।
जागे लाभु न हानि कछु तिमि प्रपंचु जियँ जोइ॥ ३॥

अस बिचारि नहिं कीजिअ रोसू। काहुहि बादि न देइअ दोसू॥
मोह निसा सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥
एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥
जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥
होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥
सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू॥
रामु ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल बिकार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥

दो०—भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जगजाल॥ ४॥

सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सिय रघुबीर चरन रत होहू॥
कहत राम गुन भा भिनुसारा। जागे जग मंगल सुखदारा॥
सकल सौच करि राम नहावा। सुचि सुजान बटछीर मँगावा॥
अनुज सहित सिर जटा बनाए। देखि सुमंत नयन जल छाए॥
हृदयँ दाहु अति बदन मलीना। कह कर जोरि बचन अति दीना॥
नाथ कहेउ अस कोसलनाथा। लै रथु जाहु राम कैं साथा॥

बनु देखाइ सुरसरि अन्हवाई। आनेहु फेरि बेगि दोउ भाई॥
लखनु रामु सिय आनेहु फेरी। संसय सकल सँकोच निबेरी॥

दो०–नृप अस कहेउ गोसाँइ जस कहइ करौं बलि सोइ।
करि बिनती पायन्ह परेउ दीन्ह बाल जिमि रोइ॥ ५॥

तात कृपा करि कीजिअ सोई। जातें अवध अनाथ न होई॥
मंत्रिहि राम उठाइ प्रबोधा। तात धरम मगु तुम्ह सबु सोधा॥
सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा। सहे धरम हित कोटि कलेसा॥
रंतिदेव बलि भूप सुजाना। धरमु धरेउ सहि संकट नाना॥
धरमु न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना॥
मैं सोइ धरमु सुलभ करि पावा। तजें तिहूँ पुर अपजस छावा॥
संभावित कहुँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥
तुम्ह सन तात बहुत का कहऊँ। दिएँ उतरु फिरि पातकु लहऊँ॥

दो०–पितु पद गहि कहि कोटि नति बिनय करबि कर जोरि।
चिंता कवनिहु बात कइ तात करिअ जनि मोरि॥६॥

तुम्ह पुनि पितु सम अति हित मोरें। बिनती करौं तात कर जोरें॥
सब बिधि सोइ करतब्य तुम्हारें। दुख न पाव पितु सोच हमारें॥
सुनि रघुनाथ सचिव संबादू। भयउ सपरिजन बिकल निषादू॥
पुनि कछु लखन कही कटु बानी। प्रभु बरजे बड़ अनुचित जानी॥
सकुचि राम निज सपथ देवाई। लखन सँदेसु कहिअ जनि जाई॥
कह सुमंत्रु पुनि भूप सँदेसू। सहि न सकिहि सिय बिपिन कलेसू॥
जेहि बिधि अवध आव फिरि सीया। सोइ रघुबरहि तुम्हहि करनीया॥
नतरु निपट अवलंब बिहीना। मैं न जिअब जिमि जल बिनु मीना॥

दो०–मइकें ससुरें सकल सुख जबहिं जहाँ मनु मान।
तहँ तब रहिहि सुखेन सिय जब लगि बिपति बिहान॥७॥

बिनती भूप कीन्हि जेहि भाँती। आरति प्रीति न सो कहि जाती॥
पितु सँदेसु सुनि कृपानिधाना। सियहि दीन्हि सिख कोटि बिधाना॥
सासु ससुर गुर प्रिय परिवारू। फिरहु त सब कर मिटइ खभारू॥
सुनि पति बचन कहति बैदेही। सुनहुँ प्रानपति परम सनेही॥
प्रभु करुनामय परम बिबेकी। तनु तजि रहति छाँह किमि छेंकी॥
प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चन्द्रिका चंदु तजि जाई॥
पतिहि प्रेममय बिनय सुनाई। कहति सचिव सन गिरा सुहाई॥
तुम्ह पितु ससुर सरिस हितकारी। उतरु देउँ फिरि अनुचित भारी॥

दो०—आरति बस सनमुख भइउँ बिलग न मानब तात।
आरज सुत पद कमल बिनु बादि जहाँ लगि नात॥ ८॥

पितु बैभव बिलास मैं डीठा। नृप मनि मुकुट मिलत पद पीठा॥
सुखनिधान अस पितुगृह मोरें। पिय बिहीन मन भाव न भोरें॥
ससुर चक्कवइ कोसलराऊ। भुवन चारि दस प्रगट प्रभाऊ॥
आगें होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंघासन आसनु देई॥
ससुरु एतादृस अवध निवासू। प्रिय परिवारु मातु सम सासू॥
बिनु रघुपति पद पदुम परागा। मोहि कोउ सपनेहुँ सुखद न लागा॥
अगम पंथ बन भूमि पहारा। करि केहरि सरि सरित अपारा॥
कोल किरात कुरंग बिहंगा। मोहि सब सुखद प्रानपति संगा॥

दो०—सासु ससुर सन मोरि हुँति बिनय करबि परि पायँ।
मोर सोचु जनि करिअ कछु मैं बन सुखी सुभायँ॥९॥

प्राननाथ प्रिय देवर साथा। बीर धुरीन धरें धनु भाथा॥
नहिं मग स्रमु भ्रमु दुख मन मोरें। मोहि लगि सोचु करिअ जनि भोरें॥
सुनि सुमंत्रु सिय सीतलि बानी। भयउ बिकल जनु फनि मनि हानी॥
नयन सूझ नहिं सुनइ न काना। कहि न सकइ कछु अति अकुलाना॥
राम प्रबोधु कीन्ह बहु भाँती। तदपि होति नहिं सीतलि छाती॥

जतन अनेक साथ हित कीन्हे। उचित उतर रघुनंदन दीन्हे॥
मेटि जाइ नहिं राम रजाई। कठिन करम गति कछु न बसाई॥
राम लखन सिय पद सिरु नाई। फिरेउ बनिक जिमि मूर गँवाई॥

दो०—रथु हाँकेउ हय राम तन हेरि हेरि हिहिनाहिं।
देखि निषाद बिसादबस धुनहिं सीस पछिताहिं॥१०॥

जासु बियोग बिकल पसु ऐसें। प्रजा मातु पितु जिइहहिं कैसें॥
बरबस राम सुमंत्रु पठाए। सुरसरि तीर आपु तब आए॥
माँगी नाव न केवटु आना। कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना॥
चरन कमल रज कहुँ सबु कहई। मानुष करनि मूरि कछु अहई॥
छुअत सिला भइ नारि सुहाई। पाहन तें न काठ कठिनाई॥
तरनिउ मुनि घरिनी होइ जाई। बाट परइ मोरि नाव उड़ाई॥
एहिं प्रतिपालउँ सबु परिवारू। नहिं जानउँ कछु अउर कबारू॥
जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पद पदुम पखारन कहहू॥

छं०—पद कमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं।
मोहि राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साँची कहौं॥
बरु तीर मारहुँ लखनु पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पारु उतारिहौं॥

सो०—सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहँसे करुनाऐन चितइ जानकी लखन तन॥११॥

कृपासिंधु बोले मुसुकाई। सोइ करु जेहिं तव नाव न जाई॥
बेगि आनु जल पाय पखारू। होत बिलंबु उतारहि पारू॥
जासु नामु सुमिरत एक बारा। उतरहिं नर भवसिंधु अपारा॥
सोइ कृपालु केवटहि निहोरा। जेहिं जगु किय तिहु पगहु तें थोरा॥
पदनख निरखि देवसरि हरषी। सुनि प्रभु बचन मोहँ मति करषी॥

केवट राम रजायसु पावा । पानि कठवता भरि लइ आवा ॥
अति आनंद उमगि अनुरागा । चरन सरोज पखारन लागा ॥
बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं । एहि सम पुन्यपुंज कोउ नाहीं ॥

दो०—पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार ।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार ॥१२॥

उतरि ठाढ़ भए सुरसरि रेता । सीय रामु गुह लखन समेता ॥
केवट उतरि दंडवत कीन्हा । प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा॥
पिय हिय की सिय जाननिहारी। मनि मुदरी मन मुदित उतारी ॥
कहेउ कृपाल लेहि उतराई । केवट चरन गहे अकुलाई ॥
नाथ आजु मैं काह न पावा । मिटे दोष दुख दारिद दावा ॥
बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी । आजु दीन्हि बिधि बनि भलि भूरी ॥
अब कछु नाथ न चाहिअ मोरें । दीनदयाल अनुग्रह तोरें ॥
फिरती बार मोहि जो देबा । सो प्रसादु मैं सिर धरि लेबा ॥

दो०—बहुत कीन्ह प्रभु लखन सियँ नहिं कछु केवट लेइ ।
बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ ॥१३॥

मगवासी जन भेंट

सुनत तीरवासी नर नारी । धाए निज निज काज बिसारी ।
लखन राम सिय सुंदरताई । देखि करहिं निज भाग्य बड़ाई ॥
अति लालसा सबहिं मन माहीं । नाउँ गाउँ बूझत सकुचाहीं ॥
जे तिन्ह महुँ बयबिरिध सयाने । तिन्ह करि जुगुति रामु पहिचाने॥
सकल कथा तिन्ह सबहि सुनाई । बनहि चले पितु आयसु पाई ॥
सुनि सबिषाद सकल पछिताहीं । रानी रायँ कीन्ह भल नाहीं ॥

तेहि अवसर एक तापसु आवा। तेज पुंज लघु वयस सुहावा ॥
कवि अलखित गति बेषु बिरागी। मन क्रम बचन राम अनुरागी ॥

दो०—सजल नयन तन पुलकि निज इष्टदेउ पहिचानि।
परेउ दंड जिमि धरनि तल दसा न जाइ बखानि ॥ १ ॥

राम सप्रेम पुलकि उर लावा। परम रंक जनु पारसु पावा ॥
मनहुँ प्रेमु परमारथु दोऊ। मिलत धरें तनु कह सबु कोऊ ॥
बहुरि लखन पायन्ह सोइ लागा। लीन्ह उठाइ उमगि अनुरागा ॥
पुनि सियचरन धूरि धरि सीसा। जननि जानि सिसु दीन्हि असीसा ॥
कीन्ह निषाद दंडवत तेही। मिलेउ मुदित लखि रामसनेही ॥
पियत नयन पुट रूपु पियूषा। मुदित सुअसनु पाइ जिमि भूखा ॥
ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे ॥
राम लखन सिय रूपु निहारी। होहिं सनेह बिकल नर नारी ॥

दो०—तब रघुबीर अनेक बिधि सखहि सिखावनु दीन्ह।
राम रजायसु सीस धरि भवन गवनु तेइँ कीन्ह ॥ २ ॥

पुनि सिय राम लखन कर जोरी। जमुनहि कीन्ह प्रनामु बहोरी ॥
चले ससीय मुदित दोउ भाई। रबितनुजा कइ करत बड़ाई ॥
पथिक अनेक मिलहिं मग जाता। कहहिं सप्रेम देखि दोउ भ्राता ॥
राजलखन सब अंग तुम्हारें। देखि सोचु अति हृदय हमारें ॥
मारगु चलहु पयादेहिं पाएँ। ज्योतिषु झूठ हमारें भाएँ ॥
अगमु पंथु गिरि कानन भारी। तेहि महँ साथ नारि सुकुमारी ॥
करि केहरि बन जाइ न जोई। हम सँग चलहिं जो आयसु होई ॥
जाब जहाँ लगि तहँ पहुँचाई। फिरब बहोरि तुम्हहि सिरु नाई ॥

दो०—एहि बिधि पूँछहि प्रेमबस पुलक गात जलु नैन।
कृपासिंधु फेरहिं तिन्हहि कहि बिनीत मृदु बैन ॥ ३ ॥

जे पुर गाँव बसहिं मग माहीं । तिन्हहि नाग सुर नगर सिहाहीं ।।
केहि सुकृतीं केहि घरीं बसाए । धन्य पुन्यमय परम सुहाए ।।
जहँ जहँ राम चरन चलि जाहीं । तिन्ह समान अमरावति नाहीं ।।
पुन्य पुंज मग निकट निवासी । तिन्हहि सराहहिं सुरपुरबासी ।।
जे भरि नयन बिलोकहिं रामहि । सीता लखन सहित घनस्यामहि ।।
जे सर सरित राम अवगाहहिं । तिन्हहिं देव सर सरित सराहहिं ।।
जेहि तरु तर प्रभु बैठहिं जाई । करहिं कलपतरु तासु बड़ाई ।।
परसि रामपद पदुम परागा । मानति भूमि भूरि निज भागा ।।

दो०—छाँह करहि घन बिबुध गन बरषहिं सुमन सिहाहिं ।
देखत गिरि बन बिहग मृग रामु चले मग जाहिं ।। ४ ।।

सीता लखन सहित रघुराई । गाँव निकट जब निकसहिं जाई ।।
सुनि सब बाल बृद्ध नर नारी । चलहिं तुरत गृह काज बिसारी ।।
राम लखन सिय रूप निहारी । पाइ नयन फलु होहिं सुखारी ।।
सजल बिलोचन पुलक सरीरा । सब भए मगन देखि दोउ बीरा ।।
बरनि न जाइ दसा तिन्ह केरी । लहि जनु रंकन्हि सुरमनि ढेरी ।।
एकन्ह एक बोलि सिख देहीं । लोचन लाहु लेहु छन एहीं ।।
रामहि देखि एक अनुरागे । चितवत चले जाहिं सँग लागे ।।
एक नयन मग छबि उर आनी । होहिं सिथिल तन मन बर बानी ।।

दो०—एक देखि बट छाँह भलि डासि मृदुल तृन पात ।
कहहिं गवाँइअ छिनुकु श्रमु गवनब अबहिं कि प्रात ।। ५ ।।

एक कलस भरि आनहिं पानी । अँचइअ नाथ कहहिं मृदु बानी ।।
सुनि प्रिय बचन प्रीति अति देखी । राम कृपाल सुसील बिसेषी ।।
जानी श्रमित सीय मन माहीं । घरिक बिलंबु कीन्ह बट छाहीं ।।
मुदित नारि नर देखहिं सोभा । रूप अनूप नयन मनु लोभा ।।
एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा । रामचंद्र मुख चंद चकोरा ।।

तरुन तमाल बरन तनु सोहा। देखत कोटि मदन मनु मोहा।।
दामिनि बरन लखनु सुठि नीके। नख सिख सुभग भावते जी के।।
मुनिपट कटिन्ह कसें तूनीरा। सोहहिं कर कमलनि धनु तीरा।।

दो०—जटा मुकुट सीसनि सुभग उर भुज नयन बिसाल।
सरद परब बिधु बदन बर लसत स्वेद कन जाल।। ६।।

बरनि न जाइ मनोहर जोरी। सोभा बहुत थोरि मति मोरी।।
राम लखन सिय सुन्दरताई। सब चितवहिं चित मन मति लाई।।
थके नारि नर प्रेम पिआसे। मनहुँ मृगी मृग देखि दिआ से।।
सीय समीप ग्रामतिअ जाहीं। पूँछत अति सनेहँ सकुचाहीं।।
बार बार सब लागहिं पाएँ। कहहिं बचन मृदु सरल सुभाएँ।।
राजकुमारि बिनय हम करहीं। तिअ सुभायँ कछु पूँछत डरहीं।।
स्वामिनि अबिनय छमबि हमारी। बिलगु न मानब जानि गँवारी।।
राजकुँअर दोउ सहज सलोने। इन्ह तें लही दुति मरकत सोने।।

दो०—स्यामल गौर किसोर बर सुंदर सुषमा ऐन।
सरद सर्बरीनाथ मुखु सरद सरोरुह नैन।। ७।।

कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे।।
सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुची सीय मन महुँ मुसुकानी।।
तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचति बर बरनी।।
सकुचि सप्रेम बालमृग नयनी। बोली मधुर बचन पिकबयनी।।
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लखनु लघु देवर मोरे।।
बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी।।
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निजपति कहेउ तिन्हहि सियँ सयननि।।
भईं मुदित सब ग्राम बधूटीं। रंकन्ह राय रासि जनु लूटीं।।

दो०—अति सप्रेम सिय पाँय परि बहु बिधि देहिं असीस।
सदा सोहागिनि होहु तुम्ह जब लगि महि अहि सीस।। ८।।

पारबती सम पतिप्रिय होहू। देबि न हम पर छाड़ब छोहू॥
पुनि पुनि बिनय करिअ करजोरी। जौं एहि मारग फिरिअ बहोरी॥
दरसनु देब जानि निज दासी। लखीं सीय सब प्रेम पिआसी॥
मधुर बचन कहि कहि परितोषीं। जनु कुमुदिनीं कौमुदीं पोषीं॥
तबहिं लखन रघुबर रुख जानी। पूँछेउ मगु लोगन्हि मृदु बानी॥
सुनत नारि नर भए दुखारी। पुलकित गात बिलोचन बारी॥
मिटा मोदु मन भए मलीने। बिधि निधि दीन्हि लेत जनु छीने॥
समुझि करमगति धीरजु कीन्हा। सोधि सुगम मगु तिन्ह कहि दीन्हा॥

दो०—लखन जानकी सहित तब गवनु कीन्ह रघुनाथ।
फेरे सब प्रिय बचन कहि लिए लाइ मन साथ॥ ९॥

फिरत नारि नर अति पछिताहीं। दैअहि दोषु देहिं मन माहीं॥
सहित बिषाद परसपर कहहीं। बिधि करतब उलटे सब अहहीं॥
निपट निरंकुस निठुर निसंकू। जेहिं ससि कीन्ह सरुज सकलंकू॥
रूख कलपतरु सागरु खारा। तेहिं पठए बन राजकुमारा॥
जौं पै इन्हहिं दीन्ह बनबासू। कीन्ह बादि बिधि भोग बिलासू॥
ए बिचरहिं मग बिनु पदत्राना। रचे बादि बिधि बाहन नाना॥
ए महि परहिं डासि कुस पाता। सुभग सेज कत सृजत बिधाता॥
तरुबर बास इन्हहिं बिधि दीन्हा। धवल धाम रचि रचि श्रमु कीन्हा॥

दो०—जौं ए मुनिपट धर जटिल सुंदर सुठि सुकुमार।
बिबिध भाँति भूषन बसन बादि किए करतार॥१०॥

जौं ए कंद मूल फल खाहीं। बादि सुधादि असन जग माहीं॥
एक कहहिं ए सहज सुहाए। आपु प्रगट भए बिधि न बनाए॥
जहँ लगि बेद कही बिधि करनी। श्रवन नयन मन गोचर बरनी॥
देखहु खोजि भुअन दस चारी। कहँ अस पुरुष कहाँ असि नारी॥
इन्हहिं देखि बिधि मनु अनुरागा। पटतर जोग बनावै लागा॥

कीन्ह बहुत श्रम ऐक न आए। तेहि इरिषा बन आनि दुराए॥
एक कहहिं हम बहुत न जानहिं। आपुहि परम धन्य करि मानहिं॥
ते पुनि पुन्यपुंज हम लेखे। जे देखहिं देखिहहिं जिन्ह देखे॥

दो०–एहि बिधि कहि कहि बचन प्रिय लेहिं नयन भरि नीर।
किमि चलिहहिं मारग अगम सुठि सुकुमार सरीर॥११॥

नारि सनेह बिकल बस होहीं। चकईं साँझ समय जनु सोहीं॥
मृदु पद कमल कठिन मगु जानी। गहबरि हृदय कहहिं मृदु बानी॥
परसत मृदुल चरन अरुनारे। सकुचति महि जिमि हृदय हमारे॥
जौं जगदीस इन्हहि बनु दीन्हा। कस न सुमनमय मारगु कीन्हा॥
जौं मागा पाइअ बिधि पाहीं। ए रखिअहिं सखि आँखिन्ह माहीं॥
जे नर नारि न अवसर आए। तिन्ह सिय रामु न देखन पाए॥
सुनि सुरूपु बूझहिं अकुलाई। अब लगि गए कहाँ लगि भाई॥

दो०–अबला बालक बृद्ध जन कर मीजहिं पछिताहिं।
होहिं प्रेमबस लोग इमि रामु जहाँ जहँ जाहिं॥१२॥

गाँव गाँव अस होइ अनंदू। देखि भानु कुल कैरव चंदू॥
जे कछु समाचार सुनि पावहिं। ते नृप रानिहि दोसु लगावहिं॥
कहहिं एक अति भल नरनाहू। दीन्ह हमहि जेहि लोचन लाहू॥
कहहिं परसपर लोग लोगाईं। बातें सरल सनेह सुहाईं॥
ते पितु मातु धन्य जिन्ह जाए। धन्य सो नगरु जहाँ तें आए॥
धन्य सो देसु सैलु बन गाऊँ। जहँ जहँ जाहिं धन्य सोइ ठाऊँ॥
सुखु पायउ बिरंचि रचि तेही। ए जेहि के सब भाँति सनेही॥
राम लखन सिय कथा सुहाई। रही सकल मग कानन छाई॥

दो०–येहि बिधि रघुकुल कमल रबि मग लोगन्ह सुख देत।
जाहिं चले देखत बिपिन सिय सौमित्रि समेत॥१३॥

आगें रामु लखनु बने पाछें। तापस बेष बिराजत काछें।

उभय बीच सिय सोहति कैसे । ब्रह्म जीव बिच माया जैसें ॥
बहुरि कहउँ छबि जसि मन बसई। जनु मधु मदन मध्य रति लसई॥
उपमा बहुरि कहउँ जिअ जोही । जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही॥
प्रभु पद रेख बीच बिच सीता । धरति चरन मग चलति सभीता॥
सीय राम पद अंक बराएँ । लखनु चलहिं मगु दाहिन बाएँ ॥
राम लखन सिय प्रीति सुहाई । बचन अगोचर किमि कहि जाई ॥
खग मृग मगन देखि छबि होहीं । लिए चोरि चित राम बटोहीं ॥

दो०–जिन्ह जिन्ह देखे पथिक प्रिय सिय समेत दोउ भाइ ।
भव मगु अगमु अनंदु तेइ बिनु श्रमु रहे सिराइ ॥१४॥

चित्रकूट मिलन

गुर अनुरागु भरत पर देखी । राम हृदयँ आनंदु बिसेषी ॥
भरतहिं धरम धुरंधर जानी । निज सेवक तन मानस बानी ॥
बोले गुर आयसु अनुकूला । बचन मंजु मृदु मंगल मूला ॥
नाथ सपथ पितु चरन दोहाई । भयउ न भुअन भरत सम भाई ॥
जे गुर पद अंबुज अनुरागी । ते लोकहुँ बेदहुँ बड़भागी ॥
राउर जा पर अस अनुरागू । को कहि सकइ भरत कर भागू ॥
लखि लघु बंधु बुद्धि सकुचाई । करत बदन पर भरत बड़ाई ॥
भरतु कहहिं सोइ किएँ भलाई । अस कहि रामु रहे अरगाई ॥

दो०–तब मुनि बोले भरत सन सब सँकोचु तजि तात ।
कृपासिंधु प्रिय बंधु सन कहहु हृदय कै बात ॥ १ ॥

सुनि मुनि बचन राम रुख पाई । गुर साहिब अनुकूल अघाई ॥
लखि अपने सिर सबु छरु भारू । कहि न सकहिं कछु करहिं बिचारू॥
पुलकि सरीर सभाँ भए ठाढ़े । नीरज नयन नेह जल बाढ़े ॥
कहब मोर मुनिनाथ निबाहा । एहि तें अधिक कहौं मैं काहा ॥

मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ।।
मो पर कृपा सनेहु बिसेषी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी।।
सिसुपन तें परिहरेउँ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू।।
मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही। हारेहुँ खेल जितावहिं मोही।।

दो०—महूँ सनेह सकोच बस सनमुख कही न बैन।
दरसन तृपित न आजु लगि पेमपियासे नैन।।२।।

बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीचु जननी मिस पारा।।
यहउ कहत मोहि आजु न सोभा। अपनी समुझि साधु सुचि को भा।।
मातु मंदि मैं साधु सुचाली। उर अस आनत कोटि कुचाली।।
फरइ कि कोदव बालि सुसाली। मुकता प्रसव कि संबुक काली।।
सपनेहुँ दोस कलेसु न काहू। मोर अभाग उदधि अवगाहू।।
बिनु समझें निज अघ परिपाकू। जारिउँ जायँ जननि कहि काकू।।
हृदयँ हेरि हारेउँ सब ओरा। एकहिं भाँति भलेहिं भल मोरा।।
गुर गोसाइँ साहिब सिय रामू। लागत मोहि नीक परिनामू।।

दो०—साधु सभाँ गुर प्रभु निकट कहउँ सुथल सतिभाउ।
प्रेम प्रपंचु कि झूठ फुर जानहिं मुनि रघुराउ।।३।।

भूपति मरनु प्रेम पनु राखी। जननी कुमति जगतु सबु साखी।।
देखि न जाहिं बिकल महतारी। जरहिं दुसह जर पुर नर-नारी।।
महीं सकल अनरथ कर मूला। सो सुनि समुझि सहिउँ सब सूला।।
सुनि बन गवनु कीन्ह रघुनाथा। करि मुनि बेष लखनु सिय साथा।।
बिनु पानहिन्ह पयादेहि पाएँ। संकरु साखि रहेउँ एहि घाएँ।।
बहुरि निहारि निषाद सनेहू। कुलिस कठिन उर भयउ न बेहू।।
अब सबु आँखिन्ह देखेउँ आई। जिअत जीव जड़ सबइ सहाई।।
जिन्हहि निरखि मग साँपिनि बीछीं। तजहिं बिषम बिषु तामस तीछीं।।

दो०—तेइ रघुनंदनु लखनु सिय अनहित लागे जाहि।
तासु तनय तजि दुसह दुख दैउ सहावइ काहि ।।४।।

सुनि अति बिकल भरत बर बानी। आरति प्रीति बिनय नय सानी।।
सोक मगन सब सभा खभारू। मनहुँ कमल बन परेउ तुसारू।।
कहि अनेक बिधि कथा पुरानी। भरत प्रबोधु कीन्ह मुनि ग्यानी।।
बोले उचित बचन रघुनंदू। दिनकर कुल कैरव बन चंदू।।
तात जायँ जिय करहु गलानी। ईस अधीन जीव गति जानी।।
तीन काल तिभुवन मत मोरें। पुन्यसिलोक तात तर तोरें।।
उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई। जाइ लोकु परलोकु नसाई।।
दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई। जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई।।

दो०—मिटिहइ पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार।
लोक सुजसु परलोक सुखु सुमिरत नामु तुम्हार ।।५।।

कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी।।
तात कुतरक करहु जनि जाएँ। बैर प्रेमु नहिं दुरइ दुराएँ।।
मुनिगन निकट बिहँग मृग जाहीं। बाधक बधिक बिलोकि पराहीं।।
हित अनहित पसु पच्छिउ जाना। मानुष तनु गुन ग्यान निधाना।।
तात तुम्हहि मैं जानउँ नीकें। करउँ काह असमंजसु जीकें।।
राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ प्रेम पनु लागी।।
तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू।।
तापर गुर मोहि आयसु दीन्हा। अवसि जो कहहु चहउँ सोइ कीन्हा।।

दो०—मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।
सत्यसंध रघुबर बचन सुनि भा सुखी समाजु ।।६।।

सुरगन सहित सभय सुरराजू। सोचहिं चाहत होन अकाजू।।
करत उपाउ बनत कछु नाहीं। राम सरन सब गे मन माहीं।।
बहुरि बिचारि परसपर कहहीं। रघुपति भगत भगति बस अहहीं।।

सुधि करि अंबरीष दुरबासा। भे सुर सुरपति निपट निरासा ॥
सहे सुरन्ह बहु काल बिषादा। नरहरि किए प्रगट प्रहलादा ॥
लगि लगि कान कहहिं धुनि माथा। अब सुर काज भरत के हाथा ॥
आन उपाउ न देखिअ देवा। मानत रामु सुसेवक सेवा ॥
हियँ सपेम सुमिरहु सब भरतहिं। निज गुन सील राम बस करतहिं ॥

दो०—सुनि सुर मत सुरगुर कहेउ भल तुम्हार बड़ भागु।
सकल सुमंगल मूल जग भरत चरन अनुरागु ॥७॥

सीतापति सेवक सेवकाई। कामधेनु सय सरिस सुहाई ॥
भरत भगति तुम्हरें मन आई। तजहु सोचु बिधि बात बनाई ॥
देखु देवपति भरत प्रभाऊ। सहज सुभाय बिबस रघुराऊ ॥
मन थिर करहु देव डरु नाहीं। भरतहि जानि राम परिछाहीं ॥
सुनि सुरगुर सुरसंमत सोचू। अंतरजामी प्रभुहि सँकोचू ॥
निज सिर भारु भरत जिय जाना। करत कोटि बिधि उर अनुमाना ॥
करि बिचारु मन दीन्ही ठीका। राम रजायसु आपन नीका ॥
निज पनु तजि राखेउ पनु मोरा। छोहु सनेहु कीन्ह नहिं थोरा ॥

दो०—कीन्ह अनुग्रह अमित अति सब बिधि सीतानाथ।
करि प्रनामु बोले भरतु जोरि जलज जुग हाथ ॥८॥

कहउँ कहावउँ का अब स्वामी। कृपा अंबुनिधि अंतरजामी ॥
गुर प्रसन्न साहिब अनुकूला। मिटी मलिन मन कलपित सूला ॥
अपडर डरेउँ न सोच समूलें। रबिहि न दोसु देव दिसि भूलें ॥
मोर अभागु मातु कुटिलाई। बिधि गति बिषम काल कठिनाई ॥
पाउँ रोपि सब मिलि मोहि घाला। प्रनतपाल पन आपन पाला ॥
यह नइ रीति न राउरि होई। लोकहुँ बेद बिदित नहिं गोई ॥
जगु अनभल भल एकु गोसाईं। कहिअ होइ भल कासु भलाईं ॥
देउ देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ ॥

दो०—जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समनि सब सोच ।
मागत अभिमत पाव जगु राउ रंकु भल पोच ॥९॥

लखि सब बिधि गुर स्वामि सनेहू । मिटेउ छोभु नहिं मन संदेहू ॥
अब करुनाकर कीजिअ सोई । जन हित प्रभु चित छोभु न होई ॥
जो सेवकु साहिबहि सँकोची । निज हित चहइ तासु मति पोची ॥
सेवक हित साहिब सेवकाई । करइ सकल सुख लोभ बिहाई ॥
स्वारथु नाथ फिरें सबही का । किएँ रजाइ कोटि बिधि नीका ॥
यह स्वारथ परमारथ सारू । सकल सुकृत फल सुगति सिंगारू ॥
देव एक बिनती सुनि मोरी । उचित होइ तस करब बहोरी ॥
तिलक समाजु साजि सबु आना । करिअ सुफल प्रभु जौं मनुमाना ॥

दो०—सानुज पठइअ मोहि बन कीजिअ सबहि सनाथ ।
नतरु फेरिअहिं बंधु दोउ नाथ चलौं मैं साथ ॥१०॥

नतरु जाहिं बन तीनिउँ भाई । बहुरिअ सीय सहित रघुराई ॥
जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई । करुनासागर कीजिअ सोई ॥
देवँ दीन्ह सबु मोहि अभारू । मोरें नीति न धरम बिचारू ॥
कहउँ बचन सब स्वारथ हेतू । रहत न आरत कें चित चेतू ॥
उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई । सो सेवकु लखि लाज लजाई ॥
अस मैं अवगुन उदधि अगाधू । स्वामि सनेह सराहत साधू ॥
अब कृपाल मोहि सो मत भावा । सकुच स्वामि मन जाइ न पावा ॥
प्रभु पद सपथ कहउँ सतिभाऊ । जग मंगल हित एक उपाऊ ॥

दो०—प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब ।
सो सिर धरि-धरि करिहि सबु मिटिहि अनट अवरेब ॥११॥

× × × × ×

सुनि तन पुलकि नयन भरि बारी । बोले भरतु धीर धरि भारी ॥
प्रभु प्रिय पूज्य पिता सम आपू । कुलगुरु सम हित माय न बापू ॥

कौसिकादि मुनि सचिव समाजू । ग्यान अंबुनिधि आपुनु आजू ।।
सिसु सेवकु आयसु अनुगामी । जानि मोहि सिख देइअ स्वामी ।।
एहिं समाज थल बूझब राउर । मौन मलिन मैं बोलब बाउर ।।
छोटे बदन कहौं बड़ि बाता । छमब तात लखि बाम बिधाता ।।
आगम निगम प्रसिद्ध पुराना । सेवाधरमु कठिन जगु जाना ।।
स्वामि धरम स्वारथहि बिरोधू । बैरु अंधु प्रेमहि न प्रबोधू ।।

दो०—राखि राम रुख धरमु ब्रतु पराधीन मोहि जानि ।
सब कें सम्मत सर्ब हित करिअ पेमु पहिचानि ।।१२।।

भरत बचन सुनि देखि सुभाऊ । सहित समाज सराहत राऊ ।।
सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे । अरथु अमित अति आखर थोरे ।।
ज्यों मुखु मुकुर मुकुरु निज पानी । गहि न जाइ अस अद्भुत बानी ।।
भूपु भरतु मुनि साधु समाजू । गे जहँ बिबुध कुमुद द्विजराजू ।।
सुनि सुधि सोच बिकल सब लोगा । मनहुँ मीनगन नव जल जोगा ।।
देव प्रथम कुलगुर गति देखी । निरखि बिदेह सनेह बिसेषी ।।
राम भगतिमय भरतु निहारे । सुर स्वारथी हहरि हियँ हारे ।।
सब कोउ राम पेममय पेखा । भए अलेख सोचबस लेखा ।।

दो०—रामु सनेह सकोच बस कह ससोच सुरराजु ।
रचहु प्रपंचहि पंच मिलि नाहिं त भयउ अकाजु ।।१३।।

सुरन्ह सुमिरि सारदा सराही । देबि देव सरनागत पाही ।।
फेरि भरत मति करि निज माया । पालु बिबुधकुल करि छल छाया ।।
बिबुध बिनय सुनि देबि सयानी । बोली सुर स्वारथ जड़ जानी ।।
मो सन कहहु भरत मति फेरू । लोचन सहस न सूझ सुमेरू ।।
बिधि हरिहर माया बड़ि भारी । सोउ न भरत मति सकइ निहारी ।।
सो मति मोहि कहत करु भोरी । चंदिनि कर कि चंदकर चोरी ।।

भरत हृदयँ सिय राम निवासू । तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू ।।
अस कहि सारद गइ बिधिलोका । बिबुध बिकल निसि मानहुँ कोका।।

दो०—सुर स्वारथी मलीन मन कीन्ह कुमंत्र कुठाटु ।
रचि प्रपंच माया प्रबल भय भ्रम अरति उचाटु ।।१४।।

करि कुचालि सोचत सुरराजू । भरत हाथ सबु काजु अकाजू ।।
गए जनकु रघुनाथ समीपा । सनमाने सब रबिकुल दीपा ।।
समय समाज धरम अबिरोधा । बोले तब रघुबंस पुरोधा ।।
जनक भरत सम्बादु सुनाई । भरत कहाउति कही सुहाई ।।
तात राम जस आयसु देहू । सो सबु करै मोर मत एहू ।।
सुनि रघुनाथु जोरि जुग पानी । बोले सत्य सरल मृदु बानी ।।
बिद्यमान आपुनु मिथिलेसू । मोर कहब सब भाँति भदेसू ।।
राउर राय रजायसु होई । राउरि सपथ सही सिर सोई ।।

दो०—राम सपथ सुनि मुनि जनकु सकुचे सभा समेत ।
सकल बिलोकत भरत मुख बनइ न ऊतरु देत ।।१५।।

सभा सकुच बस भरत निहारी । राम बन्धु धरि धीरजु भारी ।।
कुसमउ देखि सनेहु सँभारा । बढ़त बिंधि जिमि घटज निवारा ।।
सोक कनकलोचन मति छोनी । हरी बिमल गुनगन जग जोनी ।।
भरत बिबेक बराह बिसाला । अनायास उधरी तेहिं काला ।।
करि प्रनामु सब कहँ कर जोरे । रामु राउ गुर साधु निहोरे ।।
छमब आजु अति अनुचित मोरा । कहउँ वदन मृदु बचन कठोरा ।।
हियँ सुमिरी सारदा सुहाई । मानस तें मुखपंकज आई ।।
बिमल बिबेक धरम नय साली । भरत भारती मंजु मराली ।।

दो०—निरखि बिबेक बिलोचनन्हि सिथिल सनेहँ समाजु ।
करि प्रनामु बोले भरतु सुमिरि सीय रघुराजु ।।१६।।

प्रभु पितु मातु सुहृद गुर स्वामी। पूज्य परम हित अंतरजामी ॥
सरल सुसाहिबु सील निधानू। प्रनतपाल सर्बग्य सुजानू ॥
समरथ सरनागत हितकारी। गुनगाहकु अवगुन अघहारी ॥
स्वामि गोसाँइहि सरिस गोसाईं। मोहि समान मैं साइँ दोहाईं ॥
प्रभु पितु बचन मोह बस पेली। आयउँ इहाँ समाजु सकेली ॥
जग भल पोच ऊँच अरु नीचू। अमिअ अमरपद माहुरु मीचू ॥
राम रजाइ मेटि मन माहीं। देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं ॥
सो मैं सब बिधि कीन्हि ढिठाई। प्रभु मानी सनेह सेवकाई ॥

दो०—कृपाँ भलाईं आपनी नाथ कीन्ह भल मोर।
दूषन भे भूषन सरिस सुजसु चारु चहुँ ओर ॥१७॥

राउरि रीति सुबानि बड़ाई। जगत बिदित निगमागम गाई ॥
क्रूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी ॥
तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनामु किएँ अपनाए ॥
देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने ॥
को साहिब सेवकहि नेवाजी। आपु समाज साज सब साजी ॥
निज करतूति न समुझिअ सपनें। सेवक सकुच सोच उर अपनें ॥
सो गोसाँइ नहिं दूसर कोपी। भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी ॥
पसु नाचत सुक पाठ प्रबीना। गुन गति नट पाठक आधीना ॥

दो०—यों सुधारि सनमानि जन किए साधु सिरमोर।
को कृपाल बिनु पालिहै बिरिदावलि बरजोर ॥१८॥

सोक सनेहँ कि बाल सुभाएँ। आएउँ लाइ रजायसु बाएँ ॥
तबहुँ कृपाल हेरि निज ओरा। सबहि भाँति भल मानेउ मोरा ॥
देखेउँ पाय सुमंगल मूला। जानेउँ स्वामि सहज अनुकूला ॥
बड़े समाज बिलोकेउँ भागू। बड़ीं चूक साहिब अनुरागू ॥
कृपा अनुग्रहु अंगु अघाई। कीन्हि कृपानिधि सब अधिकाई ॥
राखा मोर दुलार गोसाईं। अपने सील सुभायँ भलाईं ॥

नाथ निपट मैं कीन्हि ढिठाई। स्वामि समाज सकोचु बिहाई॥
अबिनय बिनय जथारुचि बानी। छमिहि देउ अति आरत जानी॥

दो०—सुहृद सुजान सुसाहिबहि बहुत कहब बड़ि खोरि।
आयसु देइअ देव अब सबइ सुधारी मोरि॥१९॥

प्रभु पद पदुम पराग दोहाई। सत्य सुकृत सुख सीवँ सुहाई॥
सो करि कहउँ हिये अपने की। रुचि जागत सोवत सपने की॥
सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥
अग्या सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसादु जनु पावै देवा॥
अस कहि प्रेम बिबस भए भारी। पुलक सरीर बिलोचन बारी॥
प्रभु पद कमल गहे अकुलाई। समउ सनेहु न सो कहि जाई॥
कृपासिंधु सनमानि सुबानी। बैठाए समीप गहि पानी॥
भरत बिनय सुनि देखि सुभाऊ। सिथिल सनेह सभा रघुराऊ॥

छं०—रघुराउ सिथिल सनेहँ साधु समाज मुनि मिथिला धनी।
मन महुँ सराहत भरत भायप भगति की महिमा घनी॥
भरतहि प्रसंसत बिबुध बरषत सुमन मानस मलिन से।
तुलसी बिकल सब लोग सुनि सकुचे निसागम नलिन से॥२०॥

कवितावली

[१]

अवधेस के द्वारें सकारें गई सुत गोद कै भूपति लै निकसे।
अवलोकि हौं सोच बिमोचन को ठगि-सी रही, जे न ठगे धिक-से॥
तुलसी मनरंजन रंजित-अंजन-नैन सुखंजन-जातक-से।
सजनी ससि में समसील उभै नवनील सरोरुह-से बिकसे॥

[२]

कीर के कागर ज्यों नृपचीर, बिभूषन उप्पम अंगनि पाई।
औध तजी मगबास के रूख ज्यों, पंथ के साथ ज्यों लोग-लोगाई॥

संग सुबन्धु, पुनीत प्रिया, मनो धर्मु, क्रिया धरि देह सुहाई।
राजिवलोचन रामु चले तजि बापको राजु बटाउ कीं नाई॥

[३]

एहि घाटतें थोरिक दूरि अहै कटि लौं जलु थाह देखाइहौं जू।
परसें पगधूरि तरै तरनी, घरनी घर क्यौं समुझाइहौं जू॥
तुलसी अवलम्बु न और कछू, लरिका केहि भाँति जियाइहौं जू।
बरु मारिए मोहि, बिना पग धोए हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू॥

[४]

पात भरी सहरी, सकल सुत बारे-बारे,
केवट की जाति, कछु बेद न पढ़ाइहौं।
सबु परिवारु मेरो याहि लागि, राजा जू,
हौं दीन बित्तहीन, कैसें दूसरी गढ़ाइहौं॥
गौतमकी घरनी ज्यों तरनी तरैगी मेरी,
प्रभु सों निषादु ह्वै कै बादु ना बढ़ाइहौं।
तुलसी के ईस राम, रावरे सों साँची कहौं,
बिना पग धोएँ नाथ, नाव न चढ़ाइहौं॥

[५]

बालधी बिसाल बिकराल, ज्वालजाल मानो
लंक लीलिबेको काल रसना पसारी है।
कैधौं ब्योमबीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीररस बीर तरवारि सो उघारी है॥
'तुलसी' सुरेस-चापु, कैधौं दामिनि-कलापु,
कैधौं चली मेरु तें कृसानु-सरि भारी है।
देखें जातुधान-जातुधानीं अकुलानी कहैं,
काननु उजार्‌यो, अब नगरु प्रजारिहै॥

[६]

गाज्यो कपि गाज ज्यों, बिराज्यो ज्वालजालजुत,
भाजे बीर धीर, अकुलाइ उठ्यो रावनो।
धावौ, धावौ, धरौ, सुनि धाए जातुधान धारि,
बारिधारा उलदै जलदु जौन सावनो।
लपट-झपट झहराने, हहराने वात,
भहराने भट, पर्‌यो प्रबल परावनो।
ढकनि ढकेलि, पेलि सचिव चले लै ठेलि,
नाथ न चलैगो बलु अनलु भयावनो॥

[७]

रावनु सो राजरोगु बाढ़त बिराट-उर,
दिनु-दिनु बिकल, सकल सुख राँक सो।
नाना उपचार करि हारे सुर, सिद्धि, मुनि
होत न बिसोक, ओत पावै न मनाक सो॥
राम की रजाइतें रसाइनी समीरसूनु
उतरि पयोधि पार सोधि सरवाक सो।
जातुधान-पुट पुटपाक लंक-जातरूप—
रतन जतन जारि कियो है मृगांक-सो॥

[८]

खेती न किसान को भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका बिहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों 'कहाँ जाई, का करी!'
बेदहूँ पुरान कही, लोकहूँ बिलोकिअत,
साँकरे सबै पै, राम! रावरें कृपा करी॥

दारिद्-दसानन दबाई दुनी, दीनबन्धु !
दुरित-दहन देखि तुलसी हहा करी ॥

बरवै रामायण

केस मुकुत सखि मरकत मनिमय होत।
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत ॥ १ ॥
सिय मुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाय।
निसि मलीन वह, निसिदिन यह बिगसाइ ॥ २ ॥
चंपक हरवा अँग मिलि अधिक सोहाइ।
जानि परै सिय हियरे जब कुंभिलाइ ॥ ३ ॥
सिय तुव अंग रंग मिलि अधिक उदोत।
हार बेलि पहरावौं चंपक होत ॥ ४ ॥
गरब करहु रघुनन्दन जनि मन माहिं।
देखहु आपनि मूरति सिय कै छाँह ॥ ५ ॥
बिरह आगि उर ऊपर जब अधिकाइ।
ए अँखियाँ दोउ बैरिनि देहिं बुझाइ ॥ ६ ॥
डहकु न है उजियरिया निसि नहिं घाम।
जगत जरत अस लागु मोहि बिनु राम ॥ ७ ॥
अब जीवन कै है कपि आस न कोइ।
कनगुरिया के मुदरी कंकन होइ ॥ ८ ॥

विनय-पत्रिका

[१]

बावरो रावरो नाह भवानी।
दानिं बड़ो दिन देत दये बिनु, बेद-बड़ाई भानी ॥ १ ॥

निज घरकी बिरबात बिलोकहु, हौं तुम परम सयानी।
सिवकी दई संपदा देखत, श्री-सारदा सिहानी ॥ २ ॥

जिनके भाल लिखी लिपि मेरी, सुखकी नहीं निसानी।
तिन रंकन कौ नाक सँवारत, हौं आयो नकबानी ॥ ३ ॥

दुख-दीनता दुखी इनके दुख, जाचकता अकुलानी।
यह अधिकार सौंपिये औरहिं, भीख भली मैं जानी ॥ ४ ॥

प्रेम-प्रसंसा-बिनय-ब्यंगजुत, सुनि बिधि की बर बानी।
तुलसी मुदित महेस मनहिं मन, जगत-मातु मुसुकानी ॥ ५ ॥

[२]

कबहुँक अंब, अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन-कथा चलाइ ॥ १ ॥

दीन, सब अँग हीन, छीन, मलीन, अघी अघाइ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ ॥ २ ॥

बूझिहैं 'सो है कौन', कहिबी नाम दसा जनाइ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ ॥ ३ ॥

जानकी जगजननि जनकी किये बचन सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तव नाथ-गुन-गन गाइ ॥ ४ ॥

[३]

रामको गुलाम, नाम रामबोला राख्यौ राम,
काम यहै, नाम द्वै हौं कबहूँ कहत हौं।
रोटी-लूगा नीके राखै, आगेहूकी बेद भाखै,
भलो ह्वै है तेरो, ताते आनँद लहत हौं ॥१॥

बाँध्यौ हौं करम जड़ गरब गूढ़ निगड़,
सुनत दुसह हौं तौ साँसति सहत हौं।

आरत-अनाथ-नाथ, कौसलपाल कृपाल,
लीन्हों छीन दीन देख्यो दुरित दहत हौं ॥२॥
बूझ्यो ज्यौं ही, कह्यो, मैं हूँ चेरो ह्वैहौं रावरो जू,
मेरो कोऊ कहूँ नाहिं चरन गहत हौं।
मींजो गुरु पीठ, अपनाइ गहि बाँह बोलि,
सेवक-सुखद, सदा बिरद बहत हौं ॥३॥
लोग कहैं पोच, सो न सोच न सँकोच मेरे,
ब्याह न बरेखी, जाति-पाँति न चहत हौं।
तुलसी अकाज-काज राम ही के रीझे-खीझे,
प्रीतिकी प्रतीति मन मुदित रहत हौं ॥४॥

[४]

ऐसी मूढ़ता या मनकी।
परिहरि राम-भगति-सुर-सरिता, आस करत ओसकनकी ॥ १ ॥
धूम-समूह निरखि चातक ज्यों, तृषित जानि मति घनकी।
नहिं तहँ सीतलता न बारि, पुनि हानि होति लोचनकी ॥ २ ॥
ज्यों गज-काँच बिलोकि सेन जड़ छाँह आपने तनकी।
टूटत अति आतुर अहार बस, छति बिसारि आननकी ॥ ३ ॥
कहँ लौं कहौं कुचालि कृपानिधि ! जानत हौ गति जनकी।
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पनकी ॥ ४ ॥

[५]

सुनि सीतापति-सील-सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ ॥ १ ॥
सिसुपनतें पितु, मातु, बंधु, गुरु, सेवक, सचिव, सखाउ।
कहत राम-बिधु-बदन रिसोहैं सपनेहुँ लख्यो न काउ ॥ २ ॥

खेलत संग अनुज बालक नित, जोगवत अनट अपाउ।
जीति-हारि चुचुकारि दुलारत, देत दिवावत दाउ ॥ ३ ॥
सिला साप-संताप-बिगत भइ, परसत पावन पाउ।
दई सुगति सो न हेरि हरष हिय, चरन छुएको पछिताउ ॥ ४ ॥
भव-धनु भंजि निदरि भूपति भृगुनाथ खाइ गये ताउ।
छमि अपराध, छमाइ पाँय परि, इतौ न अनत समाउ ॥ ५ ॥
कह्यो राज, बन दियो नारिबस, गरि गलानि गयो राउ।
ता कुमातुको मन जोगवत ज्यौं निज तन मरम कुघाउ ॥ ६ ॥
कपि-सेवा-बस भये कनौड़े, कह्यो पवनसुत आउ।
देबेको न कछू रिनियाँ हौं धनिक तूँ पत्र लिखाउ ॥ ७ ॥
अपनाये सुग्रीव बिभीषण, तिन न तज्यो छल-छाउ।
भरत सभा सनमानि सराहत, होत न हृदय अघाउ ॥ ८ ॥
निज करुना करतूति भगतपर चपत चलत चरचाउ।
सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत, सुनत कहत फिरि गाउ ॥ ९ ॥
समुझि समुझि गुनग्राम रामके, उर अनुराग बढ़ाउ।
तुलसिदास अनयास रामपद पइहै प्रेम-पसाउ ॥१०॥

[६]

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतित-पावन जग, केहि अति दीन पियारे ॥ १ ॥
कौने देव बराइ बिरद-हित, हठि-हठि अधम उधारे।
खग-मृग, व्याध, पषान, बिटप जड़, जवन कवन सुर तारे ॥ २ ॥
देव, दनुज, मुनि, नाग, मनुज, सब माया-बिबस बिचारे।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु, कहा अपनपौ हारे ॥ ३ ॥

[७]

जौ निज मन परिहरै बिकारा ।
तौ कत द्वैत-जनित संसृति-दुख, संसय सोक अपारा ॥ १ ॥
सत्रु, मित्र, मध्यस्थ, तीनि ये मन कीन्हें बरिआईं ।
त्यागन, गहन, उपेच्छनीय, अहि, हाटक, तृनकी नाईं ॥ २ ॥
असन, बसन, पसु, बस्तु बिबिध बिधि, सब मनि महँ रह जैसे ।
सरग, नरक, चर-अचर लोक बहु, बसत मध्य मन तैसे ॥ ३ ॥
बिटप-मध्य पुतरिका, सूत महँ कंचुकि बिनहिं बनाये ।
मन महँ तथा लीन नाना तनु, प्रगटत अवसर पाये ॥ ४ ॥
रघुपति-भगति-बारि-छालित चित, बिनु प्रयास ही सूझै ।
तुलसिदास कह चिद-बिलास जग बूझत बूझत बूझै ॥ ५ ॥

[८]

जो पै कृपा रघुपति कृपालु की, बैर और के कहा सरै ।
होइ न बाँको बार भगतको, जो कोउ कोटि उपाय करै ॥ १ ॥
तकै नीचु जो मीचु साधु की, सो पामर तेहि मीचु मरै ।
वेद-विदित प्रहलाद कथा सुनि, को न भगति पथ पाउँ धरै ॥ २ ॥
गज उधारि हरि थप्यो बिभीषन, ध्रुव अबिचल कबहूं न टरै ।
अंबरीष की साप सुरति करि, अजहुँ महामुनि ग्लानि गरै ॥ ३ ॥
सो धौं कहा जु न कियो सुजोधन, अबुध आपने मान जरै ।
प्रभु-प्रसाद सौभाग्य बिजय-जस पांडवनै बरिआइ बरै ॥ ४ ॥
जोइ-जोइ कूप खनैगो परकहँ, सो सठ फिरि तेहि कूप परै ।
सपनेहु सुख न संतद्रोही कहँ सुरतरु सोउ बिष-फरनि फरै ॥ ५ ॥
हैं काके द्वै सीस ईसके जो हठि जनकी सीवँ चरै ।
तुलसिदास रघुबीर-बाहुबल सदा अभय, काहू न डरै ॥ ६ ॥

दीनदयालु, दुरित दारिद दुख दुनी दुसह तिहुँ ताप तई है।
देव दुवार पुकारत आरत, सबकी सब सुख हानि भई है ॥ १ ॥
प्रभुके बचन, बेद-बुध-सम्मत, 'मम मूरति महिदेवमई है'।
तिनकी मति रिस-राग-मोह-मद, लोभ लालची लीलि लई है॥ २ ॥
राज समाज कुसाज कोटि कटु कलपित कलुष कुचाल नई है।
नीति, प्रतीति प्रीति परमित पति हेतुवाद हठि हेरि हई है ॥ ३ ॥
आश्रम-बरन-धरम-बिरहित जग, लोक-बेद मरजाद गई है।
प्रजा पतित, पाखंड-पापरत, अपने अपने रंग रई है ॥ ४ ॥
सांति, सत्य, सुभ रीति गई घटि, बढ़ी कुरीति, कपट कलई है।
सीदत साधु, साधुता सोचति, खल बिलसत, हुलसति खलई है॥ ५ ॥
परमारथ स्वारथ, साधन भये अफल, सफल नहिं सिद्धि सई है।
कामधेनु-धरनी कलि-गोमर-बिबस बिकल जामति न बई है ॥ ६ ॥
कलि-करनी बरनिये कहाँ लौं, करत फिरत बिनु टहल टई है।
तापर दाँत पीसि कर मींजत, को जानै चित कहा ठई है ॥ ७ ॥
त्यों-त्यों नीच चढ़त सिर ऊपर, ज्यों-ज्यों सीलबस ढील दई है।
सरुष बरजि तरजिये तरजनी, कुम्हिलैहै कुम्हड़े की जई है ॥ ८ ॥
दीजै दादि देखि नातो, बलि मही मोद-मंगल रितई है।
भरे भाग अनुराग लोग कहैं, राम कृपा-चितवनि चितई है ॥ ९ ॥
बिनती सुनि सानंद हेरि हँसि करुणा बारि भूमि भिजई है।
राम-राज भयो काज, सगुन सुभ, राजाराम जगत-बिजई है ॥१०॥
समरथ बड़ो, सुजान सुसाहब, सुकृत-सैन हारत जितई है।
सुजन सुभाव सराहत सादर, अनायास साँसति बितई है ॥११॥
उथपे थपन, उजारि बसावन, गई बहोरि बिरद सदई है।
तुलसी प्रभु आरत आरतिहर, अभय बाँह केहि-केहि न दई है॥१२॥

[१०]

रघुपति-भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि बनि आई॥ १॥

जो जेहि कला कुसल ताकहँ सोइ सुलभ सदा सुखकारी।
सफरी सनमुख जल-प्रवाह सुरसरी वहै गज भारी॥ २॥

ज्यों सर्करा मिलै सिकता महँ, वलतें न कोउ विलगावै।
अति रसग्य सूच्छम पिपीलिका, विनु प्रयास ही पावै॥ ३॥

सकल दृस्य निज उदर मेलि, सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख, अतिसय द्वैत-वियोगी॥ ४॥

सोक मोह भय हरष दिवस-निसि, देसकाल तहँ नाहीं।
तुलसिदास यहि दसाहीन संसय निरमूल न जाहीं॥ ५॥

कविवर रहीम

दोहे

अच्युत-चरन-तरंगिनी, सिव-सिर-मालति-माल।
हरि त बनायो सुरसरी, कीजो इंदव-भाल ॥ १ ॥

कदली, सीप, भुजंग-मुख, स्वाँति एक गुण तीन।
जैसी संगति बैठिये, तैसोई फल दीन ॥ २ ॥

करमहीन रहिमन लखो, धँस्यो बड़े घर चोर।
चिन्तन ही बड़ लाभ के, जागत ह्वैगो भोर ॥ ३ ॥

कहु रहीम कैसे निभै, बेर केर कौ संग।
वे डोलत रस आपने, उनके फाटत अंग ॥ ४ ॥

काज परै कछु और है, काज सरै कछु और।
रहिमन भँवरी के भए, नदी सिरावत मौर ॥ ५ ॥

कौन बड़ाई जलधि मिलि, गंग नाम भो धीम।
केहि की प्रभुता नहिं घटी, पर घर गये रहीम ॥ ६ ॥

खैर, खून, खाँसी, खुसी, बैर, प्रीति, मदपान।
रहिमन दावे ना दबैं, जानत सकल जहान ॥ ७ ॥

गुन ते लेत रहीम जन, सलिल कूप ते काढ़ि।
कूपहुँ ते कहुँ होत है, मन काहू को बाढ़ि ॥ ८ ॥

जो घर ही में घुसि रहे, कदली सुपत सुडील।
तो रहीम तिनते भले पथ के अपत करील ॥ ९ ॥

जो रहीम ओछो बढ़ै, तौ अति ही इतराय।
प्यादे सों फरजी भयो, टेढ़ो टेढ़ो जाय ॥१०॥

जो रहीम करिबो हुतौ, ब्रज को इहै हवाल।
तौ काहे कर पर धर्‌यौ, गोबर्धन गोपाल ॥११॥

दुरदिन परे रहीम कहि, भूलत सब पहिचानि।
सोच नहीं वित हानि कौ, जो न होय हित हानि ॥१२॥

देनहार कोउ और है, भेजत सो दिन रैन।
लोग भरम हम पै धरें, याते नीचे नैन ॥१३॥

प्रीतम छबि नैनन बसी, पर छबि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आप फिरि जाय ॥१४॥

पावस देखि रहीम मन, कोइल साधे मौन।
अब दादुर बकता भए, हमको पूछत कौन ॥१५॥

मान सहित विष खायके, संभु भए जगदीस।
बिना मान अमृत पिए, राहु कटायो सीस ॥१६॥

रहिमन असमय के परे, हित अनहित ह्वै जाय।
बधिक बधै मृग बान सों, रुधिरै देत बताय ॥१७॥

रहिमन अँसुआ नयन ढरि, जिय दुख प्रगट करेइ।
जाहि निकारो गेह ते, कस न भेद कहि देइ ॥१८॥

रहिमन आँटा के लगे, बाजत है दिन राति।
घिउ सक्कर जे खात हैं, तिनकी कहा बिसाति ॥१९॥

रहिमन गली है साँकरी, दूजो ना ठहराहिं।
आपु अहै तो हरि नहीं, हरि तो आपुन नाहिं ॥२०॥

रहिमन तीन प्रकार ते, हित अनहित पहिचानि।
परबस परे, परोस बस, परे मामिला जानि ॥२१॥

रहिमन नीच प्रसंग ते, नित प्रति लोभ बिकार।
नीर चोरावति संपुटी, मारु सहत घरिआर ॥२२॥

रहिमन प्रीति सराहिए, मिले होत रँग दून।
ज्यों जरदी हरदी तजै, तजै सफेदी चून ॥२३॥

रहिमन प्रीति न कीजिए, जस खीरा ने कीन।
ऊपर से तो दिल मिला, भीतर फाँकें तीन ॥२४॥

रहिमन वे नर मर चुके, जे कहुँ माँगन जाहिं।
उनते पहिले वे मुए, जिन मुख तिकसत नाहिं ॥२५॥

बरवै

करत घुसड़ि घन-घुरवा, मुरवा सोर।
लगि रह बिकसि अकुँरवा, नन्दकिसोर ॥ १ ॥

अति अद्भुत छवि सागर, मोहन गात।
देखत ही सखि बूढ़त, दृग-जलजात ॥ २ ॥

लोग लुगाई हिल मिल, खेलत फाग।
पर्‍यौ उड़ावन मोकौं, सब दिन काग ॥ ३ ॥

जबते मोहन बिछुरे, कछु सुधि नाहिं।
रहे प्रान परि पलकनि, दृग मग माहिं ॥ ४ ॥

कहियो पथिक सँदिसवा, गहि के पाय।
मोहन तुम बिन, तनकहु, रह्यौ न जाय ॥ ५ ॥

जदपि बसत है सजनी, लाखन लोग।
हरि बिन कित यह चित को, सुख संजोग ॥ ६ ॥

ज्यों चौरासी लखि में, मानुष देह।
त्यों ही दुर्लभ जग में सहज सनेह ॥ ७ ॥

मदनाष्टक

शरद निशि निशीथे चाँद की रोशनाई।
सघन वन निकुंजे कान्ह बंशी बजाई॥
रति, पति, सुत, निद्रा, साइयाँ छोड़ भागीं।
मदन-शिरसि भूयः क्या बला आन लागी॥ १॥

कलिन ललित माला वा जवाहिर जड़ा था।
चपल चखन-वाला चाँदनी में खड़ा था॥
कटि तट बिच मेला पीत सेला नवेला।
अलि बन अलबेला यार मेरा अकेला॥ २॥

तरल तरनि सी हैं तीर सी नोकदारैं।
अमल कमल सी हैं दीर्घ हैं दिल बिदारैं॥
मधुर मधुप हेरैं माल मस्ती न राखें।
बिलसति मन मेरे सुन्दरी श्याम आँखें॥ ३॥

पकरि परम प्यारे साँवरे को मिलाओ।
असल अमृत प्याला क्यों न मुझको पिलाओ॥
इति वदति पठानी मन्मथांगी बिरागी।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी॥ ४॥

रसखानि

[१]

मानुष हौं तौ वही 'रसखानि', बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तौ कहा बस मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन।
पाहन हौं तौ वही गिरि कौ, जौ धर्‌यौ कर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तौ बसेरौ करौं नित, कालिंदी कूल कदंब की डारन ॥१॥

[२]

या लकुटी अरु कामरिया पर, राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहुँ सिद्धि नवो निधि को सुख, नंद की गाय चराय बिसारौं।
'रसखानि' कबौं इन आँखिन तें, ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिनहूँ कलधौत के धाम, करील के कुंजन ऊपर वारौं ॥२॥

[३]

धूरि भरे अति सोभित स्याम जू, तैसी बनी सिर सुंदर चोटी।
खेलत खात फिरैं अँगना, पग पैजनियाँ कटि पीरी कछोटी।
वा छबि को 'रसखानि', बिलोकत, वारत काम कला निज कोटी।
काग के भाग बड़े सजनी, हरि हाथ सों ले गयो माखन रोटी ॥३॥

[४]

काहू सों माई कहा कहिये, सहिये सु जोई 'रसखानि' सहावै।
नेम कहा जब प्रेम कियो, अब नाचिये सोई जो नाच नचावै।
चाहति हैं हम और कहा सखि, क्यों हूँ कहूँ पिय देखन पावैं।
चेरिय सों जु गुपाल रच्यो तौ, चलौ री सबै मिलि चेरी कहावैं ॥४॥

[५]

दानी भये नये माँगत दान, सुनै जु पै कंस तौ बाँधि कै जैहौ।
रोकत हौ मग में 'रसखानि' पसारत हाथ, कछू नहिं पैहौ।
टूटे छरा, बछरादिक गोधन, जो धन है सु सबै धर दैहौ।
जैहै अभूषन काहू सखी कौ तौ, मोल छला के लला न बिकैहौ॥५॥

[६]

मोरपखा सिर ऊपर राखि हौं, गुंज की माल गरे पहिरौंगी।
ओढ़ि पितंबर लै लकुटी, बन गावत गोधन संग फिरौंगी।
भावतो वोहि मेरो 'रसखानि', सौं, तेरे कहे सब स्वाँग करौंगी।
पै मुरली मुरलीधर की अधरान धरी अधरा न धरौंगी॥६॥

[७]

बंसी बजावत आनि कढ़्यो री, गली में अली कछु टोना सों डारैं।
नैक चितै तिरछी करि दीठि, चलो गयो मोहन मूठि सी मारैं।
ताही घरी सों परी वह सेज पै, प्यारी न बोलति प्रानहुँ वारैं।
राधिका जीहै तो जीहैं सबै, न तो पीहैं हलाहल नंद के द्वारैं॥७॥

[८]

दूध दुह्यो सीरो पर्‌यो, तातो न जमायो बीर,
जामन दयो सो धरो धरोई खटाइगो।
आन हाथ आन पाँय सबही के तबहीं तें,
जबहीं ते 'रसखानि' ताननि सुनाइगो।
ज्यों ही नर त्यों ही नारी तैसोई तरुन वारी,
कहिये कहा री सब ब्रज बिललाइगो।
जानिये न आली यह छोहरा जसोमति को,
बाँसुरी बजाइगो कि विष बगराइगो॥८॥

[९]

एरी आजु काल्हि सब लोक-लाज त्यागि, दोऊ
सीखे हैं सबै विधि सनेह सरसाइबो।
यह 'रसखानि' दिना द्वै में बात फैलि जैहै,
कहाँ लौं सयानी चंदा हाथन छिपाइबो।
आजु हौं निहार्‌यो बीर निपट कालिंदी तीर,
दोउन को दोउन सों मुरि मुसकाइबो।
दोऊ परैं पैयाँ, दोऊ लेत हैं बलैयाँ,
उन्हैं भूलि गईं गैयाँ, इन्हैं गागरि उठाइबो ।।९।।

[१०]

कान्ह भये बस बाँसुरी के, अब कौन सखी हमको चहिहै।
निसि द्यौस रहै यह साथ लगी, यह सौतिन साँसत को सहिहै।
जिन मोहि लियो मनमोहन को, 'रसखानि' सु क्यों न हमैं दहिहै।
मिलि आवो सबै कहूँ भाजि चलैं, अब तौ ब्रज में बँसुरी रहिहै ।।१०।।

केशवदास

[१]

लोचन ऐंचि लिये इत कों मन की गति जद्यपि नेह नही है।
आनन आइ गये श्रम-सीकर रोम उठे उर कंप लही है।
तासों कहा कहियै कहि केसव लाज समुद्र में बूड़ि रही है।
चित्रहु में हरि मित्रहिं देखति यों सकुची जनु बाँह गही है ॥१॥

[२]

'केसव' चौंकति सी चितवै छतिया धर कै तरकै तकि छाँहीं।
बूझियै और कहै मुख और सु और की और भई पल माहीं।
डीठि लगी किधौं बाइ लगी मन भूलि पर्यो कै कर्यो कछु काँहीं।
घूँघट की घट की पट की हरि आजु कछू सुधि राधिकै नाहीं ॥२॥

[३]

आपु न हूजै दुखी दुख जाके सु ताहि कहा कबहूँ दुख दीजै।
जा बिन और सुहाइ न 'केसव' ताहि सुहाइ सु तौ सब कीजै।
भाग बड़े जु रची तुम सों वह तौ खिझकाइ कहौ कह लीजै।
जो रिस जाइ तौ जैयै मनावन, तातो है दूध सिराइ तौ पीजै ॥३॥

[४]

केसोदास लाख लाख भाँतिन के अभिलाष,
बारिदै री बावरी न बारि हियो होरी सी।
राधा हरि केरी प्रीति सबतें अधिक जानि,
रति रतिनाथ हू में देखौं रति थोरी सी।

तिन महिं भेद न भवानि हू पै पायौ जाइ,
भानतमें की भारती की भारती है भोरी सी।
एकै गति एकै मति एकै प्रान एकै मन,
देखिबे कौं देह द्वै, हैं नैनन की जोरी सी ॥४॥

[५]

बानी जगरानी की उदारता बखानी जात,
ऐसी मति 'केसव' उदार कौन की भई।
देवता प्रसिद्ध सिद्ध रिषिराज तपबृद्ध,
कहि कहि हारे सब कहि न काहू लई।
भावी, भूत, बर्त्तमान जगत बखानत है,
'केसोदास' क्यों हू न बखानी काहू पै गई।
बनैं पति चारि मुख, पूत बनैं पाँचमुख,
नाती बनैं षट्मुख तदपि नई नई ॥५॥

[६]

बैठी सखीन की सोहै सभा सब ही के जु नैनन माँझ बसै।
बूझत बात बराइ कहै मन ही मन 'केसवराइ' हँसै।
खेलति है इत खेल उतै पिय, चित्त खिलावति यों बिलसै।
कोऊ जानै नहीं दृग दौरि कबै, कित ह्वै हरि आनन ह्वै निकसै ॥६॥

बिहारी

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँईं परैं स्यामु हरित-दुति होइ ॥१॥

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन मैं करत हैं नैननु हीं सब बात ॥२॥

नहिं परागु, नहिं मधुर मधु, नहिं बिकासु इहिं काल।
अली, कली ही सौं बँध्यौ, आगैं कौन हवाल ॥३॥

मकराकृति गोपाल कैं सोहत कुंडल कान।
धर्‌यौ मनौ हिय-घर समरु, ड्यौढ़ी लसत निसान ॥४॥

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यौं ज्यौं बूड़ै स्याम रँग, त्यौं त्यौं उज्जलु होइ ॥५॥

तजि तीरथ, हरि-राधिका-तन-दुति करि अनुरागु।
जिहिं ब्रज-केलि-निकुंज-मग पग पग होतु प्रयागु ॥६॥

नितप्रति एकत हीं रहत, बैस-बरन-मन-एक।
चहियत जुगलकिसोर लखि लोचन-जुगल अनेक ॥७॥

आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहसु ककै सनेह-बस सखी सबै ढिंग जाति ॥८॥

स्वारथु, सुकृतु न, श्रमु बृथा, देखि, बिहंग, बिचारि।
बाज, पराएँ पानि परि तूँ पच्छीनु न मारि ॥९॥

सीस-मुकुट, कटि-काछनी, कर-मुरली, उर-माल।
इहिं बानक मो मन सदा बसौ, बिहारी लाल ॥१०॥

हरि-छबि-जल जब तैं परे, तब तैं छिनु बिछुरैं न।
भरत, ढरत, बूड़त, तरत, रहत घरी लौं नैन ॥११॥

सखि, सोहति गोपाल कैं उर गुंजनु की माल।
बाहिर लसति मनौ पिए दावानल की ज्वाल ॥१२॥

भूषन-भारु सँभारिहै क्यों इहिं तन सुकुमार।
सूधे पाँइ न धर परैं सोभा हीं के भार ॥१३॥

लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ॥१४॥

तिय, कित कमनैती पढ़ी, बिनु जिहिं भौंह-कमान।
चलचित बेझैं चुकति नहिं बंकबिलोकनि-बान ॥१५॥

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हियें, दई, नई, यह रीति ॥१६॥

रनित भृंग-घंटावली, झरित दान मधु-नीरु।
मंद मंद आवतु चल्यौ कुंजरु कुंज-समीरु ॥१७॥

चुवतु स्वेद मकरंद-कन, तरु-तरुतर बिरमाइ।
आवतु दच्छिन देस तैं थक्यौ बटोही बाइ ॥१८॥

मानहु बिधि तन अच्छ छबि स्वच्छ राखिबैं काज।
दृग-पग-पोंछन कौं करे भूषन पायंदाज ॥१९॥

अधर धरत हरि कैं परत, ओठ-डीठि-पट-जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी इंद्र धनुष-रंग होति ॥२०॥

मैं यह तोहीं मैं लखी भगति अपूरब, बाल।
लहि प्रसाद-माला जु भौ तनु कदंब की माल ॥२१॥

बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करैं भौंहनु हँसैं, दैन कहैं नटि जाइ ॥२२॥

कहलाने एकत वसत अहि मयूर, मृग बाघ।
जगतु तपोवन सौ कियौ दीरघ-दाघ निदाघ ॥२३॥

बिरह-बिकल बिनु ही लिखी पाती दई पठाइ।
आँक-बिहूनीयौ सुचित सूनैं बाँचत जाइ ॥२४॥

कर लै, चूमि, चढ़ाइ सिर, उर लगाइ, भुज भेंटि।
लहि पाती पिय की लखति, बाँचति, धरति समेटि ॥२५॥

लाज-लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं।
ए मुँहज़ोर तुरंग ज्यौं, ऐंचत हूँ चलि जाहिं ॥२६॥

पलनु प्रगटि, बरुनीनु बढ़ि नहिं कपोल ठहरात।
अँसुवा परि छतिया, छिनकु छनछनाइ, छिपि जात ॥२७॥

इन दुखिया अँखियानु कौ सुखु सिरज्यौई नाहिं।
देखैं बनै न देखतै, अनदेखैं अकुलाँहिं ॥२८॥

चिरजीवौ जोरी, जुरै क्यौं न सनेह गँभीर।
को घटि, ए वृषभानुजा, वे हलधर के बीर ॥२९॥

सघन कुंज-छाया सुखद सीतल सुरभि-समीर।
मनु ह्वै जातु अजौं वहै उहि जमुना के तीर ॥३०॥

मतिराम

[१]

कुंदन कौ रँगु फीको लगै, झलकै अति अंगन चारु गुराई ।
आँखिन में अलसानि चितौन में मंजु बिलासन की सरसाई ।
को बिन मोल बिकात नहीं, 'मतिराम' लहै मुसकानि मिठाई ।
ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई ।।१।।

[२]

क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै मोहन को तन-पानिप पीजै ।
नेकु निहारें कलंक लगै इहि गाँव बसे कहौ कैसे के जीजै ।
होत रहै मन यों 'मतिराम', कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै ।
ह्वै बनमाल हिए लगिए अरु ह्वै मुरली अधरारस लीजै ।।२।।

[३]

मोरपखा मतिराम किरीट में कंठ बनी बनमाल सुहाई ।
मोहन की मुसुकानि मनोहर, कुंडल डोलनि में छबि छाई ।
लोचन लोल बिसाल बिलोकनि को न बिलोकि भयो बस माई ।
वा मुख की मधुराई कहा कहौं ! मीठी लगै अँखियान लुनाई ।।३।।

[४]

जा छिन तै 'मतिराम' कहै मुसकात कहूँ निरख्यौ नँदलालहि ।
ता छिन तें छिन-हीं-छिन छीन बिथा बहु बाढ़ी बियोग की बालहि ।
पोंछति है कर सौं किसलै गहि बूझति स्याम सरीर गुपालहि ।
भोरी भई है मयंकमुखी, भुज भेंटति है भरि अंक तमालहि ।।४।।

[५]

सुन्दर बदनि राधे सोभा को सदन तेरो,
बदन बनायो चारिबदन बनाय कै।
ताकी रुचि लैन कौं उदित भयो रैनपति,
मूढ़मति राख्यो निज कर बगराय कै।
'मतिराम' कहै निसिचर चोर जानि याहि,
दीनी है सजाइ कमलासन रिसाय कै।
रातौं दिन फेरै अमरालय के आसपास,
मुख में कलंक मिसि कारिख लगाय कै॥ ५॥

भूषण

[१]

उद्धत अपार तुअ दुन्दभी धुकार साथ
लंघे पारावार बृन्द बैरी बालकन के।
तेरे चतुरंग के तुरंगन के रँगे-रज,
साथ ही उड़त रजपुंज हैं परन के।
दच्छिन के नाथ सिवराज तेरे हाथ चढ़ै,
धनुष के साथ गढ़-कोट दुरजन के।
भूषन असीसैं, तोहिं करत कसीसैं पुनि,
बाननि के साथ छूटै प्रान तुरकन के ॥ १ ॥

[२]

बाने फहराने घहराने घंटा गजन के,
नाहीं ठहराने रावराने देस देस के।
नग भहराने ग्राम नगर पराने सुनि,
बाजत निसाने सिवराज जू नरेस के।
हाथिन के हौदा उकसाने कुम्भ कुञ्जर के
भौन को भजाने अलि छूटे लट केस के।
दल के दरारन तें कमठ करारे फूटे
केरा कैसे पात बिहराने फन सेस के ॥ २ ॥

[३]

सबन के ऊपर ही ठाढ़ो रहिबे के जोग,
ताहि खरो कियो छ हजारिन के नियरे।
जानि गैरमिसिल गुसीले गुसा धारि उर
कीन्हो ना सलाम न बचन बोले सियरे।

भूषन भनत महाबीर बलकन लाग्यो
सारी पातसाही के उड़ाय गये जियरे।
तमक तें लाल मुख सिवा को निरखि भये
स्याह मुख नौरँग सिपाह मुख पियरे ॥ ३ ॥

[४]

भुज भुजगेस की वै संगिनी भुजंगिनी सी
खेदि खेदि खाती दीह दारुन दलन के।
बखतर पाखरन बीच धँसि जाति मीन
पैरि पार जात परबाह ज्यों जलन के।
रैया राव चंपति के छत्रसाल महाराज
भूषन सकै करि बखान को बलन के।
पच्छी परछीने ऐसे परे परछीने बीर
तेरी बरछी ने बर छीने हैं खलन के ॥ ४ ॥

[५]

निकसत म्यान तें मयूखैं प्रलैभानु कैसी
फारैं तमतोम से गयंदन के जाल कों।
लागति लपकि कंठ बैरिन के नागिन सी
रुद्रहि रिझावै दै दै मुंडन की माल कों।
लाल छितिपाल छत्रसाल महा बाहुबली
कहाँ लौं बखान करौं तेरी करवाल कों।
प्रतिभट कटक कटीले केते काटि काटि
कालिका सी किलकि कलेऊ देति काल कों ॥ ५ ॥

सेनापति

[१]

सेनापति उनए नए जलद सावन के,
चारि हू दिसान घुमरत भरे तोइ के।
सोभा सरसाने, न बखाने जात काहू भाँति,
आने हैं पहार मानो काजर के ढोइ के।
घन सो गगन छयौ, तिमिर सघन भयौ,
देखि न परत मानौ रवि गयौ खोइ कै।
चारि मास भरि स्याम निसा के भरम करि,
मेरे जान याही तें रहत हरि सोइ कै॥ १॥

[२]

खंड खंड सब दिग-मंडल जलद सेत,
सेनापति मानो सृंग फटकि पहार के।
अंबर अडंबर सों उमड़ि-घुमड़ि छिन,
छिछकें छछारे छिति अधिक उछार के।
सलिल सहल मानो सुधा के महल नभ,
तूल के पहल किधौं पवन अधार के।
पूरब कों भाजत हैं, रजत से राजत हैं,
गग गग गाजत गगन घन क्वार के॥ २॥

[३]

कातिक की राति थोरी थोरी सियराति सेना-
पति है सुहाति सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद, फूली मालती सघन बन,
फूलि रहे तारे मानो मोती अनगन हैं।

उदित विमल चंद चाँदनी छिटक रही,

राम कैसो जस अध ऊरध गगन है।

तिमिर हरन भयो, सेत है बरन सब,

मानहु जगत छीरसागर मगन है॥ ३॥

[४]

सीत कौ प्रबल सेनापति कोपि चढ़्यौ दल,

निबल अनल गयौ सूर सियराइ कै।

हिम के समीर तेई बरसें विषम तीर,

रही है गरम भौन कोनन में जाइ कै।

धूम नैन बहै लोग आगि पर गिरे रहैं,

हिये सों लगाए रहैं नेकु सुलगाइ कै।

मानो सीत, जानि महासीत तें पसारि पानि,

छतियाँ की छाँह राख्यो पाउक छिपाइ कै॥ ४॥

[५]

सिसिर में ससि कौ सरूप पावै सविताऊ,

घामहूँ में चाँदनी की दुति दमकति है।

सेनापति होत सीतलता है सहसगुनी,

रजनी की झाईं बासर में झमकति है।

चाहत चकोर सूर ओर दृग-छोर करि,

चकवा की छाती तजि धीर धसकति है।

चंद के भरम होत मोद है कमोदनी कौं,

ससि संक पंकजिनी फूलि न सकति है॥ ५॥

आलम

[१]

जा थल कीन्हें बिहार अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करैं ।
जा रसना सों करी बहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यो करैं ।
आलम जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं ।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं ।।१।।

[२]

कैधौं मोर सोर तजि गये री अनत भाजि,
कैधौं उत दादुर न बोलत हैं, ए दई !
कैधौं पिक चातक महीप काहू मारि डारे,
कैधौं बकपाँति उत अंतगति ह्वै गई ।
'आलम' कहै, हो आली ! अजहूँ न आये प्यारे,
कैधौं उत रीति बिपरीत विधि ने ठई ।
मदन महीप की दुहाई फिरिबै तें रही,
जूझि गये मेघ, कैधौं दामिनी सती भई ।।२।।

घनानंद

[१]

परकाजहि देह कों धारि फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि-नीर सुधा के समान करौ सब ही बिधि सज्जनता सरसौ।
घनआनँद जीवनदायक हौ कछू मेरियौ पीर हियें परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवानहिं लै बरसौ॥१॥

[२]

पूरन प्रेम को मन्त्र महा पन जा मधि सोधि सुधारि है लेख्यो।
ताही के चारु चरित्र बिचित्रनि यौं पचि कै रचि राखि बिसेख्यो।
ऐसो हियो हित-पत्र पवित्र जु आन-कथा न कहूँ अवरेख्यो।
सो घनआनँद जान अजान लौं टूक कियो, परि बाँचि न देख्यो॥२॥

[३]

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहँ साँचे चलैं तजि आपुनपौ, झिझकैं कपटी जे निसाँक नहीं।
घनआनँद प्यारे सुजान सुनो इत एक तें दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन-सी पाटी पढ़े हौ लला, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥३॥

[४]

पहले अपनाय सुजान सनेह सौं क्यों फिरि तेह कै तोरियै जू।
निरधार अधार दै धार-मँझार दई गहि बाँह न बोरियै जू।
घनआनँद आपने चातिक कों गुन बाँधिकै मोह न छोरियै जू।
रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कै आस बिसास में यों बिष घोरियै जू॥४॥

देव

[१]

पाँयनि नूपुर मंजु बजैं, कटि किंकिन में धुनि की मधुराई।
साँवरे अंग लसै पटपीत, हिये हुलसै बनमाल सुहाई।
माथे किरीट बड़े दृग चंचल मन्द हँसी मुखचंद-जुन्हाई।
जै जग-मन्दिर-दीपक सुन्दर श्री ब्रजदूलह देव सहाई ॥१॥

[२]

फटिक सिलानि सों सुधार्‌यो सुधा-मन्दिर,
उदधि दधि कौ-सो अधिकाई उमगै अमंद।
बाहेर ते भीतर लौं भीति न देखै "देव",
दूध को सौ फेनु फैलो आँगन फरसबंद।
तारा-सी तरुनि तामैं ठाढ़ी झिलमिलि होति,
मोतिन की जोति मिली मल्लिका को मकरन्द।
आरसी-से अंबर मैं आभा-सी उज्यारी लगै,
प्यारी राधिका को प्रतिबिम्ब सो लगत चंद ॥२॥

[३]

'देव' मैं सीस बसायो सनेह कै भाल मृगम्मद-बिंदु कै भाख्यौ।
कंचुकी में चुपर्‌यो करि चोवा लगाय लियो उर सौं अभिलाख्यौ।
लै मखतूल गुहे गहने, रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यौ।
साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैननि को कजरा करि राख्यौ ॥३॥

[४]

बरुनी बघम्बर औ, गूदरी पलक दोऊ,
कोये राते बसन भगौहैं भेष रखियाँ।

बूड़ी जल ही में, दिन जामिनि रहत भौहें,
धूम सिर छायौ बिरहानल बिलखियाँ।
अँसुवा फटिक-माल, लाल डोरे सेली सजि
भई हैं अकेली तजि चेली संग सखियाँ।
दीजिये दरस 'देव' कीजिये संजोगिनी ये,
जोगिनी ह्वै बैठी हैं बियोगिनी की अँखियाँ ॥४॥

[५]

जब तें कुँवर कान्ह ! रावरी कला-निधान !
कान परी वाके कहूँ सुजस-कहानी-सी।
तब ही तें 'देव' देखी, देवता-सी हँसति-सी,
खीझति-सी, रीझति-सी रूसति, रिसानी-सी।
छोही-सी, छली-सी, छीनि लीन्ही-सी, छकी-सी छीन,
जकी-सी, टकी-सी, लागि थकी थहरानी-सी।
बींधी-सी, बँधी-सी, विष बूड़ी-सी, बिमोहित-सी
बैठी बाल बकति, बिलोकति बिकानी-सी॥ ५॥

[६]

धार में धाय धँसी निरधार ह्वै, जाय फँसीं उकसीं न अबेरी।
री ! अँगराय गिरीं गहिरी, गहि फेरे फिरीं न घिरी नहिं घेरी।
'देव' कछू अपनो बसु ना, रस-लालच लाल चितै भई चेरी।
बेगि ही बूड़ि गयीं पँखियाँ, अँखियाँ मधु कीं मँखियाँ भयीं मेरी॥६॥

[७]

सखी के सकोच गुरु-सोच मृगलोचनि,
रिसानी पिय सों, जु उन नेकु हँसि छुयो गात।
'देव' वे सुभाय मुसकाय उठि गये, यहि,
सिसिकि-सिसिकि निसि खोई, रोय पायो प्रात।

को जानै री बीर ! बिनु बिरही बिरह-बिथा,
हाय-हाय करि पछिताय, न कछू सोहात।
बड़े-बड़े नैनन सों आँसू भरि-भरि ढरि,
गोरो-गोरो मुख आजु ओरो-सो बिलानो जात ॥७॥

[८]

डार द्रुम-पालन, बिछौना नव-पल्लव के,
सुमन झगूला सोहै तन छवि भारी दै।
पवन झुलावै, केकी-कीर बतरावै 'देव',
कोकिल हलावै-हुलसावै कर तारी दै।
पूरित पराग सों उतारो करै राई-नोन,
कंजकली नायिका लतान पुचकारी दै।
मदन-महीप जू को बालक बसंत, ताहि
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै ॥ ८ ॥

[९]

कोऊ कहौ कुलटा, कुलीन-अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनि, कलंकिनि, कुनारी हौं।
कैसो परलोक, नरलोक, बर लोकन मैं,
लीन्ही मैं अलीक, लोक-लीकन तैं न्यारी हौं।
तन जाहि, मन जाहि, देव गुरुजन जाहि,
जीव किन जाहि, टेक टरति न टारी हौं।
ब्रृन्दावन बारी बनवारी की मुकुट बारी,
पीतपटबारी वाहि मूरति पै वारी हौं ॥ ९ ॥

[१०]

सुनि कै धुनि चातक मोरनि की, चहुँ ओरनि कोकिल कूकनि सों।
अनुराग-भरे हरि बागन में सखि ! रागत राग अचूकनि सों।

कवि 'देव' घटा उनयी जु नई बन भूमि भई दल दूकनि सों ।
रँगराती हरी हहराती लता झुकी जाती समीर की झूकनि सों ॥१०॥

[११]

साँसनि ही सों समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि ।
'देव' जियै मिलिवेई की आस, कि आसहु पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन ते मुख फेरी हरैं हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि॥११॥

[१२]

रीझि-रीझि, रहसि-रहसि, हँसि-हँसि उठै,
साँसै भरि, आँसू भरि, कहत दई-दई ।
चौंकि-चौंकि, चकि-चकि, उचकि-उचकि 'देव'
जकि-जकि, बकि-बकि, परत वई-वई ।
दुहुन को रूप-गुन दोऊ बरनत फिरैं,
घर न थिरात, रीति नेह की नई-नई ।
मोहि-मोहि मोहन को मन भयो राधिकामय,
राधा मन मोहि-मोहि मोहन मई भई ॥ १२ ॥

पद्माकर

[१]

गोकुल के कुल के, गली के गोप गाउन के,
जौ लगि कछू-को-कछू भारत भनै नहीं।
कहै पद्माकर परोस-पिछवारन ते,
द्वारन के दौरि गुन-औगुन गनैं नहीं।
तौ लौं चलि चातुर सहेली याहि कोऊ कहूँ,
नीके कैं निचोरै ताहि करत मनै नहीं।
हौं तौ स्याम-रंग मैं चुराइ चित चोराचोरी,
बोरत तौ बोर्‌यौ पै निचोरत बनै नहीं॥ १॥

[२]

आरस सों आरत सम्हारत न सीस-पट,
गजब गुजारत गरीबन की धार पर।
कहै पद्माकर सुगंध सरसार बेस,
बिथुरि बिराजैं बार हीरन के हार पर।
छाजत छबीले छिति छहरि छरा के छोर,
भोर उठि आई केलि मन्दिर के द्वार पर।
एक पग भीतर सु एक देहरी पै धरैं,
एक कर कंज, एक कर है किवार पर॥ २॥

[३]

राधिका सों कहि आई जु तूँ सखि साँमरे की मृदुमूरति जैसी।
ता छिन तें पदमाकर ताहि सुहात कछू न बिसूरति बैसी।

मानहु नीर-भरी घन की घटा अँखिन में रही आनि उनै-सी।
ऐसी भई सुनि कान्ह कथा जु बिलोकहिगी तब होइगी कैसी ॥ ३ ॥

[४]

कूलन में केलि में कछारन में कुंजन में,
क्यारिन में कलित कलीन किलकंत है।
कहै पदमाकर परागन में पौनहू में,
पातन में पिक में पलासन पगंत है।
द्वार में दिसान में दुनी में देस-देसन में,
देखो दीप-दीपन में दीपत दिगंत है।
बीथिन में ब्रज में नबेलिन में बेलिन में,
बनन में बागन में बगरो बसंत है ॥ ४ ॥

[५]

औरै भाँति कुंजन में गुंजरत भौंर भीर,
औरै डौर झौरन में बौरन के ह्वै गये।
कहै पदमाकर सु औरै भाँति गलियान,
छलिया छबीले छैल औरै छबि छ्वै गये।
औरै भाँति बिहग-समाज में आवाज होति,
ऐसे रितुराज के न आज दिन द्वै गये।
औरै रस औरै रीति औरै राग औरै रंग,
औरै तन औरै मन औरै बन ह्वै गये ॥ ५ ॥

[६]

एकै सँग धाये नंदलाल औ गुलाल दोऊ,
दृगनि गये जु भरि आनँद मढ़ै नहीं।
धोइ-धोइ हारी पदमाकर तिहारी सौंह,
अब तौ उपाइ एकौ चित्त पै चढ़ै नहीं।

कैसी करौं, कहाँ जाउँ, कासौं कहौं, कौन सुनै,
कोऊ तौ निकासौ जातें दरद बढ़ै नहीं।
एरी मेरी बीर! जैसे-तैसे इन आँखिन तैं,
कढ़िगौ अबीर पै अहीर तो कढ़ै नहीं ॥ ६ ॥

[७]

दूर ही तें देखति बिथा मैं वा वियोगिनि की,
आई भलें आजि ह्याँ इलाज मढ़ि आवैगी।
कहै पदमाकर सुनो हो घनस्याम, जाहि
चेतत कहूँ जौ एक आहि कढ़ि आवैगी।
सर-सरितान कौं न सूखत लगैगी देर,
एती कछू जुलमिनि ज्वाला बढ़ि आवैगी।
ताके तन ताप की कहौं मैं कहा बात, मेरे
गातहि छुवौ तौ तुम्हें ताप चढ़ि आवैगी ॥ ७ ॥

[८]

ए हो नन्दलाल ऐसी ब्याकुल परी है बाल,
हाल ही चलौ तौ चलौ जोरी जुरि जायगी।
कहै पदमाकर नहीं तौ ये झकोरे लगैं,
ओरे-लौं अचाक बिन घोरे घुरि जायगी।
सीरे उपचारन घनेरे घनसारन कौं,
देखत ही देखो दामिनी-लौं दुरि जायगी।
तौ ही लग चैन जौ लौं चेती है न चंदमुखी,
चेतैगी कहूँ तौ चाँदनी में चुरि जायगी ॥ ८ ॥

दास

[१]

ऊधो तहाँई चलो लै हमें जहँ कूबरी कान्ह बसैं इक ठोरी।
देखिय दास अघाइ अघाइ तिहारे प्रसाद मनोहर जोरी।
कूबरी सों कछु पाइये मंत्र लगाइये कान्ह सों प्रेम की डोरी।
कूबर भक्ति बढ़ाइये बृन्द चढ़ाइये चंदन बंदन रोरी॥ १॥

[२]

अरबिंद प्रफुल्लित देखि कैं भौंर अचानक जाइ अरैं पै अरैं।
वनमाल थली लखि कैं मृगसावक दौरि बिहार करैं पै करैं।
सरसी ढिग पाइ कैं व्याकुल मीन हुलास सौं कूदि परैं पै परैं।
अवलोकि गुपाल को दास जू ये अँखियाँ तजि लाज ढरैं पै ढरैं॥ २॥

[३]

आनन है अरविन्द न फूले अलीगन भूले कहा मड़रात हौ।
कीर तुम्हें कहा बाय लगी भ्रम बिम्ब के ओंठन कों ललचात हौ।
दास जू व्याली न बैनी बनाव है पापी कलापी कहा इतरात हौ।
बोलती बाल न बाजती बीन कहा सिगरे मृग घेरत जात हौ॥ ३॥

[४]

अब तो बिहारी के वे बानक गये री तेरी,
तनदुति केसरि को नैंन कसमीर भो।
श्रौन तुव बानी स्वाति बुन्दन को चातक भो,
स्वासन को भरिबो द्रुपदजा को चीर भो।

हिय को हरष मरु धरनि को नीर भो री,
जियरो मदन तीर-गन को तुनीर भो।
एरी बेगि करिकैं मिलाप थिर थापु नत,
आप अत्र चाहत अतन को सरीर भो ॥ ४ ॥

[५]

भाल में जाके कलानिधि है, वह साहेब ताप हमारो हरैगो।
अंग में जाके विभूति भरी वहै भौन मैं सम्पति भूरि भरैगो।
घातक है जु मनोभव को मन पातक वाही के जारें जरैगो।
दास जो सीस पै गंग धरें रहै ताकी कृपा कहु को न तरैगो ॥ ५ ॥

[६]

प्रेम तिहारे ते प्रानप्रिया सब चेत की बात अचेत ह्वै मेटति।
पायो तिहारो लिख्यो कछु सो छिनहीछिन बाँचत खोलि लपेटति।
छैल जू सैल तिहारी सुने तेहि गैल की धूरि लै नैन घुरेटति।
रावरे अंग को रंग बिचारि तमाल की डार भुजा भरि भेटति ॥ ६ ॥

ठाकुर

[१]

बरुनीन मैं नैन झुकै उझकैं मनौ खंजन प्रेम के जाले परे ।
दिन औधि के कैसें गनौं सजनी अँगुरिन के पौरन छाले परे ।
कवि ठाकुर ऐसी कहा कहिये निज प्रीति करे के कसाले परे ।
जिन लालन चाह करी इतनी तिन्है देखिबे के अब लाले परे ॥१॥

[२]

भूलि न प्रीति करों तुमसों कबहूँ नहिं नैन सों नैन मिलाऊँ ।
बात करौं न सुनौं तुम्हरी अपने चित की कबहूँ न चिताऊँ ।
मोहि कहा परी प्यारे गोपाल जू लाज मरों कुल कानि घटाऊँ ।
ना बिष खाऊँ न प्रान तजों गुर खाउँ न काहू सों कान छिदाऊँ॥२॥

[३]

वा निरमोहिन रूप की रासि जोऊ उर हेत न ठानति ह्वै है ।
बार हूँ बार बिलोकि घरी घरी, सूरति तौ पहिचानति ह्वै है ।
ठाकुर या मन की परतीत है, जो पै सनेह न मानति ह्वै है ।
आवत है नित मेरे लिए इतनो तो विशेष कै जानति ह्वै है ॥३॥

[४]

ठाढ़ी रहो न डगौ न भगौ अब देखिहौं जो कछु खेलत ख्यालहिं ।
गावन दै री बजावन दै सजि आवन दै इतै नंद के लालहिं ।
ठाकुर हौं रँगि हौं रँग सों अँग ओडिहौं बीर अबीर गुलालहिं ।
धूँधर में, धधकी में धमार में, हौं धँसि कै धरि लैहौं गुपालहिं ॥४॥

[५]

कानन दूसरो नाम सुनै नहीं एक ही रंग रँग्यो यह डोरो ।
धोखेहु दूसरो नाम कढ़ै रसना मुख काढ़ि हलाहल बोरो ।
ठाकुर चित्त की वृत्ति यही हम कैसे हूँ टेक तजै नहीं भोरो ।
बावरी वे अँखियाँ जरि जाँहि जो साँवरो छाँड़ि निहारतीं गोरो ।।५।।

[६]

हम एक कुराह चलीं तौ चलीं हटको इन्हें ये ना कुराह चलैं ।
यह तौ बलि आपनो सूझतो है प्रन पालिये सोई जो पाले पलैं ।
कबि 'ठाकुर' प्रीति करीहैं गोपाल सों टेरे कहौं सुनो ऊँचे गलैं ।
हमें नीकी लगी सो करी हमनै, तुम्हें नीकी लगो न लगो तौ भलैं ।।६।।

द्विजदेव

भूले भूले भौंरे बन भाँवरें भरेंगे चहूँ,
फूलि फूलि किंसुक जकी सी रहि जाय है।
'द्विजदेव' की सौं वह कूजनि बिसासी कूर,
कोकिल कलंकी ठौर ठौर पछिताय है।
आवत बसंत के न ऐहै जो पै स्याम,
तो पै बावरी बलाय सों हमारे हू उपाय है।
पी हैं पहिले ही सौं हलाहल मँगाय,
या कलानिधि की एकौ कला चलन न पाय है।।१।।

सुर ही के भार सूधे सबद सुकीरन के,
मंदिर न त्यागि करै अनत कहूँ न गौन।
'द्विजदेव' त्यौंही मधुभारन अपारन सौं,
नेकु झुकि झूमि रहे मोगरे मरुअ दौन।
खोलि इन नैनन निहारौं तौ निहारौं कहा,
सुखमा अभूत छाय रही प्रति भौन भौन।
चाँदनी के भारन लगत उनयो सो चंद,
गंध ही के भारन बहत मंद मंद पौन।।२।।

बोलि हारे कोकिल, बुलाय हारे केकी गन,
सिखै हारीं सखी सब जुगुति नई नई।
'द्विजदेव' की सौं लाज बैरिन कुसंग इन,
अंगन हू आपने अनीति इतनी ठई।

हाय इन कुंजन तें पलटि पधारे स्याम,
देखन न पाई वह मूरति सुधा मई।
आवन समै मैं दुखदाइनि भई री लाज,
चलन समै में चल पलन दगा दई ॥ ३ ॥

औरे भाँति कोकिल चकोर ठौर ठौर बोलैं,
औरै भाँति सबद पपीहन के ह्वै गये।
औरै भाँति पल्लव लिये हैं वृन्द वृन्द तरु,
औरै छबि पुंज कुंज कुंज़न उनै गये।
औरै भाँति सीतल सुगन्ध मन्द डोलै पौन,
'द्विजदेव' देखत न ऐसे पल द्वै गये।
औरै रीति औरै रंग औरै साज औरै संग,
औरै वन औरै छन औरै मन ह्वै गये ॥ ४ ॥

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

पहिले ही जाय मिले गुन मैं श्रवन फेरि,
रूप-सुधा मधि कीनो नैन हूँ पयान है।
हँसनि नटनि चितवनि मुसुकानि सुघराई,
रसिकाई मिलि मति पय पान है।
मोहिं मोहि मोहन मई री मन मेरो भयो,
हरीचन्द भेद ना परत कछु जान है।
कान्ह भये प्रानमय प्रान भये कान्हमय,
हिय में न जानि परै कान्ह हैं कि प्रान हैं ॥ १ ॥

आजु लौं जौं न मिले तो कहा हम तो तुम्हरे सब भाँति कहावैं।
मेरो उराहनो है कछु नाहिं सबै फल आपुने भाग को पावैं।
जो हरिचन्द भई सो भई अब प्रान चलै चहैं तासों सुनावैं।
प्यारे जू है जग की यह रीति बिदा के समै सब कंठ लगावैं ॥ २ ॥

इन दुखियान को न सुख सपनेहूँ मिल्यो,
तासों सदा व्याकुल बिकल अकुलायँगी।
प्यारे हरिचन्द जू की बीती जानि औधि, प्रान
चाहत चले पै ये तो संग ना समायँगी।
देख्यो एक बारहू न नैन भरि तोहि यातें,
जौन जौन लोक जैहैं तहाँ पछितायँगी।
बिना प्रानप्यारे भये दरस तुम्हारे हाय,
मरेहू पै आँखें ये खुली ही रहि जायँगी ॥ ३ ॥

सेवक गुनीजन के चाकर चतुर के हैं,
कविन के मीत चित हित गुन खानी के।
सीधेन सों सीधे, महा बाँके हम बाँकेन सों,
हरिचन्द नगद दमाद अभिमानी के।
चाहिबे की चाह, काहू की न परवाह
नेही नेह के दिवाने सदा सूरति निवानी के।
सर्वस रसिक के, सुदास दास प्रेमिन के,
सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधा रानी के ॥ ४ ॥

जगन्नाथदास रत्नाकर

(उद्धव शतक)

[१]

जासौं ज़ाति बिषय-बिषाद की बिवाई बेगि,
चोप-चिकनाई चित चारु गहिबौ करै।
कहै रतनाकर कबित्त-बर-ब्यंजन मैं,
जासौं स्वाद सौगुनौ रुचिर रहिबौ करै।
जासौं जोति जागति अनूप मन-मन्दिर मैं,
जड़ता-बिषम-तम-तोम दहिबौ करै।
जयति जसोमति के लाड़िलै गुपाल जन,
रावरी कृपा सौं सो सनेह लहिबौ करै ।। १ ।।

[२]

बिरह-बिथा की कथा अकथ अथाह महा,
कहत बनै न, जो प्रबीन सुकबीनि सौं।
कहै रतनाकर बुझावन लगे ज्यौं कान्ह,
ऊधौ कौं कहन-हेत ब्रज-जुवतीनि सौं।
गहबरि आयौ गरौ भभरि अचानक त्यौं
प्रेम पर्‌यो चपल चुचाई पुतरीनि सौं।
नैंकु कही बैननि, अनेक कही नैननि सौं,
रही-सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं ।। २ ।।

[३]

ऊधव कें चलत गुपाल उर माहिं चल
आतुरी मची सो परै कहि न कवीनि सौं।
कहै रतनाकर हियौ हूँ चलिबै कौं संग
लाख अभिलाष लै उमहि बिकलीनि सौं।

आनि हिचकी ह्वै गरैं बीच सरक्यौई परै
स्वेद ह्वै रसोई परै रोम-झिझरीनि सौं।
आनन-दुवार तैं उसाँस ह्वै वढ्यौई परै
आँस ह्वै कढ्यौई परै नैन-खिरकीनि सौं ॥ ३ ॥

[४]

भेजे मनभावन के ऊधव के आवन की
सुधि ब्रज-गाँवनि मैं पावन जबै लगीं।
कहै रतनाकर गुवालिनि की झौरि-झौरि,
दौरि-दौरि नन्द-पौरि आवन तबै लगीं।

उझकि-उझकि पदकंजनि के पंजनि पै
पेखि-पेखि पाती छाती छोहनि सबै लगीं।
हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा,
हमकौं लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं ॥ ४ ॥

[५]

दीन दसा देखि ब्रज-बालिन की ऊधव कौ
गरि गौ गुमान ज्ञान गौरव गुठाने से।
कहै रतनाकर न आए मुख बैन नैन
नीर भरि ल्याए भए सकुचि सिहाने से ॥

सूखे से स्रमे से सकबके से सके से थके
भूले से भ्रमे से भमरे भबुकाने से।
हौले से हले से हूल-हूले से हिये मैं हाय
हारे से हरे से रहे हेरत हिराने से ॥५॥

[६]

रस के प्रयोगनि के सुखद सुजोगनि के
जेते उपचार चारु मंजु सुखदाई हैं।
तिनके चलावन की चरचा चलावै कौन,
देत ना सुदर्सन हूँ यौं सुधि सिराई है।
करत उपाय ना सुभाय लखि नारिनि कौ,
भाय क्यौं अनारिनि कौ भरत कन्हाई हैं।
ह्याँ तौ बिषमज्वर-बियोग की चढ़ाई यह
पाती कौन रोग की पठावत दवाई हैं ॥६॥

[७]

कान्ह दूत कैधौं ब्रह्म दूत ह्वै पधारे आप
धारे प्रन फेरन को मति ब्रजबारी की।
कहै रतनाकर पै प्रीति-रीति जानत ना
ठानत अनीति आनि नीति लै अनारी की।
मान्यौ हम, कान्ह ब्रह्म एक ही कह्यो जो तुम
तौहूँ हमें भावति ना भावना अन्यारी की।
जैहै बनि-बिगरि न बारिधता बारिधि की
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की ॥७॥

[८]

जोगिनि की भोगिनि की बिकल बियोगिनि की
जग मैं न जागती जमातैं रहि जाइँगी।

कहै रतनाकर न सुख के रहे जौ दिन
तौ ये दुख-द्वन्द्व की न रातैं रहि जाइँगी।
प्रेम-नेम छाँड़ि ग्यान-छेम जो बतावत सो
भीति ही नहीं तौ कहा छातैं रहि जाइँगी।
घातैं रहि जाइँगी न कान्ह की कृपा तै इतीं
ऊधौ कहिबे-कौं बस बातैं रहि जाइँगी ॥८॥

[९]

धाईं जित तित तैं बिदाई-हेत ऊधव की
गोपी भरीं आरति सँभारति न साँसुरी।
कहै रतनाकर मयूर-पच्छ कोऊ लिए
कोऊ गुंज-अंजली उमाहैं प्रेम-आँसुरी।
भाव-भरी कोऊ लिए रुचिर सजाव दही
कोऊ मही मंजु दाबि दलकति पाँसुरी।
पीत पट नंद जसुमति नवनीत नयौ
कीरति-कुमारी सुरवारी दई बाँसुरी ॥९॥

महात्मा कबीरदास

सूचना—कबीर के काव्य के सामान्य परिचय के लिए भूमिका द्रष्टव्य है।

पद संख्या १—सतगुर साह .... जाऊँगी।

इस पद में कबीर ने अपनी साधना-पद्धति का वर्णन रूपक शैली में किया है। कबीर गुरुकृपा, ज्ञान और योग के सहारे अज्ञान का विनाश करने का संकल्प करते हैं। माया पर विजय पाना इस पद का मुख्य प्रतिपाद्य है।

सतगुर = सत् गुरु, आध्यात्मिक मार्गदर्शक। मध्यकालीन संत काव्य में गुरु को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। गुरु को भगवान् के समकक्ष माना गया है। साह = रुपया-उधार देने वाला साहूकार, यहाँ गुरु से ही अभिप्राय है। सहज = सहजावस्था, समाधि की अवस्था, यह शब्द कबीर ने सहजयानी बौद्ध साधकों से लिया है। सहजयानी साधक शारीरिक साधनाओं में विश्वास करते थे। सुरति = सविकल्प समाधि जिसमें भगवन्नाम स्मरण जारी रहता है। मैवासी = मदान्ध। रिपु = काम, क्रोध, मद, मात्सर्य आदि मनोविकार जिनके द्वारा अध्यात्म-साधना में विघ्न पड़ता है। अनहद = समाधि की अवस्था में सुनायी पड़ने वाला एक प्रकार का नाद, नाथपंथी योगियों की साधना में इसका बहुत उल्लेख हुआ है। तबल-घुराऊँ = तबला वादन सुनूँ, यहाँ अनहद नाद पर तबले के शब्द का आरोप किया गया है। साहेब = स्वामी, परमात्मा से अभिप्राय है।

पद संख्या २—दुलहिनी गावहु मंगलचार।

कबीर की रहस्यवादी अनुभूतियों का इस पद में बड़ा ही काव्यात्मक चित्रण हुआ है। राम शब्द कबीर के लिए परात्पर सत्ता का वाचक है। जीवात्मा को पत्नी तथा परमात्मा को पति मानकर आध्यात्मिक विवाह की प्रतीकात्मक शैली के द्वारा आध्यात्मिक आनन्द का वर्णन किया गया है। दुलहिनी = सौभाग्यवती नारी, यहाँ चित्तवृत्तियों से अभिप्राय है। वधू के विवाह के अवसर पर सौभाग्यवती नारियाँ मंगलगान करती हैं। यह मंगलगान उल्लास को प्रकट करता है। अन्तरात्मा में जिस समय दिव्य सत्ता के स्पर्श का अनुभव होता है, तब चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियाँ परितुष्ट होकर एक असीम आनन्द में लीन हो जाती हैं। भरतार = भर्तृ, पति। रत करना = प्रेम में लगाना। पाँचउ तत्त्व = शरीर का निर्माण करने वाले पृथ्वी, जल, वायु, तेज और आकाश—ये पाँच तत्त्व। पाहुनैं आए = मेहमान बन कर आए। जोबन मैमाती = यौवन के उन्माद से मतवाली, मायाजन्य एषणाओं में फँसी हुई। भाँवरि लेहहों = भाँवरि लूँगी। विवाह के समय पति-पत्नी अग्नि की परिक्रमा करते हैं, इसे भाँवर पड़ना कहा जाता है। सुर तेतीसौ = तैंतीस करोड़ देवता। कौतिग आंए = विवाह का उत्सव देखने आए हैं। पुरिख एक अबिनासी = एक अनश्वर पुराण पुरुष, परब्रह्म।

पद संख्या ३—बालम आउ हमारे ग्रेह रे।

इस पद में अध्यात्म-विरह की सरस अभिव्यंजना की गयी है। यह पद प्रेम-रहस्यवादी है।

बालम = पति, यहाँ परमात्मा से अभिप्राय है। ग्रेह = गृह। अन्देह = अन्देश, संकोच। संकोच इस बात का कि मैं तुम्हारी परिणीता पत्नी होते हुए भी तुम से चिरकाल से वियुक्त हूँ। पर उपगारी = परोपकारी। जिउ जाइ रे = प्राण निकल रहे हैं।

पद संख्या ४—अवधू मेरा मनु मतिवारा।

यह पद साधनात्मक रहस्यवाद का है। कबीर के ऊपर नाथपंथियों

की हठयोग-साधना का गहरा प्रभाव है। हठयोग में नाड़ी-साधना का विशेष महत्त्व है। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों को प्राणायाम के द्वारा संयमित किया जाता है। 'योगी इड़ा और पिंगला को अवरुद्ध करके सुषुम्ना के द्वारा प्राणवायु को मस्तक की ओर खींचता है। सुषुम्ना का विस्तार रीढ़ मेरु से लेकर शिखामूल पर्यन्त माना जाता है। प्राणायाम के द्वारा कुण्डलिनी नामक शक्ति को शिखामूल तक चढ़ाया जाता है। यह स्थान ब्रह्मरंध्र कहलाता है। कुण्डलिनी सुषुम्ना से सतत प्रवाहित होनेवाले अमृत रस का प्रवाह अवरुद्ध कर देती है। यह सूर्य नाड़ी द्वारा नीचे की ओर कर्षित नहीं हो पाता। योगी इस रस का पान करके प्रसन्न और अजर-अमर होता है। इस साधना का उल्लेख शराब खींचने की प्रतीक पद्धति द्वारा किया गया है। यह पद अवधू या अवधूत को संबोधित करके इसलिए लिखा गया है कि अवधूत साधक इस नाड़ी-साधना में विश्वास करते थे।

अवधू = योगियों की एक शाखा। उनमनि चढ़ा = उन्मनी अवस्था में स्थित, उन्मनी अवस्था, समाधि की वह अवस्था है जिसमें मन सब प्रकार के क्लेशों से मुक्त हो जाता है। मगन = आनन्दित। त्रिभुवन भया उजारा = माया अथवा अज्ञान नष्ट हो गया, उन्मनी अवस्था में योगी एक दिव्य ज्योति का साक्षात्कार करता है, जिससे मन का अन्धकार नष्ट होता है और अन्तःकरण एक दिव्य प्रकाश से भर जाता है। गुड़...महुआ = गुड़ और महुआ के फूलों को सड़ाकर शराब खींची जाती है, कबीर आध्यात्मिक आनन्द की उपलब्धि के लिए ध्यान और ज्ञान को आवश्यक मानते हैं। भाठी = शराब निकालने की भट्ठी जिसमें आग जलायी जाती है, कबीर भवबन्धनों को जलाना चाहते हैं। सुखुमनि नारी = सुषुम्ना रूपी मधुवाला। समानी = निमग्न हो गयी। दोइ पुर जोरि = शराब खींचने के पात्र के ऊपर और नीचे के भागों को मिलाकर। यहाँ इड़ा और पिंगला अथवा सूर्य और चन्द्र नाड़ियों को संयुक्त करने से अभिप्राय है। यह नाड़ियाँ भ्रूमध्य में मिलती हैं। योगी अपनी दृष्टि को यहीं केन्द्रित करता है। रसाईभाटी =

भट्ठी प्रज्ज्वलित की। बलीता = पलीता, आग जलाने का तेल में भींगा हुआ कपड़ा। छूट गई संसारी = भवबन्धनों से मुक्ति मिल गयी। सहज शून्य = निर्विकल्प समाधि की अवस्था। यह पदावली कबीर ने बौद्ध साधकों से ली है। सुधि पाई = युक्ति सीखी। उछकि न कबहूँ जाई = इस उन्माद से कभी मुक्त नहीं होगा, इस अलौकिक आनन्द में सदा निमग्न रहेगा।

पद संख्या ५—डगमग छाँड़ि दै मन बौरा।

इस पद में साधना की दृढ़ता का संकल्प बड़े सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया गया है। साधनावस्था में अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित होते हैं, जिनमें मन का डिगना प्रमुख है। कबीर अपने मन को संबोधित करते हुए कदर्यभावना को दूर भगाने का संकल्प कर रहे हैं।

डगमग = डगमगाना, विचलित होना। बौरा = पागल। स्नेहमय झिड़की के प्रसंग में मन को बावला कहा गया है। लीन्हों हाथ सिधौंरा = सिंधौरा, सिन्दूर की डिबिया का लोक-प्रचलित नाम है। सिन्दूर सौभाग्य का सूचक है। जब कोई पत्नी पति के साथ सती होने का संकल्प करती है तब वह अपने हाथ में सिंधौरा लेकर माँग भरती है। सती न संचै-भांडै = जो स्त्री सती होने जाती है वह घर-गृहस्थी की चिन्ता नहीं करती, साधक को भौतिक समृद्धि से विमुख रहना चाहिए। सूचा = पवित्र।

पद संख्या ६—फिरहु का फूले फूले फूले।

यह पद संसार से विरक्त रहने का उपदेश देता है। मध्यकालीन संतों ने वैराग्यभाव को जाग्रत करने के लिए जीवन की दुर्बलताओं को प्रायः अभिव्यक्त किया है।

उरध मुख होते = ऊर्ध्व मुख होते, गर्भावस्था में जीव ऊर्ध्व-मुख लटकता है। किरिम दल = कीड़े-मकोड़े। काँचै कुंभ = कच्चा घड़ा, नश्वर शरीर। उदिक = उदक, जल। ज्यों माखी सहते नहिं बिहुरै = मक्खी जिस प्रकार शहद पर बैठकर फिर नहीं उड़ पाती। मूएँ पीछे = मृत्यु के पश्चात्

देहरि = देहली। वरी नारि = परिणीता पत्नी। सजन सुहेला = इष्ट मित्र। मरहट = मरघट। हंसु = हंस, जीवात्मा। रमसि = रमण करता। कहा माते = क्या मतवाले बने हो। परहु काल बस कूवा = मौत तुम्हें कुएँ में धकेल देगी, अंधकारपूर्ण लोकों में जीवात्मा का अधःपतन होगा। नर आप······नलिनी भ्रमि सुआ = नलिनी पर बैठकर तोते ने जिस प्रकार अपने-आपको बंधन में डाल दिया उसी प्रकार से मनुष्य स्वयं ही अपने आपको भवबंधन में डाले हुए है। शांकर वेदान्त के अनुसार आत्मा नित्यमुक्त है। मायाजन्य आत्मविस्मृति के कारण जीव अपने-आपको शरीर से अभिन्न अनुभव करने लगता है। इसीलिए उसे मृत्युभय सताता रहता है। जीव यदि आत्मचिन्तन के द्वारा आत्मस्वरूप से अभिज्ञ हो जाय तो वह नित्य मुक्त तो है ही। इसी अवस्था को स्पष्ट करने के लिए कबीर ने नलिनी और तोते का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। यह दृष्टान्त सूर, तुलसी आदि अन्य भक्त कवियों ने भी लगभग इसी प्रकार के प्रसंगों में प्रस्तुत किया है। नलिनी एक प्रकार का घूमने वाला लकड़ी का यंत्र होता है। इसकी विशेषता यह है कि जब इस पर कोई पक्षी बैठता है तो यह तुरन्त घूम जाता है। बहेलिया इस यंत्र को एक लम्बे बाँस में बाँधे रहता है। इसमें पक्षियों को आकृष्ट करने के लिए चारा लगा रहता है। जैसे ही पक्षी इस यंत्र पर बैठता है, वह उलट जाता है। पक्षी अपने पंजों से उसे पकड़ कर उलटा लटक जाता है। बहेलिया पक्षी को बन्दी बना लेता है। जिस प्रकार नलिनी पर बैठा हुआ पक्षी स्वयं अपने-आपको आबद्ध मान लेता है उसी प्रकार विषय-वासना में फँसा हुआ जीव स्वयं अपने आपको आबद्ध अनुभव करता है।

पद संख्या ७—बावरे तें······न पाया।

यह पद आत्मा प्रबोध का है। बिरथा = व्यर्थ। गँवाया = नष्ट किया। थाके = थक गये, शिथिल हो गये। जामन-मरना = जन्म और मृत्यु।

एक न थाकी माया = अज्ञानजन्य विषय-तृष्णा शिथिल न हुई। तिसे = तृष्णा। सरेवहु = शान्त करे। घट महिं साँसा = शरीर में प्राण। अविगत कौं = अव्यक्त सत्ता को, परब्रह्म को। घालि जु जानहिं पासा = जो पाँसा फेंकना जानते हैं, जो माया के रूप से परिचित हैं।

पद संख्या ८—माया महा ठगिनी हम जानीं।

कबीर ने यहाँ अपने साहेब की महिमा का गान किया है। जो माया सम्पूर्ण जीवों को नचाने वाली है वही उनके साहेब की क्रीत दासी है। जिस पर उस साहेब की कृपा होती है, उसका ठगिनी माया बाल बाँका नहीं कर सकती है। कबीर की भक्ति-भावना की इस पद में सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।

ठगिनी = ठग का स्त्री लिंग रूप। तिरगुन फाँस = तीन गुणों का फन्दा; सत, रज, तम, तीन गुण हैं। मधुरी बानी = मीठी वाणी, यहाँ इन्द्रियजन्य आकर्षणों से अभिप्राय है। विषय सुख के संस्कार मन में मधुर अभिलाषाओं को जन्म देते हैं। केसव = केशव, विष्णु। कँवला = कमला, लक्ष्मी। पंडा = मूर्तिपूजक, मठाधीश। काहू कै कौड़ी कानी = कानी कौड़ी एक निर्धनतासूचक मुहावरा है। धनवान् पुरुषों की आसक्ति यदि मणि-मुक्ता में केन्द्रित रहती है तो अकिंचन व्यक्ति अपनी कानी कौड़ी के लोभ का परित्याग नहीं कर सकता। आलंबन का भेद होने पर भी आसक्ति के रूप में कोई अन्तर नहीं। साहेब का बन्दा = स्वामी का सेवक।

पद संख्या ९—अल्लह राम जिऊँ तेरे नाईं।

यह पद कबीर की विचारधारा का अच्छा चित्रण करता है। कबीर पाखण्ड से घृणा करते हैं। साधना का सहज स्वरूप प्राणि मात्र के प्रति करुणा तथा निष्कपट आचरण में है। हिंसावृत्ति को स्वीकार करके यदि कोई व्यक्ति केवल धार्मिक अनुष्ठानों के द्वारा आत्मकल्याण की बात सोचता है तो वह अपने-आपको धोखा दे रहा है। कपटाचार एवं दिखावे की

कबीर निन्दा करते हैं। उन्हें हिन्दू या मुसलमान किसी का बाह्याचार पसन्द नहीं। कबीर का विश्वास अतःसाधना में है। वे अपने साहेब को अल्लाह और राम दोनों नामों से स्मरण करके यह सिद्ध करना चाहते हैं कि सर्वोच्च सत्ता नाम और रूप से परे है। धर्म के नाम पर किसी भी प्रकार का विद्वेष करना मूर्खता है।

जिऊँ तेरे नाईं = तेरे नाम के सहारे जीवित हूँ। मिहिर करो = महर (फा०) कृपा करो साँईं = स्वामी। माटी = मिट्टी। भुइं = भूमि। न्हवाएँ = स्नान करने से। खून करै = निरीह जीवों का वध करे। मिसकीन कहावै = निरीह सेवक कहलाए, प्राणियों का वध करके भी भगवान् का निरीह सेवक बनना चाहता है। गुनही = गुनाह (फा०) अपराध। ऊजू = उजू (अर०) नमाज पढ़ने के पूर्व हाथ-मुँह धोना उजू कहलाता है। मंजन = मार्जन (सं०)। मसीति = मसजिद। सिरु नाएँ = शिर नवाने से क्या लाभ। निवाज गुजारै = नमाज पढ़े। काबा = मुसलमानों का पवित्र तीर्थ। ग्यारसि करै = एकादशी व्रत रखे। मंह रमजाना = रमजान का एक माह का व्रत।

मुकामा = मुक़ाम (फा०) निवासस्थान। दिलै दिल खोजहु = दिल में ही दिलदार की तलाश करो, वह घट-घटवासी है। उपानैं = उपमित करते हैं। पुंगरा = तुच्छ सेवक। पीर = मार्गदर्शक।

पद संख्या १०—पंडित बाद वदहिं ते झूठा।

कबीरदासजी भगवत् प्राप्ति का एक मात्र मार्ग प्रेम मानते हैं। सांसारिक विषय-वासनाओं में लिप्त रहते हुए केवल ऊपरी-मन से राम राम कहने से कोई लाभ नहीं होता। बाद बदै = शास्त्रार्थ करे। गति पावै = मोक्ष प्राप्त करे। दाझै = दग्ध हो। त्रिखा = तृषा। तिरि जाई = तर जाई, भवसागर से पार हो जाए। अरस परस = स्पर्श, अनुभव से अभिप्राय है। बिखै = विषय। जमपुर जासी = यमलोक जावेगा।

पद संख्या ११—भूली मालिनी है एउ।

एउ = यह भी। जागता = प्रबुद्ध। देउ = देव, गुरुदेव। टाँचन हारा

=पाषाण को काट-काट कर मूर्ति बनाने वाला। पाउ = पाँव। लाड़ू लावन लापसी = लड्डू, धान की खीलें तथा आटे का हलुआ, मध्य युग में इन्हें नैवेद्य के रूप में मूर्ति पर चढ़ाया जाता था। छार = मिष्टान्न के छोटे-छोटे कण या टुकड़े। पाती = पत्ती। पुहुप = पुष्प। प्रतखि = प्रत्यक्ष। सेव = सेवा।

साखी

सतगुरु महिमा

बान = बाण। मूठि = मुट्ठी। अंग उघारै = वस्त्रहीन शरीर। दवा = लौ। गरवा = गौरवपूर्ण। नहिंतर = नहीं तो। पूरी जानि = सब कुछ समझकर। उबरंत = उबरता है, निस्तार पाता है। बैसि करि = बैठकर। आपा मेटै = अहंकार का परित्याग करे। दीदार पाना = दर्शन पाना। स्वाँग जती का पहिरि करि = यती का बाना धारण करके। सूरिवाँ = सूरमा, वीर। तातैं लोहि = तप्त लोहा। कसनी = कसौटी, राम नाम से अभिप्राय है। ताइ लिया ततसार = सुवर्ण को भट्ठी में पिघलाने पर उसका मैल जल जाता है तथा खालिश सोना बच रहता है इसी प्रकार साधना के द्वारा मन के मलिन संस्कार नष्ट हो जाते हैं, शुद्ध चेतन शेष रह जाता है। निह्चल निधि = निश्चल खजाना, शाश्वत सत्ता। निपजी = उत्पन्न हुई। चौपड़ माड़ी = चौपड़ नामक खेल प्रारम्भ किया। इस खेल में रंगीन गोटें होती हैं। इस खेल में पासा फेंका जाता है, यहाँ जीवन के ऊपर चौपड का आरोप किया गया है। चौहटे = बाजार के चौराहे पर। अरध उरध = अधः, ऊर्ध्व। शरीर के ऊपर चौपड़ का आरोप किया गया है। शरीर में अधः और ऊर्ध्व नाना चक्र ही चौपड़ के खाने हैं। परसंग = प्रसंग, यहाँ अध्यात्म ज्ञान से अभिप्राय है।

प्रेम-विरह

भुवंगम = भुजंग। बउरा होइ = पागल हो जाता है। पैठि कै =

प्रविष्ट होकर। अंबरि = अंबर, आकाश। कुंजा = पक्षी। कुरलिया = बोला। परभाति = प्रभात। झल उठी = लौ उठी। खपरा = योगियों का भिक्षा माँगने का पात्र। रमि गया = प्रस्थान कर गया। दौं बलै = आग जलती है। जाकै लागी = जिसके हृदय में यह ज्वाला जलती है। लाई = लगाई। सोइ = वही। ओदी लकड़ी = गीली लकड़ी। सपचै औ धुँधवाइ = धुँआ भी देती है और जलती भी है। सगली = सम्पूर्ण। मूएँ = मरने के पश्चात्। पारस = स्पर्श मणि, विश्वास किया जाता है कि स्पर्श मणि के स्पर्श से लोहा सुवर्ण बन जाता है। पाया = बेड़ा जिसके सहारे नदियों को पार किया जाता है। भौ सागर = भवसागर। डसिहै = काट लेगा, दंशन करेगा। बिरिछ तलि = वृक्ष के नीचे। कादौं जरिया = कीचड़ जल गयी, मन की वासनाएँ विरह की आग से भस्म हो गयीं। निरमई = उत्पन्न की हैं। वासुरि = वासर, दिन में। मसान = मरघट, स्मशान। तांति = तंत्री। रवाब = एक प्रकार का बाजा। बाट जोवती = प्रतीक्षा करती। बिसराम = शान्ति, विश्राम। अंदेसौ = चिन्ता, संशय। कहियाँह = कहने पर, प्रेमी प्रिय मिलन चाहता है, केवल संदेशा पाने से उसको तृप्ति नहीं होती। सरग्गि = स्वर्ग।

कमोदिनी = कुमुदिनी। जलहरि = जलाशय। सीख = शिष्य। बीसारे = विस्मरण करने पर। जदि तदि = कभी-न-कभी। जारिया = जलाया।

सुमिरन भजन-महिमा

मुझ में रही न हूँ = मुझ में अहंभाव नहीं रहा। बारी = बलिहारी। चिंतवै = चिंता करे। खए = नष्ट हुए। बिख की पोट = विष की पोटली, विषय तृष्णा से अभिप्राय है। मार = डाकू, हत्या करने वाले। सोधिया = खोज कर देख लिया। पाँच संगि = पाँच सहेलियाँ, पंचज्ञानेन्द्रियों से अभिप्राय है। सूति = स्मृति।

महात्मा सूरदास

सामान्य परिचय के लिए भूमिका द्रष्टव्य है।

विनय

[१]

अविगत-गति = अव्यक्त, निराकार ब्रह्म की महिमा। कछु कहत न आवै = अनिर्वचनीय है, शब्दगोचर नहीं है, वेद भी 'नेति-नेति' के द्वारा उसका प्रतिपादन करते हैं। अन्तरगत = मन-ही-मन। परम स्वाद = परम आनन्द। रूप रेख·····कित धावै = मन अपने चिन्तन-मनन और भावात्मक अथवा रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना के लिए कोई ऐसा विषय खोजता है जो गो-गोचर हो; किन्तु अव्यक्त ब्रह्म सभी मायिक उपादानों से अत्यन्त परे है। उसकी न कोई रूप-रेखा है, न गुण है, न कोई पहचान है, उसकी प्राप्ति की भी कोई स्थूल युक्ति नहीं है इसलिए निराधार मन अवलंबविहीन होकर भटकता रहता है। सब विधि·····सगुन लीला पद गावै = ब्रह्म की अव्यक्त सत्ता का गान करने में अपने-आपको सब प्रकार से असमर्थ मान कर सूर उसीकी व्यक्त सत्ता की लीलाओं का गान करने का संकल्प करते हैं।

[२]

जैसे उड़ि·····फेरि जहाज पर आवै = समुद्र में कोई जहाज चला जा रहा है। पक्षी को उस जहाज से उड़ जाने दिया जाय तो आकाश में ऊँचे-से-ऊँचा उड़ने के बाद भी उसे आना जहाज पर ही पड़ेगा। इसी प्रकार आनन्द की खोज में जीव मायिक पदार्थों में चाहे जितना भटक ले, अन्त-

तोगत्वा उसे भगवान् की शरण में ही आना पड़ेगा, कोई दूसरा आलंबन है नहीं।

परम गंग······दुरमति कूप खनावै = निर्मल सलिलवाहिनी गंगा नदी को समीप ही प्रवहमान देखकर भी यदि कोई प्यासा मनुष्य गंगोदक का परित्याग करके कूप खोदने की चेष्टा करे, तो उसे दुर्बुद्धि ही समझा जायगा। जिहिं मधुकर······करील फल भावै = जिस भौंरे ने एक बार कमल के रस का पान कर लिया है, वह उसका परित्याग करके करील पर किस लालच से जायगा। सूरदास प्रभु······छेरी कौन दुहावै = कामधेनु सब प्रकार के भोगों को प्रदान करने वाली है, उसका परित्याग करके बकरी का दूध दुहाने की कौन इच्छा करेगा।

यह पद आत्मानुभूति प्रधान है। सूर का मन कृष्ण के चरणकमलों में ऐसा लीन हो चुका है कि उनको सुख-प्राप्ति का न तो कोई अन्य आधार ही दिखायी देता है और न किसी अन्य की वे कामना करते हैं।

[३]

सूरदास उन संसारी मनुष्यों की बुद्धि पर तरस खाते हैं जो भगवद्-भक्ति का परित्याग करके लौकिक विषयों में सुख की तलाश करते हैं। उनके लिए श्याम का नाम यदि अमृत फल है तो मायिक विषय विष-फल हैं। यही सम्बन्ध शीतल चन्दन और राख के मलने में, हंस संकुल निर्मल मानसरोवर और कौओं से सेवित गंदे गड्ढों के जल में है।

पगतर जरत······घूर बुझावै = आग तो पाँव तले घर में लगी हुई है, किन्तु बुझाने चला है घूरे की आग। यह मूर्खता की चरम सीमा है। ठीक इसी प्रकार अन्तःकरण की अशान्ति को मेटने के लिए विषयों में आनन्द की खोज है। चौरासी लख······जनमि हँसावै = ऐसा विषयासक्त प्राणी युग-युग तक नाना योनियों में जन्म लेकर मानो यमराज की प्रसन्नता का पात्र बनता है। उसके बार-बार प्राण लेने में यमराज को सुख मिलता है। भगवद् भक्ति करने पर जीव यमराज के पाश से मुक्त हो जाता है।

मृगतृष्णा आचार-जगत जल = जगत् का समस्त आचार—विषय-सुख की खोज—मृगतृष्णा के जल के समान मिथ्या है। तृषातुर मृग को मरुभूमि में जल का केवल आभास होता है इसी प्रकार लोकैषणा में आनन्द का केवल आभास है।

शिशु कृष्ण

सूरदास ने अपनी दिव्य दृष्टि से कृष्ण की समस्त बाललीलाओं का साक्षात्कार किया है और अपनी अद्भुत स्वरभंगिमा के साथ उनका गायन किया है। सूर बाल चित्रों के सफल चितेरे हैं। शैशव की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चेष्टाओं का उन्होंने स्वाभाविक चित्रांकन किया है। घुटनों के बल चलनेवाले कृष्ण का यह चित्र कितना मनोहर है। बिंब पकरिबै धावत = नन्द का आँगन मणिजटित है। कृष्ण जब घुटनों और हाथों के सहारे उस पर चलते हैं तो उन्हें अपने मुख का प्रतिबिम्ब नेत्रों के समक्ष दिखलायी पड़ता है। वे उसे हाथ से पकड़ने के लिए आगे झपटते हैं तो वह प्रतिबिम्ब भी आगे बढ़ जाता है। अपने बिम्ब को अन्य बालक समझ कर कृष्ण उसको इसी प्रकार घुटनों के बल दौड़ कर पकड़ना चाहते हैं। बिम्ब को देखकर वे मुस्कराते हैं तो बिम्ब भी मुस्कराने लगता है। कृष्ण उसकी मुस्कराहट पर किलकारी मार कर आगे बढ़ते हैं तो बिम्ब भी किलकारी मार कर आगे बढ़ता है। इस प्रकार नन्द का आँगन उनकी किलकारियों से मुखरित हो रहा है। द्वै दतियाँ = पहले-पहल उगनेवाली आगे की दो दतुलियाँ। कनक भूमि······साजति = कृष्ण जब आगे बढ़ने के लिए हाथ-पाँव बढ़ाते हैं तो कनकमंडित भूमि का स्पर्श करने के पहले उनका बिम्ब प्रतिमणि में प्रतिबिम्बित होता है। सूर उत्प्रेक्षा करते हैं कि पृथ्वी (अपने-आपको कठोर और अपने स्वामी के कर-पग को अत्यन्त कोमल समझ कर) उनके लिए कमल की पीठिका पहले ही प्रस्तुत कर देती है। हाथ-पैरों की उँगलियाँ कमल पँखुड़ियों के समान कोमल होती ही हैं, साथ ही शिशुओं की हथेली और तलवे अरुणाई लिये होते हैं, इसलिए उनको कमल से उपमित

करना सब प्रकार से उचित है। बाल दसासुख'.....'पुनि पुनि नन्द बुलावति = यह आनन्द-क्रीड़ा अपने-आप में निरर्थक होती यदि इस दृश्य का रसास्वादन करनेवाली कोई आँखें न होतीं। सूर की आत्मा माता यशोदा के रूप में प्रस्तुत है और नन्द के रूप में इसका आनन्द लेने के लिए मनुष्य मात्र को आमंत्रित करती है। अँचरातर'.....'दूध पियावत = कृष्ण जब दौड़ते-दौड़ते शिथिल हो जाते हैं तो माता उनको अपनी गोद में लेकर अंचल की ओट करके स्तन्यपान कराती हैं।

माखन-चोरी

माखन-चोरी का कृष्ण काव्य में अपना स्थान है। यशोदा के आँगन में किलकारी भरने वाला शिशु सम्पूर्ण गोकुल का प्राण बन चुका है। गोपिकाएँ अपने हृदय में कब से यह अभिलाषा सँजोए हुए हैं कि कभी यह बालक किसी बहाने हमारे घर भी आये। माखन-चोर के रूप में बालक कृष्ण उनकी यह अभिलाषा पूरी करते हैं। व्रज में एक नया उत्सव होने लगता है। प्रत्येक ग्वालिन के मन में यही अभिलाषा है कि कभी वे उसकी मटकी में हाथ डालें। कभी-कभी चोरी पकड़ी भी जाती है। यशोदा तक शिकायत पहुँचती है। सूर का भावुक हृदय माखन-चोरी के चित्र पर चित्र अंकित करता जाता है। प्रत्येक चित्र का फलक एक ही है। किन्तु भाव-छवि सबकी पृथक् है।

[१]

मौन ह्वै रहिए = अभी खामोश रहना चाहिए, जी भर के यह छवि पहले देख लें, फिर आगे तमाशा करेंगी। इसे पकड़ कर माता यशोदा के पास ले चलेंगी, अच्छा शुगल रहेगा। सूर स्याम'.....'तनमन प्रान दै = कृष्ण की मनोहर छवि ने ग्वालिन को अपने वश में कर लिया है, अब वह इसी छवि पर तन, मन और प्राण निछावर करने लगी है।

[२]

जमुदा कहँ लौं कीजै कानि = यशोदाजी, हम कहाँ तक तुम्हारा मुलाहिजा करें, कब तक लिहाज करें।

करनी = करतूत। खवावै लरिकनि = अन्य साथियों को भी खिलाता है, यदि अकेला खाता तब भी गनीमत थी। भाजत भाजन भानि = दही-मक्खन सफाचट करके भागते समय बर्तन भी फोड़ जाता है। राख्यौ माखन छानि = मक्खन को साफ करके रखा था। तिहारे ढोटा = तुम्हारे पुत्र। बूझि ग्वालि'……'चींटी काढ़त पनि = जब रँगे हाथ पकड़े गये तब बात बना दी कि मैं तो यहाँ अपना घर समझ कर चला आया था। यहाँ आकर देखा कि मक्खन में कुछ चींटियाँ पड़ी हुई हैं तो मटकी में हाथ डालकर काढ़ने लगा।

[३]

प्रत्येक माँ अपने बालक पर विश्वास करती है। कृष्ण की माखन-चोरी की शिकायतें जब पहले-पहल यशोदा के पास आयीं तो उसे विश्वास नहीं हुआ। अविश्वास का एक कारण और था। यशोदा इस बात को भली-भाँति जानती थीं कि गोपियाँ कृष्ण को प्राणों से अधिक प्यार करती हैं और आने का कोई-न-कोई बहाना तलाश किया करती हैं।

मुँह फाटे जु गँवारि = ये ग्वालिनें बड़ी मुँहफट हैं, इन्हें किसी की भी लिहाज-शरम नहीं है, गँवार जो ठहरीं। अनदोषै = निरपराध। दई देइगौ टारि = भगवान् झूठे पातकों से इसकी रक्षा करेगा। कैसे कै याकी भुज पहुँची = आखिर इसकी बाँहें इतनी ऊँचाई तक पहुँच भी कैसे सकीं। ह्याँ = यहाँ। ऊखल ऊपर'……'चढ़ायौ = ग्वालिन समझाती है कि छींके पर रखी हुई मटकी तक पहुँचने की क्या युक्ति निकाली गयी। यह ऊखल पर चढ़ कर झुक गया। अपनी पीठ को प्लेटफार्म बना कर उस पर अपने एक साथी को चढ़ा दिया। जो न पत्याहु = यदि हमारी बात की प्रतीति नहीं होती तो। देखौ नैन निहारि = अपने सपूत की करतूत हमारे साथ चल कर अपनी आँखों से देख लो। सूरदास'……'बिचारि = तुम इस तरह उसे बिगाड़ रही हो, तनिक भी तो मना नहीं करती।

गोपाल कृष्ण

गोचारण गोकुल लीला का मधुरतम प्रसंग है। कालिन्दी-कूल-कछारों

में गाय चराना, रास रचाना, वंशी बजाना, खेलना-खिलाना, लड़ना-झगड़ना, रूठना-मनाना, मानो जीवन एक सुखद नाटक हो।

[१]

बलदाऊ = दाऊ ब्रजभाषा में बड़े भाई का प्यारभरा संबोधन है। मौड़ा = बालक। मिलि आऊ = एकत्र होकर आ जाओ। मोहू कौं चुचकारि गयौ लै = मुझे भी लाड़-प्यार दिखाकर ले गया। झाऊ = एक वन्य वृक्ष है जो सघन झाड़ियाँ बनाता है। भागि चलौ······हाऊ = हाऊ या हउआ बच्चों को डराने का कल्पित नाम है। माताएँ रोते हुए बच्चे को डराने के लिए 'हाऊ आया' कहती हैं। इसलिए शैशव से ही इस कल्पित जीव के प्रति बालक के मन में भय की ग्रंथि बन जाती है। बलराम ने झाड़ियों के बीच पहुँच कर कृष्ण को डराया कि इस झाड़ी में हाऊ छिपा हुआ है, अभी काटे खाता है। अवस्था में अन्य बालक बड़े थे। वे भाग कर इधर-उधर छिप गये और कृष्ण अकेलेपन से और भी भयभीत हो गये। हौं डरपौं······धीर धराऊ = यशोदाजी से शिकायत करते हुए वे कह रहे हैं कि मैं अकेला खड़ा-खड़ा डर रहा था, रो रहा था किन्तु दाऊ मेरे पास दम-दिलासा बँधाने तक नहीं आये।

आपु कहावत साऊ = मुझे तो मोल का लिया हुआ बतलाते हैं और अपने-आपको साहू अर्थात् नन्द का बेटा बतलाते हैं। चबाई = चंचल, दुष्ट।

[२]

चरैहौं = चराने जाऊँगा। सिगरे ग्वाल घिरावत मोसौं = समस्त ग्वाले अकेले मुझे ही गायों को घेरने के लिए दौड़ाते हैं। पाँइ पिराइ = मेरे पैर थक जाते हैं। पीड़ा करने लगते हैं। गारी देति रिसाइ = यशोदा कृष्ण की बातों पर विश्वास करके अन्य ग्वालों पर रुष्ट होकर उन्हें गालियाँ सुनाती हैं। जौ न पत्याहि = यदि विश्वास नहीं करती तो। अपनी सौंह दिवाइ = अपनी शपथ दिलाकर। मारत ताहि रिंगाइ = यहाँ 'रिंगाना' क्रिया का प्रयोग बहुत ही सटीक है। रिंगाना का अर्थ है थके हुए कदम रखना। यशोदा

का अभिप्राय है कि कृष्ण एक तो वैसे ही बालक है, वन में जाते-जाते थक ही जाता है, इस पर भी बेचारे को गायों के पीछे दौड़ा-दौड़ा कर मारे डालते हैं।

कालीयदमन

गेंद खोजने के बहाने कालीयदह में कूद कर सर्प का दर्प-दलन करना एक रोमांचकारी घटना है। किन्तु सूर की भावुक आँखें इस भयंकरता में भी सौन्दर्य और माधुर्य का ही साक्षात्कार करती हैं। सूर का हृदय कृष्ण की सौन्दर्य-माधुरी में निमग्न है। गिरि पर······मोर अनन्दित जैसे = (उपमा अलंकार) जिस प्रकार गिरि शृंगों पर घटाओं के छा जाने पर मयूर आनन्द में भर कर नृत्य करने लगता है। डोलत मुकुट······सुर-को दण्ड = (वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार) कृष्ण के श्याम वर्ण पर पीत वस्त्र ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो विद्युल्लतामण्डित घन हो। माथे पर मुकुट और कानों में मणिजटित कुण्डल मिल कर ऐसे प्रतीत हो रहे हैं मानो घन-घटा के ऊपर सतरंगी इन्द्रधनुष खिला हो। हम माँगैं पति पावें = हमें पति की भिक्षा मिले।

मुरली मनोहर

मुरली गोपालकृष्ण का अभिन्न अंग है। मुरली की माधुरी में भींग कर कृष्ण की मधुर छवि और भी मधुर बन गयी है। इस मुरली से कृष्ण का अतिशय अनुराग है। गोपिकाएँ भी मुरली की धुनि पर प्राण देती हैं। कल्पना के धनी सूर ने कृष्ण के अधरामृत का पान करनेवाली मुरली पर सपत्नी का आरोप करके मुरली और गोपियों में बड़े ही सरस कथोपकथन की सृष्टि की है। आचार्य शुक्ल ने इस वाद-विवाद को प्रेम की ऐसी फालतू उमंग घोषित किया है जो आलम्बन की सीमा में न समाकर उससे संबंध रखनेवाली वस्तुओं तक से छेड़छाड़ करती है।

[१]

इस पद में मुरली के व्यापक प्रभाव की अभिव्यक्ति की गयी है। मुरली के स्वरों में ऐसा जादू है कि उसने स्थावर को जंगम और जंगम

को स्थावर बना दिया है। उसकी माधुरी से मुग्ध होकर शुकदेव और सनकादिक जैसे ब्रह्मलीन योगी भी ब्रह्मानन्द को भूलकर मुरली की ओर आकृष्ट हो जाते हैं।

निरखि मदन-छबि छरत = मुरलीधर कृष्ण को देखकर कामदेव की छवि भी फीकी जान पड़ती है।

सुरभी······टेकि रहत = गौएँ कृष्ण की मुरली को सुनकर ऐसी मोहित हो जाती हैं कि घास चरना तो दूर रहा, मुख में लिए हुए तृणों को भी दाँतों में ही दबाये रख कर स्तब्ध होकर मुरली-वादन सुनती रहती हैं।

[२]

मुरलिया कपट चतुरई ठानी = यहाँ मुरली के ऊपर सौत का ऐसा आरोप किया गया है कि उसका जड़रूप सर्वथा लुप्त हो गया है। गोपिकाओं के उपालम्भ में मुरली एक नयी नवेली नागरी के रूप में उभरती है। यह नवेली बड़ी चतुर है। इसने अपना कपटाचार हमारे विरुद्ध ठाना है। उन नाहिंन पहिचानी = इसका रहस्य कृष्ण को शायद मालूम नहीं है, इसीलिए मुँह लगा रखी है। इक वह नारि······ललचाने = नारी पुरुष की सहज दुर्बलता है। फिर यह तो बहुत मिठबोली है। कृष्ण कदाचित् इसके मीठे बोलों पर ही रीझ गये हैं। जाति-पाँति की कौन चलावै = जब रीझ ही गये तो फिर वंश-गोत्र आदि की चिन्ता कौन करे। वाके रंग भुलाने = इस दुष्टा के रंग में कृष्ण इस प्रकार रँग गये हैं कि वे अपने-आपको ही भूल गये हैं।

जाकौ मन मानत······सुख मानै = कृष्ण का भी कोई दोष नहीं। यह तो मन के मानने की बात है। जिसका जहाँ मन मानता है वहाँ वह सुख का अनुभव करता है। हमारा शिकायत करना भी बेमानी है। वस्तुतः यह गोपिकाओं का विवशताजन्य निराशावाद है। सूर स्याम······ गुन गानै = दोनों ओर आग बराबर लगी हुई है। कृष्ण उसके गुणों का बखान करते फिरते हैं और वह भी कृष्ण का ही गुणगान करती है।

मेरे दुःख को अन्त नहीं = गोपिकाओं के उपालम्भ मुरली मूक हो कर सुनती रही। किन्तु सुनने की भी एक सीमा होती है, इसलिए उसे अपना मुख खोलना पड़ा। मुरली को कृष्ण यों ही नहीं मिल गये हैं। कृष्ण के अधरों तक पहुँचने के लिए उसने जो तपस्या की है, उसे कोई करके तो देखे। साधना की अवधि में उसके दुःखों की कोई सीमा नहीं थी। षट्रितु······पाइ रही = छहों ऋतुओं में उसने एक पाँव खड़े रह कर तपस्या की थी। बाँस के पौधे में केवल एक तना होता है, अन्य वृक्षों के समान उसमें से डालियाँ नहीं फूटतीं। एक पैर से खड़े रहने का यही अभिप्राय है।

नैकहूँ = तनिक भी। घामैं राखी डारि = मुझे फिर धूप में डाल दिया गया। अगिनि सुलाक देत नहिं मुरली = और जब तप्त लोहे से छेद किये गये तब भी तनिक भी नहीं हिली-डुली। अगिनि छाप दै आई = तुम मुझे दो कौड़ी की बाँस की बँसुरिया न समझो, मैं कृष्ण के प्रणय की प्राप्ति के लिए अग्नि-परीक्षा दे चुकी हूँ। उस आग की मुहर अब भी मेरे शरीर पर अंकित है। सूरस्याम······कहा हो भाई = जैसे मैंने भारी तपस्या कर के कृष्ण को पाया है वैसा करके तुम भी उन्हें प्राप्त करो, केवल ईर्ष्या करने से तो मेरे समान सौभाग्यवती हो न सकोगी।

कारी कमरी

गोचारण में शीत-वर्षा के निवारण के लिए कृष्ण एक काली कम-रिया ओढ़ा करते थे। यह कमरी उनकी क्रीड़ाओं की भी सहचरी थी। सूरदास ने इसे एक प्रतीकात्मक रूप देकर निर्विकार समवृत्ति के रूप में यहाँ व्यक्त किया है। यह वृत्ति केवल ईश में ही सम्भव है, जीव की वृत्ति सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वों से विषम रहती है।

यह कमरी कमरी करि जानति = तुम इस कमरी को साधारण ऊन की कमरी समझती हो। सो तितनौ अनुमानति = इस कमरी का महत्त्व द्रष्टा

अपनी विवेक बुद्धि के अनुसार अंकित करता है। कमरी कै बल असुर…सब भोग=मैंने इस कमरी को ओढ़ कर ही समस्त असुरों का संहार किया और इसी को बिछा कर नानाविध क्रीड़ाएँ कीं। दोनों विपरीत स्थितियों में इसका एक ही रंग रहा। प्रतीकार्थ में दोनों स्थितियों में चित्त की वृत्ति निर्लिप्त तथा निर्द्वन्द्व रही। न संहार के समय क्रोध का आवेश हुआ और न भोग के समय विषय-लिप्सा का। जाति-पाँति कमरी सब मेरी=मेरे स्वरूप का निरूपण इसी समवृत्ति के आधार पर किया जा सकता है। गोपियों के साथ रमण करने में जो भोग-वृत्ति का आरोप किया जाता है तथा असुर-संहार में जो क्रोध-वृत्ति का आरोप किया जाता है वह मिथ्या है।

गिरिधारण

कृष्ण की आज्ञा से व्रजवासियों ने इन्द्र का पूजन बन्द कर दिया था। इन्द्र ने अपने अपमान का बदला लेने के लिए बादलों को आज्ञा दी कि वे व्रज में जाकर प्रलयंकर वर्षा करके व्रज को नष्ट कर दें। बादलों ने सात दिन तक मूसलाधार वर्षा की। इन्द्र के प्रकोप को समझ कर कृष्ण ने सात योजन के क्षेत्रफल वाले गोवर्धन पर्वत को उठा लिया और छाते के समान व्रज पर तान दिया। व्रज के समस्त प्राणियों की रक्षा हुई और इन्द्र का घमण्ड नष्ट हुआ। व्रजवासी कृष्ण के अतुलित पराक्रम को देखकर चकित रह गये। कृष्ण के ऐश्वर्य को प्रत्यक्ष देखते हुए भी वे उनके माधुर्य में इतने निमग्न हैं कि वे कृष्ण को सामान्य बालक समझ कर पर्वत उठाने में सहायता करना चाहते हैं। यहाँ भी सूर की दृष्टि कृष्ण के ऐश्वर्य में माधुर्य की झाँकी प्रस्तुत करती है।

[१]

गिरि जनि गिरै स्याम के कर तैं=कहीं ऐसा न हो कि पर्वत कृष्ण के हाथ से गिर पड़े। लै लै लकुट ग्वाल सब धाए=अपनी-अपनी लाठियाँ उठा कर सब ग्वाले दौड़ पड़े। रबकि रबकि=खूब जोर मार करके। हरबरतें=घबड़ाहट के कारण, हड़बड़ी में। यह अति…हरबर वैं=ग्वाल

बाल यह सोच कर कि यह पर्वत अत्यन्त भारी है और कृष्ण की बाह अत्यन्त कोमल हैं हड़बड़ा गये। वे अपनी पूरी ताकत लगाकर पर्वत को टेकने लगे। धार्‍यौ = धारण किया। थक्यौ अबरतैं = आकाश से जल बरसाते-बरसाते थक गया। मेघधार जलधर तैं = बादलों से गिरनेवाली जल की धाराओं से।

जमलार्जुन = नलकूबर और मणिग्रीव नामक कुबेर के दो पुत्र जो नारद के शाप से यमलार्जुन नाम से वृक्ष रूप में परिणत होकर गोकुल में उगे। नारद के वरदान से जड़ होने पर भी इन्हें पूर्व जन्म की बातें स्मरण थीं। एक बार कृष्ण के नटखट-पन से ऊब कर यशोदाजी ने उन्हें ऊखल से बाँध दिया था। कृष्ण ऊखल को घसीटते हुए इन वृक्षों के पास पहुँचे। ऊखल जाकर वृक्षों की संधि में अटक गया। कृष्ण के खींचने पर वृक्ष टूट गये और कुबेर के पुत्र अपना रूप पाकर शाप से मुक्त हो गये।

[२]

सूर ऐश्वर्य का पर्यवसान माधुर्य में ही करते हैं। उन्होंने इस पद में यशोदा और कृष्ण के वार्तालाप द्वारा उसी का पोषण किया है।

भुजनि बहुत बल होइ कन्हैया = तेरी भुजाओं में तो बहुत बल है। यशोदा अपनी बात भी कहती जाती हैं तथा कृष्ण की सुकोमल किशोर बाँहों पर हाथ भी फेरती जाती हैं। स्याम कहत नहिं भुजा पिरानी = कृष्ण यह सोचकर कि माता मेरी बाँहों को सात दिन तक गोवर्धन धारण करने के कारण पीड़ित समझ रही है, पीड़ा का निषेध करते हैं। ग्वालनि कियौ सहैया = ग्वालों ने भी तो सहायता की थी। मोसौं क्यों रहतौ गोबरधन = भला मैं इतने भारी गोवर्धन को कैसे सँभाल सकता था। परबोध्यौ = सान्त्वना दी। महतारी = माँ।

गोपिकारमण

गोपी-ग्वालों के साथ खेलते-खाते कब बालक कृष्ण किशोर कृष्ण हो जाते हैं इस संधि का सूर के काव्य में कहीं भान नहीं होता। बाल्यकालीन

अजान क्रीड़ाएँ प्रणय में परिवर्तित हो जाती हैं, गोपाल कृष्ण गोपी वल्लभ कृष्ण बन जाते हैं। रूपासक्ति गम्भीर प्रणय के बीज बोती है। और इस प्रणय का परिपाक होता है, यमुना पुलिन की रासलीलाओं में।

[१]

प्रस्तुत पद महारास का भव्य चित्र अंकित करता है। श्रीमद्भागवत की रासपंचाध्यायी में इस महारास का विशद वर्णन किया है। हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों ने इस महारास का बड़े मनोयोग से वर्णन किया है। शरद् पूर्णिमा की शीतल स्वच्छ चंद्रिका में कालिन्दी के पुलिन पर कृष्ण वंशी बजाते हैं। वंशी की ध्वनि में प्रणयोन्माद का कुछ ऐसा जादू है कि व्रज की सम्पूर्ण युवतियाँ कृष्ण के साथ क्रीड़ा करने की अभिलाषा लेकर वहाँ उपस्थित होती हैं और कृष्ण से प्रणय-क्रीड़ा की याचना करती हैं। कृष्ण लोकमर्यादा का ध्यान दिलाकर वापस चले जाने का उनसे आग्रह करते हैं, किन्तु गोपबालाओं को अब कृष्ण के वियोग का एक पल भी सह्य नहीं है। वे अपने इहलोक और परलोक को कृष्ण के लिए निछावर करके उनके पास आयी हैं। कृष्ण उनके हृदय की सच्ची भावना को लक्ष्य कर उन्हें स्वीकार करते हैं और महारास प्रारम्भ होता है। कृष्ण अपने-आप को उतने रूपों में प्रकट करते हैं जितनी गोपिकाएँ हैं।

मानो माई घन-घन अन्तर दामिनि = कृष्ण के आलिंगन में बँधी हुई गोपिकाएँ इस प्रकार शोभित हैं मानो प्रतिघन से विद्युल्लता लिपटी हो। काम बिमोह्यो कामिनि = काम ने व्रजबालाओं को विमुग्ध कर दिया है।

[२]

यह पद दानलीला का है। दही बेचने को जाती हुई गोपिकाओं से मार्ग रोक कर कृष्ण दान माँगते हैं। गोपिकाओं के हृदय प्रफुल्लित हो जाते हैं। वस्तुतः वे यही अभिलाषा लेकर घर से निकली थीं कि मार्ग में कहीं कन्हैया मिल जायँ। कृष्ण यदि उनको छेड़े बिना दान नहीं लेते तो वे

भी प्रणयातिरेक से कृष्ण को जली-कटी सुनाये बिना उन्हें दान नहीं दे सकतीं।

यह जानति तुम नन्दमहर-सुत = हम तुम्हें भली-भाँति जानती हैं कि बाबा नन्द के लाड़ले पुत्र हो, रोज के जाने-पहचाने हो, हमसे तुम्हारी दाल नहीं गलने की। खरिकहिं = वह बाड़ा जहाँ गौएँ बाँधी जाती हैं। मारग रोकि······कब तैं छाँड़े = घर-घर चोरी करने से पेट नहीं भरा तो अब यह नया रास्ता अपनाया है कि रास्ता रोक कर दान माँगो। और सुनौ······कियौ सहाइ=वे दिन भूल गये क्या जब हमने तुम्हें यशोदा के हाथ से छुड़ाकर पिटने से बचाया था।

तुम ब्रज रहत कन्हाइ = हमसे तुम्हारी छेड़-छाड़ नहीं चलेगी, आखिर तुम रहने वाले ब्रज के ही हो। हमसे दान लेकर कहाँ छिपोगे।

[३]

गुहरावहु=पुकार करो। आजु हजूर बुलावहु = डाकेजनी के अपराध में उसे दरबार में पेश किया जाय। अपनौ दिन न बिचारयौ=कृष्ण उत्तर देते हैं कि तुम्हें हमारे ही दिनों का खयाल है, अपने संकट के दिनों का स्मरण नहीं है।

[४]

इस पद में गोपिका के प्रगाढ़ प्रेम की व्यंजना है।

एक गाउँ के बास सखी हौं कैसें धीर धरौं=एक ही गाँव में बसने के कारण प्रणय के आवेग को कैसे रोका जाय। लोचन-मधुप अटक नहिं मानत = रूप-रस के लालची ये मेरे नेत्ररूपी भ्रमर कोई रोक-थाम नहीं मानते। वे इहिं मग······दधि लै निकरौं=वे तो रोज इस मार्ग से निकलते ही हैं और मुझे भी दही बेचने इसी रास्ते से जाना पड़ता है। पुलकित·· उमँग भरौं=उनकी झलक मिलते ही हृदय आनन्द से आप्लावित हो उठता है, शरीर पुलकायमान और कंठ गद्‌गद हो जाता है। पल अन्तर चलि

जात = एक पल का भी वियोग होने पर। विरहा अनल जरौं = मैं वियोग की ज्वाला से संतप्त हो उठती हूँ। सूर सकुच······डरौं=अब मैं कहाँ तक कुल-मर्यादा की चिन्ता करूँ और कहाँ तक आर्य-पथ से विचलित होने से डरूँ। प्रणय के सम्मुख आत्मसमर्पण करना ही पड़ेगा।

[६]

इस पद में कृष्ण के सौन्दर्य का अलंकृत शैली में वर्णन है।

मगन होत मन-नागर = चतुर मन इस सौन्दर्य-सागर में निमग्न हो जाता है। तनु अति स्याम······भँवर परति सब अंग = कृष्ण के श्यामल अंग पर गहरे समुद्र का, पीताम्बर पर तरङ्गों का और कृष्ण के चलने से जो छवि उत्पन्न होती है उस पर भँवर पड़ने का आरोप किया गया है। नैन-मीन = कृष्ण के चंचल नेत्र समुद्र की मछलियाँ हैं। भुज सरि = कृष्ण की लचीली भुजाएँ मानो समुद्र में मिलनेवाली सरिताएँ हैं, वे ही समुद्र में पाये जाने वाले लचीले भुजंग हैं। मुक्तामाल······ऐकै संग = कृष्ण के गले में पड़ी हुई मोतियों की माला मानो द्विधा विभक्त गंगा नदी है। कनक खचित······समेत = कृष्ण का मुख क्षीरसागर को मथ कर निकाला गया चन्द्रमा है, मणिजटित आभूषण लक्ष्मी है और कृष्ण के माथे पर शोभित होनेवाले स्वेदकण मानो अमृत है। रही प्रेम पचि हारि = गोपिकाओं की सौन्दर्यदृष्टि उस शोभा का पार न पा सकने के कारण शिथिल हो गयी। वे प्रेम में निमग्न हो गयी हैं।

[७]

इस पद में कृष्ण के नृत्यरत नटवर वेश का चित्रण है।

भ्रकुटी विकट···उड़िबै अकुलावत = नृत्य के समय कृष्ण की भृकुटी कुटिल हो जाती है यही मानो खञ्जन पक्षी को भयभीत करने वाले तने हुए धनुष हैं। कृष्ण के चंचल नेत्र खञ्जन पक्षी हैं। नृत्य की ताल के साथ कृष्ण के नेत्र ऊपर-नीचे, दाएँ-बाएँ कटाक्ष करते हैं यही मानो खञ्जन पक्षी की उड़ने की चेष्टा है।

[८]

उपमा हरि तनु देखि लजानी = व्यतिरेक अलंकार। गारी देहिं… देत = विद्युत्, मीन, कमल, अहि, केहरि आदि उपमान, जिन्हें कविगण कृष्ण की दशन कांति, नेत्र, मुख, भुजा, कमर आदि के समकक्ष बतलाते हैं, कवियों को कोसते हैं। कोसते इसलिए हैं कि श्री अंगों की अलौकिक छवि के प्रसंग में वे उनका क्यों उल्लेख किया करते हैं। मछली सोचती है कहाँ कृष्ण के अनियारे सुन्दर नेत्र और कहाँ हम, दोनों में तुलना हो ही नहीं सकती। इसी प्रकार अन्य उपमान लज्जा का अनुभव करते हैं।

[९]

इस पद में कृष्ण की रूपमाधुरी का पान करके उन्मत्त रहने वाली व्रजबाला के नेत्रों का वर्णन है।

नैना घूँघट में न समात = इन नेत्रों ने जब से कृष्ण की रूपमाधुरी का पान किया है तब से इतने चंचल एवं बेहया हो गये हैं कि अब वे घूँघट की ओट में रहना पसंद नहीं करते। शैतान बालक जैसे माँ की गोद में नहीं समाता उसी प्रकार ये दुष्ट नेत्र अब क्षण भर को भी घूँघट में नहीं रहना चाहते। निरखि निरखि न अघात = कृष्ण के मुख की रूपमाधुरी का ये खुलकर पान करते हैं तब भी तृप्ति नहीं होती। मधुलंपट = रूप-माधुरी के लालची। जानत एक न बात = कृष्ण को निरखने के अतिरिक्त ये और सब भूल चुके हैं। माते = उन्मत्त। ओट भएँ = पर्दा होने पर। तऊ टेव नहिं जात = तब भी इनकी लत नहीं छूटती। पलक कलप सम जात = कृष्ण-वियोग का एक पल भी इन्हें कल्प के समान दीर्घ दिखलायी पड़ता है।

राधिका-वल्लभ

यों तो कृष्ण सभी व्रज-युवतियों के प्राण-वल्लभ हैं; किन्तु प्रणय की दुनिया में जो महत्त्व और गौरव वृषभानुनन्दिनी राधिका को प्राप्त हुआ वह किसी अन्य व्रजबाला को नहीं। राधिका कृष्ण की अनन्य आराधिका

है। उसने अपना तन-मन-यौवन, समस्त जीवन कृष्णार्पण कर दिया है और आत्मसमर्पण के द्वारा उसने कृष्ण को अपने प्रणय-सूत्र में बाँध लिया है। आश्चर्य की बात है कि कृष्ण-चरित्र के मूल ग्रन्थ श्रीमद्भागवत में राधा शब्द का उल्लेख तक नहीं है। कुछ लोगों का अनुमान है कि राधा तत्त्व का आविर्भाव वैष्णव तंत्रों के माध्यम से हुआ है। कुछ भी हो, कृष्ण भक्त कवियों द्वारा वर्णित राधिका प्रेम की अत्यन्त निर्मल, कोमल और मंजु मूर्ति है।

[१]

इस पद में राधिका और माधव की पहली भेंट की झाँकी है।

ब्रजखोरी = ब्रज की किसी गली में। हाथ लिए भौंरा, चक, डोरी = चकई और भौंरा रस्सी में गूँथ कर फिराना बाल्यकाल का प्रिय खिलवाड़ है। दसन दमक दामिनि छबि छोरी = मुस्कराहट के समय निकलने वाली दशन कान्ति बिजली की चमक को फीका करने वाली थी। रबितनया = यमुना। पुराणों के अनुसार यमुना सूर्य की पुत्री हैं। चंदन की खोरी = केसर आदि मिलाकर तैयार किया जाने वाला चंदन का लेप। औचक = अचानक, अप्रत्याशित रूप में। नैन बिसाल भाल दिए रोरी = राधिका के नेत्र बड़े-बड़े थे। वह माथे पर रोली की लाल बिंदिया लगाये हुए थी। यहाँ सूर ने राधिका और कृष्ण की झाँकी चित्रित की है, उसमें अलंकरण का एक प्रकार से अभाव है। बस, चन्दन और रोरी जैसे प्रसाधन और पीताम्बर एवं नीली ओढ़नी भर का उल्लेख किया है। रंगों के चुनाव में सूर सावधान अवश्य हैं। राधिका के चम्पक वर्ण पर लाल रोरी और नीली ओढ़नी जितनी फबीली दीख पड़ेगी, कृष्ण के श्याम वर्ण पर पीताम्बर और पीत चन्दन उतना ही शोभायमान लगेगा। मोर मुकुट और कानों में पहने जाने वाले कुण्डल कृष्ण के व्यक्तित्व का अभिन्न-अभिन्न अङ्ग हैं। उन्हें अलंकरण की कोटि में नहीं रखा जा सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि सौन्दर्य अपने अनलंकृत रूप में जितना मोहक होता है उतना अलंकृत रूप से नहीं।

सूर की सौन्दर्य-दृष्टि की सूक्ष्मता का यह चित्र एक श्रेष्ठ उदाहरण है।

दिन-थोरी=अभी बाल्यावस्था ही चल रही है, किशोरावस्था अभी कुछ दूर है। नैन नैन मिलि परी ठगोरी = नैन दोनों के मिले और जादू का असर भी दोनों ओर समान हुआ।

[२]

इस पद में राधिका के आत्मसमर्पण की अभिव्यंजना है। नारी हृदय प्यार के बोझ को अधिक दिनों तक नहीं ढो पाता। उसे अपने प्रेमपात्र के प्रति अपने-आप को समर्पित करना ही पड़ता है। इसी भाव की सहज शैली में अभिव्यक्ति की गयी है।

[३]

ब्रजहिं बसें आपुहिं बिसरायौ = राधिका के प्रणयकातर आत्मसमर्पण का प्रत्युत्तर देते हुए कृष्ण व्रजभूमि के सहज अनुराग का एक प्रकार से मूल्यांकन कर रहे हैं। यहाँ सूर कृष्ण के ऐश्वर्य का संकेत करके मानव-हृदय के निष्कपट प्यार की महिमा का उद्घाटन करते हैं। कृष्ण कहते हैं कि व्रज में अवतरित होकर, व्रजवासियों के प्रगाढ़ प्रेम को पाकर मैं तो अपना स्वरूप ही विस्मृत कर चुका हूँ। इस मानवीय रूप में जो आनन्द है वह मेरे दिव्य रूप में नहीं। मानवीय प्रेम का इससे अधिक मूल्यांकन और क्या हो सकता है।

प्रकृति पुरुष एकहिं करि जानहु = यह दोनों तत्त्व देखने में ही पृथक् प्रतीत होते हैं। वास्तव में थक् हैं नहीं। प्रकृति पुरुष से अभिन्न है। गोस्वामी तुलसीदास ने सीता और राम के एकत्व का निरूपण इस प्रकार किया है—

> गिरा-अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
> बन्दउँ सीता राम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न ॥१-१८॥

जल-थल······उपनिषद् गायौ = प्रकृति पुरुष का ही आत्म-विस्तार

होने के कारण उससे अभिन्न है, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन श्रुतियों द्वारा किया गया है। द्वै तन जीव एक = हमारे शरीर दो होते हुए भी प्राण एक ही है। पुरुष ने इस सृष्टि का विस्तार अपने चिदंश से लीला-हेतु किया है। ब्रह्म-रूप द्वितिया नहिं कोऊ = एक ही ब्रह्म पुरुष और प्रकृति, राधा और कृष्ण के रूपों में द्विधा विभक्त है।

[४]

राधा के अनुराग का चित्रण है। स्याम सखि नीकैं देखे नाहिं = हे सखि, मैं कृष्ण को भली भाँति नहीं देख सकी। लोचन भरि आए = अश्रु, रोमांच, पुलक, स्वेद आदि सात्त्विक अनुभाव हैं जो आनन्द का उद्रेक सूचित करते हैं। कैसेहुँ करि······डराहिं = नेत्रों की प्यास इतनी बढ़ी हुई है कि पलक झपकने में जितना समय लगता है, ये उतना वियोग भी सहन नहीं कर सकते। निमिष पलकों को कहते हैं। पलक मानो निर्निमेष होकर कृष्ण की छवि पर पहरा देते हैं। पहरेदार को जैसे चोरी का डर रहता है, वैसे ही इन नेत्रों को भी कृष्ण की छवि के वियोग का भय बना रहता है।

[५]

राधा की प्रेम-वंदना का पद है। राधा परम निरमल नारि = प्रेम के तत्त्व को समझने के कारण राधिका और उसका प्रेम परम निर्मल है। कहति हौं······हृदय-दुविधा टारि = मैं इस बात को मन-वचन-कर्म से कह रही हूँ। मेरी यह घोषणा द्विविधाहीन है। स्याम कौं इक तुहीं जान्यो = कृष्ण तत्त्व को तू ही सम्यक् पहचान सकी है। जैसे घट पूरन···डगडौर = आधा भरा हुआ घड़ा शिर पर रखने से डगमगाता है। जल से पूर्ण घट निश्चल और निस्तब्ध होता है, उसी प्रकार से कृष्ण के प्रेम का बखान करने वाली अन्य गोपिकाओं का अनुराग पूर्ण नहीं है। धनी धन······ ताहि छिपाइ = धनी व्यक्ति अपने धन का बखान कभी नहीं करता, अपितु उसे छिपा कर रखता है, उसी प्रकार तू अपने प्रेम का बखान नहीं करती।

सूर सखी······मुसुकाहिं = सूरदासजी कहते हैं कि राधिका और राधिका के प्रेम की प्रशंसा करने वाली सखी परस्पर मुस्कराती हैं।

[६]

सखी की बात का मानो उत्तर देती हुई राधिका कृष्ण के प्रेम का उल्लेख करती है। जौ बिधिना अपबस करि पाऊँ = यदि विधाता और उसका विधान अपने वश में कर सकूँ। अपनी साध पुराऊँ = अपनी मनोकामना पूर्ण करूँ। पद्धति नई चलाऊँ=दर्शन की एक नयी परिपाटी प्रस्थापित करूँ। कहा करौं······लोचन द्वै नहिं टाऊँ = विवशता यह है कि उधर निस्सीम सौन्दर्य है और इधर इन नेत्रों में इतना अवकाश नहीं कि उस छबि को स्थान दिया जा सके। ऐते पर ये निमिष = एक तो नेत्र केवल दो ही हैं, दूसरे विधाता ने इन्हें सनिमेष बनाया है। यह और दुःख की बात है। मुझे निमिष मात्र का भी वियोग व्यथित करता है।

[७]

यह पद राधिका के स्तवन में लिखा गया है। धन्य कान्ह तेरे बस जे हैं = वे कृष्ण भी धन्य हैं जो तेरे निर्मल प्रेम के पाश में बँधे हैं। धनि कीन्हे बस स्याम = तू भी धन्य है जिसने कृष्ण जैसे परम तत्त्व को अपने प्रेम के वश में कर लिया है।

धनि मति······धनि भाउ = तेरी बुद्धि, तेरी प्रीति, तेरी भक्ति और तेरा परम भाव भी धन्य है। धनि धनि एक सुभाउ = तेरी एक निष्ठा धन्य है।

[८]

इस पद में राधिका के प्रेम की उत्कटता का वर्णन है। राधेहिं मिलेहूँ प्रतीति न आवति = कृष्ण का प्रत्यक्ष दर्शन करने पर भी राधिका को प्यार की प्रतीति नहीं होती। सँचि सरघा ज्यों धावति = कृष्ण की रूप-माधुरी को पान करने के लिए नेत्र दस दिशाओं में मधुमक्खी के समान उड़ते हैं।

सपनौं आहि कि······बितर्क बनावति = कृष्ण के दर्शन में राधिका इतनी तल्लीन हो जाती है कि कभी-कभी उसके मन में यह वितर्क उत्पन्न होता है कि वह जो कुछ भी अनुभव कर रही है वह सत्य है अथवा एक मीठा सपना है।

सूर प्रेम की······तरँग उपजावति = सूरदास कहते हैं कि प्रेम की अवस्था बड़ी विचित्र होती है। उसमें मन नाना प्रकार की भाव-तरंगों का अनुभव करता है।

[९]

कृष्ण के प्रेम में पगे हुए राधिका के नेत्रों का वर्णन है।

खंजन नैन सुरँग रस माते = राधिका के खंजन के समान नेत्र कृष्ण के रूप-रस में पगे हुए हैं। पल पिंजरा न समाते = ये नेत्ररूपी खंजन मानो पलकरूपी पिंजड़े में पल मात्र भी बन्दी रहने को तैयार नहीं। राधिका के नेत्र कृष्ण के वियोग में ऐसे तड़पते हैं मानो खंजन पक्षी को पिंजड़े में बन्द कर दिया गया हो। बसे कहूँ सोइ बात······किहिं नातैं = सखी व्यंग्य करती हुई कहती है कि ये तेरे नेत्र कहाँ बसे हुए हैं, तेरे होते हुए भी ये तेरे पास नहीं हैं, कहीं अन्यत्र ही बसे हुए हैं। सोइ संज्ञा देखति औरासी = आज तेरे नेत्रों की गति और ही प्रकार की हो गयी है, इन नेत्रों को अपनी कोई सुधि-बुधि नहीं है। विकल उदास कला तैं = ये अपनी सहज प्रफुल्ल मुद्रा में नहीं हैं अपितु विकल और उदास हैं। चलि चलि······ताटंक फँदाते = ये नेत्र बार-बार कर्ण-समीप पहुँचते हैं, कृष्ण के वियोग में अत्यन्त चंचल हैं। ताटंक फँदाते = ताटंक कानों का एक आभूषण है। सखी ने नेत्रों के ऊपर खंजन का आरोप किया है। वह कहती है कि नेत्र-रूपी इन खंजनों को न तो नेत्रगोलकरूपी पिंजड़ा ही रोक सकता था और न ताटंकरूपी दीवाल की रुकावट ही। सूरदास अंजन······उड़ि जाते = बस, ये काजल की रेखरूपी रस्सी से बँधे हुए हैं अन्यथा कभी के उड़ गये होते।

इस पद में राधिका के मान का चित्रण है। कृष्ण की दूती राधिका के पास जाकर मानिनी राधिका को कृष्ण के साथ निकुंज लीला करने के लिए मना रही है। वर्षाऋतु यहाँ उद्दीपन विभाव के रूप में अंकित की गयी है। उत्तर मध्य काल में राधिका और कृष्ण का नाम लेकर जो नायिका-भेद का निरूपण किया गया उसका पूर्वाभास हम इस प्रकार के पदों में पा सकते हैं। निकुंज लीला कृष्णभक्ति साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

यह ऋतु रूसिबे की नाहिं—रूसना = रोष करना, यह सुहावनी वर्षा ऋतु मान करने की नहीं है। बरषत······हरषि मिलाहीं = यह मिलन का त्यौहार है। देखो मेदिनी के ताप को मेटने के लिए इन्द्र आकर वर्षा कर रहे हैं। वर्षा की फुआरों से पुलकित होकर रसिक प्रेमी अपनी प्रेमिकाओं का आलिंगन कर रहे हैं। जेती बेलि······लपटाहीं = ग्रीष्म के ताप ने जिन लताओं को दग्ध कर दिया था वे भी अब वृक्षों का प्रगाढ़ आलिंगन कर रही हैं। जे जल बिनु······समुद्रहिं जाहीं = ग्रीष्म ऋतु में जो सरिताएँ सूख गयी थीं वे भी अब उमड़कर अपने प्रियतम समुद्र की ओर जा रही हैं। लता (स्त्री लिं०) विटप (पु० लिं) के आलिंगन में कृष्ण के आलिंगन करने का संकेत है। सरिताओं के उमड़कर समुद्र से मिलने में कृष्ण के पास चल कर मिलने का संकेत है। जोबन धन······बदली की छाहीं = बदली की छाया के समान आखिर इस यौवन का खजाना भी तो चार दिन का है। और ये चार दिन भी यदि मान में गँवा दिये तो फिर इसका उपभोग क्या किया ?

मथुराप्रवासी कृष्ण

सूर का संयोग-पक्ष जितना विस्तृत, उद्दाम और परिपूर्ण है, वियोग-पक्ष भी उतना ही मर्मस्पर्शी और अगाध है। एक में क्षण भर का वियोग भी यदि सह्य नहीं तो दूसरे में क्षणभर के संयोग की भी आशा नहीं है। व्रजभूमि जिस कृष्ण को सदा आँखों में रखती थी उन आँखों को अब कृष्ण

की एक झलक पाना भी दुर्लभ हो गया है। इस दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सूर ने जो अत्यन्त चटक और गहरे रंगों से संयोग को चित्रित किया था वह केवल वियोग के रंगों को उभारने के लिए। व्रज और कृष्ण का संयोग केवल व्रज से कृष्ण का वियोग अंकित करने की उपयुक्त पीठिका मात्र है। सूर ने संयोग-शृंगार का चित्र अंकित करने में किसी प्रकार का कोई दुराव-छिपाव नहीं रखा। व्रज-युवतियों ने अपना सब कुछ कृष्ण के ऊपर न्यौछावर कर दिया और कृष्ण ने भी कभी उनके इशारे पर नाच नाचा, कभी पाँवों में महावर लगाया तो कभी गले में हाथ डाल कर रास-क्रीड़ा की। कृष्ण की यही स्मृतियाँ वियोग को गहरा बनाने में सहायता करती हैं। संयोग-शृंगार का अध्ययन किये बिना सूर के वियोग शृंगार की पूरी संवेदना अनुभव नहीं की जा सकती।

[१]

नैननि की परतीति गई = नेत्रों ने अपना विश्वास खो दिया। उड़ि न गए······तबहिं तैं = हमारे इन नेत्रों को खंजन से उपमित किया जाता था, किन्तु इनमें यदि खंजन का कोई गुण होता तो वे कृष्ण के साथ ही न उड़ जाते। रूप रसिक······कछु वै न भई=ये कृष्ण के रूप के बड़े लालची, बड़े रसिक कहलाते थे, किन्तु अब वह लालच कहाँ चला गया। अगर ये सच्चे रूप-रसिक थे तो कुछ करके दिखाते, कुछ त्याग करते। किन्तु हुआ इनसे कुछ भी नहीं। मालूम पड़ता है इनका वह लालच केवल एक दिखावा था। साँचे क्रूर कुटिल ये लोचन = कटाक्षों की वंकिम भंगिमा प्रसिद्ध है। प्रेमी हृदय को प्यार की पीड़ा पहुँचाने के कारण नेत्रों को क्रूर कहा जाता है। गोपिकाओं को कृष्ण के वियोग में इन विशेषणों की सार्थकता प्रतीत हो रही है क्योंकि नेत्र अब उन्हें ही दुःख दे रहे हैं।

बृथा मीन-छवि=इन नेत्रों को मछली से उपमित किया जाता था। यह उपमान मिथ्या था क्योंकि मछली तो जल के वियोग में प्राण दे देती

है, किन्तु कृष्ण के अनिचल से बिछुड़ने पर भी ये नेत्र जीवित हैं। समौ गए तें सूल नई = समय निकल जाने पर केवल पश्चात्ताप रह जाता है। अब काहैं⋯जल मोचत = कृष्ण के साथ प्रस्थान करने का अवसर निकल गया इसलिए अब आँसू बहाने का मूल्य क्या है। सूरदास याही तें⋯दगा दई = कृष्ण के बिछुड़ने के समय ये नेत्र निष्प्राण हो गये थे। पलकों ने भी धोखा दिया था, वे भी बन्द हो गये थे। बिछुड़ते समय ये उनको जी भर के देख भी तो नहीं सके।

[२]

मथुरा से प्रस्थान करते समय नन्द की दीन दशा की अभिव्यक्ति है। नन्द कृष्ण को मथुरा में छोड़कर ब्रज लौटने के लिए राजी नहीं हैं।

उठि ऐहैं = तुम्हारी प्रतीक्षा में उठकर दौड़ेंगी। काहि कलेऊ दै है = तुम्हारे बिना प्रातः उठ कर कलेवा किसके लिए तैयार करेगी। बारह बरस⋯प्रताप बिनु जाने = तुम्हारे ऐश्वर्य को जाने बिना, हमने बारह वर्ष तक तुम्हारे साथ धृष्टता की। तुम्हें पुत्र बना कर रखा। हमें यह पता नहीं था कि तुम महाराज वसुदेव के पुत्र हो।

रिपुहति⋯मरते ब्रजवासी = यदि तुम्हें अपने वियोग में तड़पा-तड़पा कर ब्रजवासियों के प्राण लेने थे तो ब्रज में रहकर शत्रुओं का विनाश करके उनके प्राणों की रक्षा क्यों की। इससे तो कहीं अच्छा होता यदि तुम हाथ से पर्वत गिरा देते और सम्पूर्ण ब्रजवासी उसी के नीचे दब कर मर जाते।

ऊरध स्वाँस⋯कही न जाइ = उक्त बातें कहते-कहते नन्द की श्वास ऊर्ध्व गति से चलने लगी। उनके पग शिथिल हो गये, नेत्रों में आँसुओं का प्रवाह उमड़ने लगा। सूरदास कहते हैं कि नन्द की वियोग-वेदना का वर्णन करने में वे असमर्थ हैं।

[३]

इस पद में नन्द के प्रत्यागमन के समय माता यशोदा की विकलता

की व्यंजना है। नन्द हरि तुम सौं कहा कह्यौ—नन्द ! कृष्ण ने प्रस्थान के समय तुमसे क्या कहा था। ध्यान देने की बात यह है कि यशोदा भावावेश के कारण अपने पति को 'नन्द' कहकर सम्बोधन करती है। कोई सम्मानसूचक विशेषण यहाँ नहीं है। दरकि न गई=फट न गई, उसमें दीवाल के समान दरार नहीं पड़ी। सूल सह्यौ = वेदना सहन की। मनु-डसि गयौ अह्यौ = मानो साँप ने काट लिया हो। (उत्प्रेक्षा अलंकार) दुःखातिरेक के कारण यशोदा के अंग शिथिल पड़ गये। ऐसा प्रतीत होता था मानो सर्प दंश का विष उसके शरीर में व्याप्त हो गया है।

तजे न प्रान' ' 'निबह्यौ=तुम यदि बाँह पकड़ कर मेरे पुत्र को वापस नहीं ला सकते थे तो दशरथ के समान प्राण ही दे दिये होते। कम-से-कम तुम्हारा जीवन तो सफल हो जाता। अकेले लौट कर तुमने कौन-सा पुरुषार्थ पा लिया।

[४]

यमुना के माध्यम से व्रजबालाओं की व्यथा-वेदना को व्यक्त किया गया है। यमुना के विभिन्न अंगों पर वियोगिनी के विभिन्न अंगों का आरोप किया गया है। (सांगरूपक अलंकार) यमुना के जल की श्यामलता पर विरह की ताप से झुलसे हुए काले वर्ण का आरोप है। यमुना पर्वत से गिरकर पृथ्वी पर बह रही है मानो वियोगिनी पलँग से गिर कर धरती पर लोट रही है। यमुना में तरंगें उठ रही हैं मानो विरहिणी वियोग की तड़प से अस्थिर है। तट पर जो बालू बिखरी हुई है वही मानो ताप दूर करने का चूरण है। नदी से छोटे-छोटे सोते निकल रहे हैं मानो वियोगिनी के शरीर से स्वेद बह रहा है। यमुना में पड़ने वाले भ्रमर मानो वियोगिनी की भावनाओं के चक्र हैं। यमुना के तट पर चकवी 'पीउ-पीउ' पुकार रही है मानो वियोगिनी प्रियतम का नाम ले रही है।

[५]

वर्षा के बादल आकाश में छाने लगे, किन्तु व्रज के घनश्याम नहीं

लौटे। गोपियों को घन-घटा में कृष्ण की छवि दिखलायी पड़ने लगी। अनुहारि = उसी छवि के अनुकूल। आए उनइ साँवरे=श्यामल घनघटाएँ घिर कर आ गयीं।

भ्रमर-गीत

'भ्रमर-गीत' का प्रयोग सबसे पहले श्रीमद्भागवत में दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध के सैंतालीसवें अध्याय में किया गया है। उद्धव जब कृष्ण का संदेश लेकर गोपियों के सम्मुख आते हैं तो गोपिकाएँ प्रेम-कातर होकर उनके सामने कृष्ण की चर्चा करती हैं। इसी प्रसंग में भागवतकार ने भ्रमर की कल्पना की है। एक भौंरा कहीं से उड़ता हुआ आता है और गोपी के कभी सरोज-मुख, कभी पद-कमल पर गुंजार करने लगता है। गोपी उसे कृष्ण का भेजा हुआ दूत मानकर उसको नाना प्रकार के उपालम्भ देती है जैसे—"हे धूर्त के बन्धु! तुम हमारे चरण न छुओ, तुम्हारे हाथों में सौत (कुब्जा) के वक्षस्थल का चंदन लगा हुआ है। यह प्रसाद कृष्ण के लिए ही शिरोधार्य हो सकता है, हमारे लिए नहीं।" इसके पश्चात् सभी व्रज-बालाएँ भौंरे को ही सम्बोधित करके कृष्ण के कपट-प्रेम, निष्ठुरता, क्रूरता, रस-लोलुपता, अकृतज्ञता आदि के प्रेमभरे उपालम्भ देने लगती हैं। इसीलिए उद्धव-गोपी-संवाद का नाम ही भ्रमर-गीत पड़ गया है।

भ्रमर-गीत की यह कल्पना भागवतकार की अद्भुत काव्य-प्रतिभा की परिचायक है। वर्ण, गुण, कर्म, स्वभाव और प्रणय-लीला में कृष्ण और भ्रमर में इतना अधिक साम्य है कि यह अन्योक्ति मार्मिक बन गयी है। भ्रमर के माध्यम से गोपियों ने कृष्ण के दूत की भी अच्छी खबर ली है। वे भौंरे को लक्ष्य करके उद्धव पर नाना प्रकार के व्यंग करती हैं, उनका मजाक बनाती हैं, खरी-खोटी सुनाती हैं और बेचारे उद्धव को सब कुछ सहना पड़ता है। हिन्दी में कृष्ण-लीला का गान करने वाले कवियों ने इस प्रसंग पर अवश्य काव्य रचना की है, किन्तु इसका जो विस्तार 'सूर-सागर' में मिलता है वह अन्य किसी कवि की रचना में नहीं।

सूर के ऊधव अथवा ऊधौ में वे सब विशेषताएँ हैं जो भागवत के उद्धव में हैं। दोनों ही भ्रमर-गीतों के उद्धव कृष्ण के प्रिय सखा, वाग्मी और ज्ञानी हैं! दोनों के व्रज आगमन का उद्देश्य भी एक ही है—विरह-विदग्धा गोपिकाओं को सान्त्वना प्रदान करना। किन्तु सूर के ऊधौ इससे कुछ और भी हैं। वे ज्ञानाभिमानी, भक्ति-विरोधी, अद्वैतवादी और योगी हैं। गोपिकाओं को वे हठयोग का उपदेश देते हैं। कृष्ण ने उनको संदेश के बहाने भक्ति की दीक्षा लेने अपनी लीला-भूमि पर भेजा है। भ्रमर-गीत का अध्ययन दो दृष्टियों से किया जा सकता है। एक तो काव्य की दृष्टि से और दूसरे, साधना की दृष्टि से। काव्य की दृष्टि से अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि सूर इस प्रसंग में मानव-हृदय का कोना-कोना झाँक आये हैं। एक विरही-हृदय प्रिय के वियोग में क्या सोच सकता है, क्या अनुभव कर सकता है और क्या कह सकता है, दूसरे शब्दों में प्रिय के वियोग में वियोगी की दृष्टि किन-किन भावभूमियों का स्पर्श कर सकती है, सूर ने समग्र रूप में इसका बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। साधना की दृष्टि से उन्होंने भक्ति के सम्मुख ज्ञान, वैराग्य और योग-साधना को तुच्छ, निरर्थक, अव्यवहार्य और पाखण्ड सिद्ध किया है। सूर ने उद्धव के ऊपर ज्ञानी और योगी का आरोप करके उनको व्रज की धूलि में लोटाया है, प्रेम के रस में सराबोर कराया है। यह वैष्णव रामानुगा भक्ति का ज्ञान और योग पर विजय का उद्घोष है।

[१]

निरखति अंक······लै छाती=कृष्ण के पत्र में उनके हाथ की लिखावट देखकर गोपिकाओं को कृष्ण के संयोग जैसा आनन्द मिलता है। प्रेम के अतिरेक से वे कृष्ण के स्थान पर उनकी पाती को ही बार-बार हृदय से लगाती हैं। लोचन जल······स्याम जू की पाती=स्याम-स्याम की पुनरुक्ति में यमक अलंकार है। एक स्याम का अर्थ है काला तथा दूसरे का अर्थ है कृष्ण। गोपिकाओं ने जैसे ही कृष्ण की पाती को हृदय से लगाया,

उनकी विरह-व्यथा फूट पड़ी। वे उसी प्रकार रो पड़ीं मानो कृष्ण उनके समक्ष हों। रोने के कारण बहने वाले आँसुओं से कृष्ण की चिट्ठी काली हो गयी। 'है गई स्याम स्याम की पाती' से दोनों ही अर्थ निकलते हैं, चिट्ठी काली हो गयी तथा चिट्ठी में उनको कृष्ण की अनुभूति हुई।

कबहुँ बयारि न लागी ताती=हमको कभी किसी प्रकार के दुःख का अनुभव नहीं हुआ था। 'ताती बयार' का शाब्दिक अर्थ तप्त वायु है। 'ताती बयार लगना' एक मुहावरा है जिसका अर्थ कष्ट का अनुभव होना है। अरु हम उती कहा कहैं ऊधव = उद्धवजी, हम उन दिनों की बात क्या चलावें। वे दिन तो जैसे सपने हो गये हों। उनकैं लाड़ बदति नहिं काहूँ= उनके अनुराग के कारण हम किसी को कुछ गिनती ही नहीं थीं। निसि-दिन रसिक''रत राती = दिन-रात रसिकशिरोमणि कृष्ण के साथ रास-लीला में मग्न रहा करती थीं। बाल सँघाती = बालसखा।

[२]

इस पद में गोपिकाओं की प्रेमनिष्ठा की व्यंजना की गयी है। मधुकर हम न'''कुसुम रस केली = मधुकर, हम वे लताएँ नहीं हैं जो रोज नये-नये मधुपों का स्वागत करती हैं। उद्धव के ऊपर भौंरे का आरोप करने के पश्चात् गोपिकाएँ अपने ऊपर लताओं का आरोप करती हैं। उद्धव का कहना था कि तुम ब्रह्म की आराधना करो। गोपिकाओं का उत्तर है कि हमने तो जीवन में केवल एक कृष्ण की आराधना की है, अब दूसरे के लिए हृदय में अवकाश कहाँ। कृष्ण ही ऐसा कर सकते हैं। वे हमारा परित्याग करके मथुरा की नवेलियों के साथ रास-रंग कर रहे हैं। हम अपने एकनिष्ठ पातिव्रत्य का परित्याग नहीं कर सकतीं। स्याम तमाल=कृष्णरूपी तमाल वृक्ष। ये बेली''स्याम तमाल = ब्रज की विरहिणी युवतियों का एक मात्र आश्रय कृष्ण हैं। हमारी चित्तवृत्ति कृष्ण में उसी प्रकार लीन रहती है जैसे लताएँ तमाल वृक्ष का आश्रय लेकर उसी एक से लिपटी रहती हैं। प्रेम-पुहुप-रस-बास—प्रेमरूपी पुष्प की

सम्पूर्ण अभिलाषाएँ, सम्पूर्ण कामनाएँ। प्रेम पुहुप ··· बौरात = इन लताओं का सम्पूर्ण सौरभ और पराग केवल कृष्णरूपी भौंरे के लिए है। हमारे हृदय की जितनी भी आशा, आकांक्षा, अभिलाषाएँ हैं वे केवल कृष्ण को अर्पित हैं, उनके अतिरिक्त किसी और का ध्यान करने में हम असमर्थ हैं। जोग-समीर = योगरूपी वायु का झोंका। रूप डार = सौन्दर्यरूपी डाली। जोग समीर धीर ··· दृढ़ लागीं = जो लताएँ वृक्ष की डालियों का दृढ़तापूर्वक परिरंभन किये हुए हैं, वे वायु के ...कों से न तो विचलित हो सकती हैं और न विच्छिन्न हो सकती हैं। गोपिकाओं ने कृष्ण के स्वरूप को इतनी दृढ़ता से हृदयंगम कर लिया है कि उन पर अब निर्गुण ब्रह्म के उपदेशों का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। भक्ति और ज्ञान की तुलनात्मक समीक्षा की दृष्टि से यदि इस उक्ति पर विचार करें तो भाव यह होगा कि भक्त के सम्मुख ईश्वर का सगुण-साकार रूप होता है। जिसके सहारे वह अपनी चित्तवृत्ति को इतनी दृढ़ता से अपने इष्टदेव में निमग्न कर देता है कि बाह्य विषयों के आकर्षण उसकी चित्तवृत्ति को नहीं डिगा पाते, किन्तु आत्मचिन्ता के अतिरिक्त ज्ञानी के समक्ष ऐसा कोई आधार नहीं रहता। ज्ञानमार्गी के लिए ब्रह्म का न कोई गुण है और न आकार। इसलिए उसका मन विचलित हो सकता है, भक्त का नहीं।

सूर पराग न श्री गुपाल अनुरागी = हमारे हृदय से कृष्ण का स्मृति-रूपी पराग कभी भी दूर नहीं हो सकता क्योंकि हमने उनसे प्यार किया है।

[३]

गोपियाँ कभी उद्धव के ज्ञानोपदेश पर खीझती हैं और कभी उनकी सिधाई पर रीझती हैं। इस पद में उद्धव के आगमन पर कृतज्ञता प्रकट की जा रही है। कृष्ण न सही, कृष्ण के सखा के ही दर्शन मिले और इस अर्थ में प्रिय से आंशिक साक्षात्कार हुआ।

जिन अँखियन तुम ··· हम लागीं = अपनी आँखों से तो हम कृष्ण के दर्शन न कर सकीं, किन्तु तुम्हारी जिन आँखों ने कृष्ण के दर्शन किये हैं

हम उनका दर्शन करके ही अपने-आप को आज परम सौभाग्यवती समझ रही हैं।

जैसैं सुमन वास··सुख रांगी = जिस प्रकार दूरस्थ वन-उपवनों से पवन श्रेष्ठ पुष्पों की गन्ध और पराग भर कर ले आता है और अपने स्पर्श से हमारा मन पुलकित कर देता है, उसी प्रकार कृष्ण का संदेश लाकर आपने हमें कृतकृत्य किया। ज्यौं दरपन में··तन त्यागी = हम अपना चेहरा अपने-आप नहीं देख पाते, किन्तु जब दर्पण का माध्यम हमें मिल जाता है, तब हम बड़ी रुचि से अपना बिम्ब उसमें देखते हैं। इसी प्रकार हे उद्धव, आप हमारे लिए कृष्ण के संयोग के माध्यम हो रहे हैं। आपके माध्यम से हम कृष्ण को पा रही हैं। हमारे शरीर से वियोग-व्यथा शान्त हो रही है।

[४]

इस पद में गोपिकाएँ अपने नेत्रों को कोस रही हैं। उपमा नैन न एक रही=इन नेत्रों को कमल, खंजन, मृग, मीन आदि से उपमित किया जाता था वह सब झूठा था। वस्तुतः उक्त उपमानों का एक भी गुण इनमें नहीं है।

हरि मुख कमल··टाले कत टहरात = भौंरा यदि कमल-कोष से वियुक्त हो जाता है तो उसे खोजने के लिए इधर-उधर उड़ता है और पुनः कमल-पुष्प को प्राप्त करके ही चैन लेता है, किन्तु ये नेत्र तो कृष्ण के पास उड़ कर पहुँचने का प्रयत्न नहीं करते। ऊधौ बधिक··जहाँ न कोऊ घात = मृग वध करने वाले व्याध को देख कर भाग खड़ा होता है और सघन वन में जाकर छिप जाता है, किन्तु ये नेत्र उद्धवरूपी व्याध को देख कर भी भागते नहीं और भाग के कृष्णरूपी सघन वन में नहीं छिप जाते जहाँ उन पर कोई घात कर ही नहीं सकता। (परंपरित रूपक)। खंजन मन रंजन··हरि समीप मुकुलात = यदि ये नेत्र सुन्दर खंजन होते तो क्या

कभी इनका मन उड़ने को नहीं करता। क्या ये पंख फैलाकर उड़ कर कृष्ण के समीप न पहुँच जाते।

सूरदास मीनता' ''कबहुँ न छाँड़त=बस, मीनत्व तो उनमें थोड़ा बहुत पाया जाता है। जिस प्रकार मछली जल से कभी वियुक्त नहीं होती उसी प्रकार ये भी अश्रुजल का कभी परित्याग नहीं करते। जब से प्रिय-वियोग हुआ है गोपिकाओं की आँखें कभी आँसुओं से रिक्त नहीं होतीं।

[५]

उद्धव के ज्ञान और योग के संदेश पर गोपिकाएँ झुँझला जाती हैं। कभी उनको भोला-भाला समझ कर मूर्ख बनाने लगती हैं तो कभी कृष्ण और उद्धव दोनों के प्रति तीखे व्यंग्य करती हैं। इस पद में उद्धव और उनके सखा कृष्ण पर व्यंग्यों की वर्षा की जा रही है।

मधुकर भली करी तुम आए=गोपिकाओं की इस बात में व्यंग्य यह है कि यदि तुम न आते तो हमारा मनोरंजन कैसे होता। सौंज=सामग्री। मोर मुकुट' ''अधारी=हमारे द्वारा पहनाये गये वस्त्राभूषण तो कृष्ण से कह कर वापस करवा देना और जिस योग का उपदेश कृष्ण हमारे लिए भेजते हैं, कहना कि उसे वे ही धारण करें। मोर मुकुट के स्थान पर जटाजूट, कुण्डल के स्थान पर मुद्रा, मलयज-लेप के स्थान पर भस्म और वंशी के स्थान पर हाथ में अधारी ग्रहण करें। कौन काज' ''दही-भात की छाक=अब उनको वृन्दावन की आनन्दक्रीड़ाओं से प्रयोजन भी क्या है। गोचारण के लिए जाने पर माता यशोदा जो भोजन (छाक) भेजती थीं, वह भी अब उनके किस काम का है। बने एक ही घात=एक ही घाव में लगे हुए हैं। वै प्रभु बड़े' ''सुगम अनीति=आप लोग बड़े आदमी हैं, आप लोगों के लिए किसी भी प्राणी के प्रति अन्याय करना सरल है। या जमुना जल' '''''बिरह की प्रीति=जिस प्रकार यमुना का प्रवाह निरंतर बहते हुए समुद्रोन्मुख होता है, उसी प्रकार हमारी प्रीति भी वियोगावस्था में टूट नहीं सकती। हमारी चित्तवृत्ति तो अविरल धारा-प्रवाह के समान कृष्ण में ही लगी रहती है।

[६]

उद्धव के ब्रह्मज्ञान के उपदेश के प्रत्युत्तर में गोपिकाएँ कहती हैं कि हम तो मनसा-वाचा-कर्मणा कृष्ण की ही हो चुकी हैं, उनका परित्याग करके किसी अन्य पुरुष का चिन्तन नहीं कर सकतीं।

हमारैं हरि हारिल की लकरी=हारिल एक पक्षी है जो पृथ्वी पर कभी उतरता ही नहीं। यदि कभी उतरता है तो अपने पंजों में हमेशा एक लकड़ी दबाये रहता है। गोपिकाओं का कथन है कि जिस प्रकार हारिल का यह व्रत है कि वह सदा लकड़ी अपने पंजों में दबाये रहे उसी प्रकार हमने भी कृष्ण को जीवन भर के लिए अपने हृदय में बसा लिया है। जक = टेक, जिद। करुई ककरी = कड़वी ककड़ी, जिसे लोग मुँह में रखते ही थूक देते हैं। जिनके मन चकरी=गोपिकाओं का संकेत है कुब्जा की ओर। वह मन की बड़ी चतुर है। हम तो भोले-भाले व्रजवासी हैं।

[७]

इस पद में व्रज की दीन दशा का निवेदन है। गोपिकाएँ सोचती हैं कि कृष्ण का हृदय अत्यन्त करुणाशील है। वे व्रज पर संकटों का समाचार सुनकर अवश्य ही यहाँ पधारेंगे।

तृनावर्त=तृणावर्त कंस का भेजा हुआ एक राक्षस था। वह भयंकर वात्याचक्र के साथ तिनके-सा रूप धारण करके व्रज में आया था। उसने वायु की लपेट में कृष्ण को आकाश में उड़ा दिया था। कृष्ण ने उसका संहार किया था।

बक = बकासुर नाम का एक राक्षस जिसने बगुले का रूप धारण करके कृष्ण पर आक्रमण किया था। उसने अपनी चोंच में कृष्ण को दबा लिया था। तालू के जलने पर उसको कृष्ण का परित्याग करना पड़ा। चोंच विदीर्ण कर कृष्ण ने इसका वध किया।

बकी=बकासुर की बहिन पूतना, जिसने छह दिन के कृष्ण को, स्तनों

में विष लगा कर मारना चाहा था। कृष्ण ने स्तन-पान के साथ-साथ उसके प्राण भी खींच लिये।

अघासुर = अघासुर बकासुर और पूतना का छोटा भाई था। इसने विशालकाय अजगर का रूप बनाकर कृष्ण को नष्ट करना चाहा। इसने अपने मुख को इतना विस्तीर्ण कर लिया था कि गोपवृन्द धेनु-वत्स के साथ उसके अन्दर प्रविष्ट हो गये। कृष्ण ने उसे मार कर सबका उद्धार किया।

धेनुक = यह असुर गर्दभ का रूप धारण कर तालवन में रहता था। इसका संहार बलराम द्वारा किया गया। अन्य गर्दभरूपी राक्षसों का कृष्ण और बलराम ने संहार किया।

व्योम=व्योमासुर मयासुर का पुत्र था। यह गोप-वेष में गोप-मण्डली में मिलकर 'निलायन' नामक खेल खेलने लगा था। इस खेल में बालकों को पशु बनना पड़ता था। व्योमासुर एक-एक करके बालकों को ले जाने लगा। कृष्ण ने इसका संहार किया।

प्रलंब = प्रलंबासुर कृष्ण-बलराम को मारने की इच्छा से गोप रूप धारण करके ब्रज में आया और गोपमण्डली में सम्मिलित हो गया। खेल में बलराम उसकी पीठ पर सवार हुए तो यह अपने असली रूप में आकर उनका अपहरण करने लगा। बलराम ने मुष्टि-प्रहार करके इसके प्राण लिये।

केसी = केशी कंस द्वारा भेजा गया राक्षस था। यह कृष्ण को मारने के लिए अश्व का रूप धारण करके आया था। कृष्ण के द्वारा इसका संहार हुआ।

कंस = मथुरा के राजा उग्रसेन का क्षेत्रज ज्येष्ठ पुत्र जिसने अपने श्वशुर जरासंध की सहायता से उग्रसेन को बन्दी बना कर राज्य हस्तगत किया था। कृष्ण का जन्म इसके वध के लिए देवकी के गर्भ से हुआ था।

कृष्ण को मारने के सभी उपाय असफल होने पर इसने मल्लयुद्ध के बहाने कृष्ण को मथुरा बुलाया। कृष्ण ने इसका संहार किया।

काली = कालिय नाग कद्रू का पुत्र था। यह गरुड़ के भय से अपना निवास छोड़कर व्रज के निकट यमुना के एक दह में रहता था। सौरभ ऋषि के शाप के कारण गरुड़ यहाँ नहीं आ सकता था। गेंद खोजने के बहाने कृष्ण ने इस दह में प्रवेश किया और इसे अपने वश में किया। स्तुति करने पर कृष्ण ने इसे अभय देकर अपने निवास-स्थान को भेज दिया।

बरुन फाँस = वरुण पाश। एकादशी व्रत के बाद नन्द एक दिन आसुरी वेला में ही यमुना में स्नान करने चले गये। इस अपराध के कारण वरुण के एक अनुचर ने इन्हें वरुण पाश में बन्दी बना लिया और वरुण के पास ले गया। कृष्ण ने वरुणालय जाकर नन्द का उद्धार किया।

अंचल फारति जननि जसोदा = उक्त उपद्रवों से भयभीत होकर यशोदाजी का अंचल विनय करते-करते फट चुका है। यशोदा उक्त उपद्रवों से बचने के लिए अंचल फैलाकर दुआ माँगती है। पाग लिए कर तात=तुम्हारे पिता नन्द अपने सिर की पगड़ी उतार कर हाथ में लिये हुए प्रार्थनाएँ करते हैं।

लागौ बेगि गुहारि सूर प्रभु = आप शीघ्र ही हमारी कातर पुकार पर ध्यान दें। गोकुल बैरिनिघात = गोकुल पर शत्रुओं की घातें बढ़ रही हैं, यदि आप अपने व्रज की रक्षा नहीं करेंगे तो फिर कौन करेगा।

[८]

इस पद में विरह-विदग्धा राधिका की दीन दशा का वर्णन है। सूर ने उद्धव और गोपिकाओं का वार्तालाप तो आयोजित किया है, किन्तु राधा को उद्धव के सामने उपस्थित नहीं किया। राधा के मुख से उपालम्भ का एक शब्द भी नहीं कहलाया। जिसे अपनी सुधिबुधि ही नहीं वह उपालम्भ क्या देगी।

मलीन = मलिन। स्रमजल = स्वेदजल। हरिस्रम जल' 'धुवावति सारी = रतिक्रीड़ा के समय जो साड़ी कृष्ण के पसीने से कभी भींगी थी, उसे धुलवाती नहीं है। अधमुख' 'थकित जुआरी—राधिका अपनी दृष्टि सदा नीचे किये रहती है। इधर-उधर नहीं देखती। वह इस प्रकार मलिन रहती है जैसे अपनी पूँजी हार जाने पर जुआरी उदास रहता है। (उत्प्रेक्षा अलंकार)। हरि सँदेस सुनि' 'अलि जारी = उद्धव के द्वारा भेजा गया कृष्ण का संदेश सुनकर वह मर-सी गयी। विरहिणी होने के कारण एक तो वैसे भी दुखी थी, उस पर उद्धव के संदेशों ने जले पर नमक का काम किया।

पुनर्मिलन = सूरदास ने व्रजवासियों और कृष्ण की भेंट कुरुक्षेत्र में आयोजित की है। यह भेंट सूर्यग्रहण के स्नान के व्याज से करायी गयी है।

पुनर्मिलन

[१]

हरि सौं' 'वृषभानु किसोरी = पट्टमहिषी रुक्मिणीजी कृष्ण से पूछती हैं कि इन व्रज-युवतियों में वृषभानु पुत्री राधिका कौन सी हैं। बारक = एक बार। बालापन की जोरी = बचपन की जोड़ी। जाको हेत' 'व्रज की खोरी = जिसके प्यार के वशीभूत होकर आप व्रज की गलियों में नित्य चक्कर काटते रहते थे। अति आतुर' 'पर-घर चोरी = जिसके लिए आप गोदोहन की व्याकुलतापूर्वक प्रतीक्षा किया करते थे तथा माखन-चोरी किया करते थे। रचते सेज' 'पुट तोरी = जिसके साथ रतिक्रीड़ा करने की उत्सुकता में आप यमुना के निकुंजों में स्वयं नवपल्लव की शैय्या सजाते थे। छिन बीतै युग कोरी = जिसके वियोग में आपको एक क्षण करोड़ों युगों के समान दीर्घ प्रतीत होता था। सिथिल गात' 'मति थोरी = राधिका का नाम सुनते ही कृष्ण के मुख से एक शब्द भी नहीं निकलता, प्रेम के अतिरेक से उनकी बुद्धि भी भोली हो गयी थी। वे न कुछ सोच सके और न बोल सके।

कीट-भृंग = भृंगी नाम का एक कीड़ा जो किसी अन्य कीड़े के ऊपर गुंजार करके उसे अपने ही रूप में परिवर्तित कर लेता है। राधा माधव माधव राधा = कृष्ण राधामय हो रहे हैं तथा राधिका कृष्णमयी हो रही है। रसना को· · ·गई = राधा-कृष्ण की प्रीति इतनी प्रकृष्ट एवं दिव्य है कि कोई कवि उसको वाणी के द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता। सूरदास प्रभु· · · नई-नई = सूरदासजी कहते हैं कि राधिका-कृष्ण की लीलाएँ नित्य हैं। उनमें नित्य नवीनता आती रहती है।

●

नन्ददास

अष्टछाप के कवियों में कवि प्रतिभा की दृष्टि से सूर के पश्चात् नन्ददास का दूसरा स्थान है। शब्दों की कारीगरी की दृष्टि से देखा जाय तो कृष्णभक्त कवियों में इनका स्थान अद्वितीय है। नन्ददास के शब्द-प्रयोग को दृष्टि में रख कर ही यह कहावत प्रचलित है—'और सब गढ़िया नन्द-दास जड़िया।' सुवर्ण के आभूषण दो प्रकार से बनाये जाते हैं। एक तो सोने को तपाकर किसी साँचे में डाल दिया जाता है, बस, आभूषण बन गया। दूसरे रत्नजटित आभूषण होते हैं जिसमें मणियों को बड़े प्रयत्न से आभूषणों में जड़ा जाता है। नन्ददास की काव्य-कला दूसरे प्रकार की है। उन्होंने शब्दरूपी मणियों को बड़ी बारीकी से परखा है और अपने छन्दों मे जड़ा है। उसमें व्रजभाषा का माधुर्य, लालित्य, सुकुमारता आदि गुण सहज रूप में विद्यमान हैं। इसके अलावा भाव के सौन्दर्य का पूर्ण विकास भी आपकी कविता में हुआ है।

नन्ददास की रचनाओं में रास-पंचाध्यायी, रूपमंजरी, भागवत दशम स्कंध, भ्रमरगीत, रसमंजरी, विरहमंजरी, रुक्मिणी-मंगल, श्याम-सगाई इत्यादि प्रसिद्ध हैं। प्रस्तुत संग्रह में रास-पंचाध्यायी का एक अंश संग्रहीत किया गया है। यही रचना सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वाधिक प्रसिद्ध है। रास-पंचाध्यायी का कथानक वही है जो श्रीमद्भागवत की पंचाध्यायी का है। नन्ददास ने अपनी रुचि के अनुसार उसमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन किया है। शारदीय पूर्णिमा की रात्रि के प्रारम्भ में कृष्ण का वंशी बजाना, व्यग्रता-पूर्वक गोपिकाओं का एकत्र होना, प्रेम की परीक्षा की दृष्टि से कृष्ण का उनसे घर लौट जाने का अनुरोध करना, गोपिकाओं का घर लौटने को राजी न होना, तथा उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर गोपिकाओं के साथ रास करना आदि प्रसंग भागवत से स्वीकार किये गये हैं, किन्तु भागवत में जहाँ कृष्ण एक ही रहते हैं, नन्ददास ने वहाँ गोपी के साथ एक कृष्ण की कल्पना की है।

महारास

नव मर्कत-मनि स्याम = कृष्ण मरकत मणि के समान प्रतीत होते हैं। कनक मनिगन ब्रजबाला = ब्रजबालाओं का वर्ण सुवर्ण के समान है, अतः वृत्ताकार में प्रति गोपी के साथ कृष्ण का हाथ पकड़ कर नाचना मरकत मणिजटित स्वर्ण का एक दाना प्रतीत होता है। नूपुर = पैरों का आभूषण। कंकन = कंकण, कलाई का आभूषण। किंकिनि = करधनी, कटि का आभूषण। करतल = ताली बजाना। एकै सुर जुरली = कृष्ण की मुरली की तान, गोपिकाओं की ताली तथा नृत्यनिरत अंगों के आभूषणों की झनकार मुरज, उपंग, चंग और मृदंग आदि वाद्य-यन्त्रों के स्वर के साथ मेल खा रही थी।

तैसिय""""हारन की = वाद्य यन्त्रों की उसी स्वर-संगति में गोपिकाओं के पद-संचालन एवं अंग-संचालन की मुद्राएँ मिल रही थीं। कवि ने यहाँ दृश्य और श्रव्य दोनों प्रकार के बिम्बों का समवेत चित्रण किया

है। उसकी शब्द-माधुरी तथा छन्द की लय भी उस समवेतता से मेल खा रही है। उक्त छन्दों को पढ़ते ही रासलीला का एक भव्य चित्र पाठक की कल्पना में अनायास उभर आता है।

साँवरे पिय संग.....चपला माला = वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार का उत्कृष्ट उदाहरण है। प्रति गोपिका के साथ नृत्य करते हुए कृष्ण ऐसे प्रतीत हो रहे हैं मानो एक-एक घनखण्ड के साथ एक विद्युत्माला लिपटी हो।

चंचल रूप लतनि.....विलुलित वेनी = जैसे लताओं के हिलने के साथ लतापुष्पों पर बैठे हुए भौंरे भी उनके साथ-साथ उड़ते दिखलायी पड़ते हैं, उसी प्रकार गोपिकाओं की वेणियाँ दिखलायी पड़ रही थीं (उत्प्रेक्षा अलंकार)। ग्रीव-ग्रीव = परस्पर गले में बाँहें डाल-डाल कर। सिला सलिल ह्वै चली = शिलाएँ द्रवीभूत हो उठीं (अत्युक्ति अलंकार)। पवन थक्यौ = पवन का संचार बन्द हो गया। थक्यौ उडुमण्डल सिगरो = सम्पूर्ण नक्षत्र-समूह ही शिथिल हो गया।

न जनी केतिक बाढ़ी = पता नहीं चला कितनी बढ़ गयी।

अति रति बाढ़ी = प्रेम का प्रवाह बहुत उमड़ा।

सुक सनकादिक.....अतिसय भावै = यह दिव्य रासलीला कामियों अथवा भोगियों को ही रुचिकर नहीं है, परम अवधूत शुकदेव तथा ब्रह्मलीन ऋषि सनकादिक और नारद को भी यह बहुत मनोरम लगती है।

बिनु अधिकारी भए.....बृन्दाबन सूझै = महारास लीला का तत्त्व जानने के लिए अधिकार (योग्यता) चाहिए, और यह अधिकार भगवत् कृपा से ही सुलभ होता है। अनधिकारी इस दिव्य लीला के रहस्य को नहीं समझ सकता। उसको उक्त प्रकार की क्रीड़ाएँ काम की अभिव्यक्तियाँ ही प्रतीत होंगी।

निपट निकट = अत्यन्त निकट। घट में=अन्तःकरण में। अन्तरजामी आही = अन्तर्यामी के रूप में भगवन्निवास है।

विषय·····पकरि सकहिं नहिं ताही = लौकिक विषयों के उपभोग से दूषित इन्द्रियाँ उसको नहीं पकड़ सकतीं। कोटि जतननि सों पाई = अनेक प्रकार की साधनाओं के पश्चात् उपलब्ध हुई है।

श्रवन-कीर्तन·····गहन गुनि = कवि इस महारास लीला के कीर्तन और श्रवण को वेदों का सार, भक्ति का सार तथा ज्ञान का सार मानता है।

अघ हरनी = पापों का विनाश करने वाली। प्रेम वितरनी = प्रेम का वितरण करने वाली।

●

गोस्वामी तुलसीदास

रामचरितमानस

रामचरितमानस गोस्वामी तुलसीदास की अमर कृति है। राम के रूप में उन्होंने महामानव की जो कल्पना की है वह अपनी गरिमा में अद्वितीय है। राम के लोकपावन चरित्र का आख्यान कवि ने अपने समय की प्रचलित सभी काव्य-शैलियों में किया है। चौपाई-दोहा-पद्धति में रामचरितमानस, गीति-पद्धति में गीतावली, कवित्त-सवैया-पद्धति में कवितावली तथा बरवै-पद्धति में बरवै रामायण की रचना की गयी है। किन्तु इन सबमें प्रमुख रामचरितमानस ही है, शेष ग्रन्थ तो रामचरित्र के मार्मिक प्रसंगों की स्फुट झाँकियाँ भर हैं।

वाल्मीकि रामायण के समान ही रामचरितमानस भी सात काण्डों में विभक्त है। बालकाण्ड में मंगलाचरण, स्तुतियाँ, हेतुकथन, राम के विभिन्न अवतारों के वर्णन के रूप में ग्रन्थ का उपक्रम करके, रामजन्म तथा राम के विवाह का विशद वर्णन किया गया है। इसी प्रकार उत्तरकाण्ड

में राज्याभिषेक एवं रामराज्य का वर्णन करके उपसंहार के रूप में काक-भुशुण्डि-गरुड़ के कथोपकथन में ज्ञान-भक्ति आदि की चर्चा की गयी है। शेष पाँच सोपानों में राम के चरित्र का उसी रूप में आख्यान किया गया है जिस प्रकार वाल्मीकि रामायण में। इन सब सोपानों में काव्य की दृष्टि से अयोध्याकाण्ड अधिक उत्कृष्ट बन पड़ा है। यह सोपान 'मानस' का हृदय है।

अयोध्याकाण्ड की प्रमुख घटना राम का वनवास है। दैवी प्रेरणा से मंथरा के हृदय में रामराज्याभिषेक के समाचार से ईर्ष्या उत्पन्न होती है, वह जाकर कैकेयी को उकसाती है। कैकेयी निष्ठुर होकर भरत का राज्याभिषेक तथा राम का चौदह वर्ष का वनवास दो वरदानों के रूप में माँगती है। राम के विरह में दशरथ की मृत्यु होती है। भरत राज्यभार स्वीकार न करके चित्रकूट में राम को अनुनय-विनय करके लौटाने को जाते हैं, किन्तु अन्त में राम की पादुका शिरोधार्य करके लौट आते हैं और नन्दिग्राम में तपस्वी वेश में रहकर राम के लौटने की प्रतीक्षा करते हैं। संक्षेप में अयोध्याकाण्ड का कथानक वही है जो वाल्मीकि के अयोध्या-काण्ड का है, किन्तु मानस के पात्र रामायण के पात्र से पृथक् और स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हैं। उनमें जो संयम, धैर्य, विनय और प्रीत्याधिक्य है वह रामायण के पात्रों में नहीं।

तुलसी ने राम के रूप में यदि महामानव की कल्पना की है तो भरत, लक्ष्मण और सीता का चरित्र भी अपनी गरिमा में अनुपम चित्रित किया गया है। इन मुख्य पात्रों के अतिरिक्त सुमन्त, गुह, केवट, कोल-किरात, मगवासी नर-नारी जैसे गौण पात्रों की जिस भव्य झाँकी का आयोजन तुल्सी ने किया है वह किसी भी राम-काव्य में नहीं मिलता। आदर्श सामाजिक सम्बन्ध, मर्यादा और शिष्टता का जितना सुन्दर चित्रण तुलसी के द्वारा बन पड़ा है वह भी अन्यत्र दुर्लभ है। सम्पूर्ण सोपान में चित्रकूट के राजदरबारों की झाँकी तो इतनी परिपूर्ण है कि भारतीय संस्कृति का उससे

अधिक उत्कृष्ट रूप कहीं अन्यत्र मिल सकेगा, इसमें संदेह है। चित्रकूट के प्रकाश-केन्द्र राम नहीं भरत हैं। कवि ने विभिन्न युक्तियों के द्वारा भरत पर ही प्रकाश डाला है। भरत के चरित्र का अनुशीलन तो 'मानस' पढ़कर ही किया जा सकता है, समीक्षक की लेखनी उस परम निर्मल, विनीत, त्यागी, राम के चरणों के अनन्य अनुरागी भरत के चरित्र को अभिव्यक्त करने में सर्वथा असमर्थ हैं।

शृंगवेरपुर प्रसंग

शृंगवेरपुर प्रसंग में तीन झाँकियाँ हैं। पहली निषादराज गुह की, दूसरी सचिव सुमन्त की और तीसरी केवट की। गुह का राम से पूर्व परिचय है। अपनी राजधानी शृंगवेरपुर में राजकुमार राम-लक्ष्मण और राजवधू सीता का आगमन सुनकर हर्ष से वह फूला नहीं समाता, किन्तु जैसे ही उसे वस्तुस्थिति का पूरा परिचय होता है, वह अवाक् रह जाता है। राम के अशन (भोजन) और शयन का प्रबन्ध उदासी वृत्ति धारण करने वाले साधक के अनुकूल करके, चारों ओर प्रहरी नियुक्त करके वह स्वयं लक्ष्मण के पास बैठ कर रात भर पहरा देता है। राम और सीता को पत्तों की शैया पर शयन करते हुए देखकर वह विषादमग्न हो जाता है। इस विषाद का शमन करने के व्याज से कवि लक्ष्मण के मुख से कुछ पारमार्थिक उपदेश दिलाता है। इस उपदेश को गीता का लघु रूप मानकर 'लक्ष्मण-गीता' कहा जाता है। तुलसी की दार्शनिक विचार-धारा को समझने के लिए यह प्रसंग बहुत उपयोगी है। लक्ष्मणजी प्रारम्भ में कुछ ऐसी बातें कहते हैं जो अद्वैत वेदान्त का समर्थन करती हैं। अद्वैत वेदान्त की चिन्ता का मुख्य केन्द्र एक अद्वैत अव्यक्त सत्ता है जिसे ब्रह्म कहा गया है और उसकी प्राप्ति का एक मात्र उपाय आत्मचिन्तन है। किन्तु तुलसी के लिए राम ही परम तत्त्व हैं और उनके चरणों में रत होना ही जीवन का परम पुरुषार्थ है। इस प्रकार कवि ने ज्ञान का अवसान राम की भक्ति में किया है।

सचिव सुमन्त की एक झाँकी तो प्रस्तुत प्रसंग में है। यह बहुत करुण

है। किन्तु सुमन्त के विषाद, पश्चात्ताप और ग्लानि की सीमा इस झाँकी में नहीं है। गुह जब तक राम : मुना पार पहुँचाकर नहीं लौटता, सुमन्त आशा के विपरीत आशा लगाए हुए शृंगवेरपुर में ठहरा रहता है। गुह जब राम को यमुना पार तक पहुँचा कर लौटता है और सुमन्त को वापस अयोध्या जाना पड़ता है तो उसे मर्मान्तक वेदना होती है। सुमन्त की इस वापसी का दृश्य करुणा की चरम सीमा है। कवि ने सुमन्त की मनोदशा के साथ जो न्याय किया है वह अन्य किसी भी राम-काव्य में उपलब्ध नहीं है। इसी प्रसंग में कवि ने सीता के माध्यम से भारतीय पतिपरायणा नारी का जो आदर्श प्रस्तुत किया है वह अपनी गरिमा में अद्वितीय है।

केवट का प्रसंग तो अपनी चारुता में अनन्य है। अहल्या-उद्धार के अनुसरणपूर्वक राम से चरण-प्रक्षालन की आज्ञा वह जिस युक्ति से माँगता है, उसकी सहज विनोदशीलता, जो अक्खड़ता और अनगढ़ता से संपृक्त होकर और रुचिर बन गयी है, सुमन्त की बिदाई में उत्पन्न होने वाली उदासी को हास-परिहासपूर्ण वातावरण में परिवर्तित करने में पूर्ण सफल है। क्षणभर पहले सुमन्त के साथ वार्तालाप करने की गम्भीरता केवट के सामने आते ही धुल जाती है। केवट कुछ ऐसी धातु का बना हुआ है कि झुकना जानता ही नहीं। वह यदि नाव पर चढ़ायेगा तो चरण-प्रक्षालन करके ही, रामाज्ञा की अवहेलना करने के गुरुतम अपराध के कारण लक्ष्मण चाहे भले ही उसका वध कर दें। इसी प्रकार उतराई यदि नहीं लेगा तो नहीं ही लेगा। फिर चाहे उसे उतराई में सीता की मणिजटित अँगूठी ही क्यों न मिले और उसको लेने का अनुरोध चाहे सीता, राम तथा लक्ष्मण बहुत बार क्यों न करें, हम उसे एक नम्बर का हठी कह सकते हैं। किन्तु इस हठीले के हठ का परिणाम भी देखिये कि राम अपनी ओर से निज भक्ति का विमल वर देकर विदा करते हैं। यह सौभाग्य रामायण के किसी अन्य पात्र को सुलभ नहीं हो सका है, स्वयं हनुमान को भी नहीं। तुलसी की जनवादी जीवन-दृष्टि का केवट जीता-जागता प्रमाण है।

भाथी = तरकस, तूणीर। पटतर = समान। चौवारे = चतुर्द्वार (ब्र० व०) दीर्घ कक्ष जिसमें चार द्वार होते हैं। जनु रतिपति निज हाथ सँवारे = शयन-कक्ष इतने सज्जित थे कि उन्हें देखकर लगता था कि स्वयं कामदेव ने मानो उनकी साज-सज्जा की हो। (उत्प्रेक्षा अलंकार)। सौन्दर्य की अभिव्यंजना में कामदेव का उल्लेख कर देना कवि की एक शैली है। उपधान = (सं०) सहारा लेने का तोषक जैसा उपकरण। तुराई = (सं० तूलिका) रुई भरा हुआ कोमल बिछावन। छीर फेन मृदु = क्षीर के झाग के समान श्वेत और कोमल। निज छवि ......मदु हरहीं = (व्यतिरेक अलंकार) अपनी छवि के द्वारा रति और कामदेव को लज्जित करते हैं। साँथरी = (सं० संस्तर) कुश और कोमल पत्तों का बिछावन। तुलनीय —

> शयानं कुश पत्रौघ संस्तरे सीतया सह।
> यः शेते स्वर्णपर्यङ्के स्वास्तीर्णे भवनोत्तमे ॥ (२।८।१)

जोगवहिं = देखभाल करते हैं। सुरेस सखा = इन्द्र के मित्र। दशरथ-जी ने इन्द्र के आमंत्रण पर अनेक बार देवासुर-संग्राम में इन्द्र का साथ दिया था।

बिधि बाम न केही = विधाता किसके प्रतिकूल नहीं हुआ करता।

करम प्रधान सत्य कह लोगू = निषादराज राम-सीता को साँथरी पर शयन करते हुए देखकर भावविह्वल हो जाते हैं। उन्होंने कर्मवाद या विधि-वाद के विषय में जो सुन रखा है, उसी को भावावेश में दुहराते हैं। पहले उन्होंने अनुमान किया कि राम-सीता को उदासी जीवन के कष्ट विधाता की प्रतिकूलता के द्वारा मिल रहे हैं। अब सोचते हैं कि मनुष्य के जीवन में कर्म ही प्रधान है अतः इस परिवर्तन का कारण वस्तुतः पूर्वजन्म के संचित कर्म ही हैं। कर्म को दोष देने के पश्चात् गुह कैकेयी को दोषी ठहराने लगता है। गुह की इस सरलता को लक्ष्य करके ही लक्ष्मण उसे तत्व का

उपदेश देते हैं। वे भाग्यवाद और कर्मवाद को समझाते हैं, ज्ञान और वैराग्य की चर्चा करते हैं तथा अन्त में राम की भक्ति का उपदेश देते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि ज्ञान, वैराग्य और भक्ति का प्रतिपादन करने के लिए कवि ने उपयुक्त पीठिका तैयार कर ली है।

कथानक के विस्तार की दृष्टि से यह भी सोचा जा सकता है कि गुह के साथ रात्रि व्यतीत करते हुए लक्ष्मण को कुछ तो वार्तालाप करना ही है, अतः वे अयोध्या के पारिवारिक झगड़े पर बातचीत न करके वार्तालाप को एक नया मोड़ दे देते हैं।

[३]

कुटारी = कुल्हाड़ी, रघुकुल पर वृक्ष का आरोप करके कैकेयी के ऊपर कुल्हाड़ी के आरोप में परम्परित रूपक अलंकार है। भल-मंदा = भला-बुरा (मुहा०)। हित-अनहित-मध्यम = मित्र-शत्रु-उदासीन, तुलनीय—शत्रु मित्र मध्यस्थ तीन ये मन कीन्हें बरियायीं। त्यागब गहब उपेक्षनीय अहि हाटक तृन की नाईं॥ (विनयपत्रिका)। भ्रम फंदा = माया अथवा अज्ञानकृत बन्धन। गुनिअ = विचार किया जाय। मोह मूल परमारथु नाहीं = पूर्वकथित सभी बातें अज्ञानजन्य हैं, मन-प्रकल्पित है, उनकी सत्ता व्यावहारिक है, परमार्थ बोध होने पर इनमें से किसी का अस्तित्व नहीं है। नाकपति = स्वर्ग का स्वामी।

प्रपंचु जियँ जोइ = जगत् के व्यवहार को हृदय में विचार करो। लक्ष्मण के शब्दों में कवि ने यहाँ तक अद्वैत वेदान्त का आख्यान किया है। वेदान्त ब्रह्म की एकमात्र सत्ता को पारमार्थिक सत्य मानता है, जगत् को माया का प्रपंच मानता है और जीव तथा ब्रह्म में अभेद मानता है। जगत् की सत्ता को असत्य सिद्ध करने के लिए वेदान्ती स्वप्नावस्था का दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार स्वप्न के संसार का जाग्रदवस्था में अवसान हो जाता है, उसी प्रकार आत्मसाक्षात्कार अथवा तुरीयावस्था में नामरूपात्मक जगत् जिसमें 'जोग-बियोग' से लेकर 'सरगु-नरकु' तक सभी बातें सम्मिलित हैं, का तिरोधान हो जाता है।

[४]

मोह निसा सबु सोवनिहारा = अज्ञानरूपी निद्रा में सब सोने वाले हैं। यथा गीता—या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्य जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ (२।६९)

परमारथी = तत्त्ववेत्ता। प्रपंच वियोगी = पाँच तत्त्व अथवा पाँच विषयों से युक्त जगत् प्रपंच, उससे विमुख। विषयविलास = विषय-तृष्णा। अविगत = अतिशय भिन्न, मन आदि ज्ञानेन्द्रियों के लिए अव्यक्त। अलख = अलक्ष्य, अव्यक्त।

[५]

भिनुसारा = उषाकाल, ब्रह्ममुहूर्त। सुखदारा = आनन्द प्रदान करने वाले। सौच = शौच। दाहु = दाह, पीड़ा। अन्हवाई = स्नान कराके। आनेहु फेरि = वापस ले आना। निबेरी = निवृत्त करके, दूर करके। गोसाईं = स्वामी। बलि = आपकी बलिहारी हूँ।

[६]

सिबि = राजा शिवि, राजर्षि शिवि ने इन्द्र द्वारा परीक्षा लिये जाने पर शरणागत कबूतर की प्राणरक्षा के लिए अपने शरीर का मांस काट-काट कर तुला पर चढ़ाया था।

दधीचि = महर्षि दधीचि, इन्होंने याचना किये जाने पर अपने शरीर की हड्डियों का इन्द्र को दान किया था। हरिचन्द = सत्यवादी हरिश्चन्द्र। रंतिदेव = रन्तिदेव पुरुवंशी राजा थे। इन्होंने आकाशवृत्ति स्वीकार कर रखी थी। एक बार उनको अड़तालीस दिन तक कोई आहार नहीं मिला। उनचासवें दिन उन्हें जब आहार मिला तो एक शूद्र अपने कुत्तों को लेकर राजा के पास आया और उनके लिए आहार की याचना की। सम्पूर्ण भूतों में परमेश्वर की सत्ता को देखनेवाले रन्तिदेव ने कुत्तों और कुत्तों के स्वामी को नमस्कार किया और अपना सम्पूर्ण आहार उन्हें दे दिया। वे केवल जल

पीकर तृषा शान्त करना चाहते थे कि एक चाण्डाल आया और आर्तवाणी में राजा से जल की याचना की। राजा ने दयार्द्र होकर वह जल भी उस चाण्डाल को दे दिया। उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की "न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा। आर्त्ति प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तः-स्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥" (भागवत ९।२१।१२) अर्थात्—"मैं भगवान् से अष्टसिद्धियों से युक्त परमगति नहीं चाहता। मैं मोक्ष भी नहीं चाहता। मैं केवल यही चाहता हूँ कि सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित हो जाऊँ और उनका सारा दुःख मैं ही सहन करूँ, जिससे किसी भी प्राणी को दुःख न हो।"

आगम = शास्त्र। निगम = वेद। तिहूँ पुर = तीनों ही लोकों में। संभावित = प्रतिष्ठित। अपजस लाहू = अपयश मिलना। संभावित ''दारुन दाहू = यथा गीता—संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥२।३४॥ पातक लहहूँ = पाप का भागी बनूँगा। कोटि नति = कोटिशः नमस्कार। करब = करना। कवनिहु बात कै = किसी भी बात की।

[७]

करतव्य तुम्हारें = तुम्हारे लिए करना उचित है। बरजे = वर्जित किये। भूप सँदेसू = राजा दशरथ का संदेश। करनीया = करना चाहिए। नतरु = नहीं तो। निपट = पूर्णतः। सुखेन = सुखपूर्वक। बिहान = सवेरा।

[८]

आरति = आर्ति, दुःख, पीड़ा। खभारू = खलबली। छाँह = छाया। छूँकी = पृथक्। सनमुख भइउँ = सनमुख होना एक मुहावरा, प्रत्युत्तर दे रही हूँ। आरजसुत = आर्यसुत, आर्यपुत्र, आदरसूचक सम्बोधन। बादि = व्यर्थ। नात = नाते, सम्बन्ध।

[९]

मैं डीठा = मया दृष्ट, मैंने देखा है। मन भाव न भोरें = भूल कर भी

मन को भाता नहीं। चक्कवइ = (प्रा०) चक्रवर्ती। आगे होइ = आगे आकर। एतादृस = एतादृश, ऐसा। कोउ = कोई भी। मोरि हुँति = मेरी ओर से। सुभायँ = स्वभाव से, अनायास।

[१०]

मगस्रमु = मार्ग का श्रम। जनु फनि मनि हानी = जिस प्रकार मणि की हानि पर फणि, सर्प, (उत्प्रेक्षा)। अति अकुलाना = अत्यन्त व्याकुल हुआ, नेत्रों से दिखलाई न देना, कानों से सुन न सकना, व्याकुलता की चरम सीमा है। होति नहिं सीतलि छाती = मुहावरा, तब भी मन को परितोष नहीं होता। जतन = यत्न। मेटि जाइ नहिं राम रजाई = राम की राजाज्ञा मेटी नहीं जा सकती, उसका पालन करना ही पड़ता है। कठिन करम गति = भाग्य अथवा कर्मफल का परिणाम अवश्यंभावी है। न बसाई = वश नहीं चलता। फिरेउ बनिक जिमि मूर गँवाई = जैसे वाणिज्य यात्रा पर गया हुआ कोई व्यापारी अपना मूलधन भी गँवा कर लौटे, (उत्प्रेक्षा)। धुनहिं सीस = सीस धुनना एक मुहावरा है. पश्चात्ताप करते हैं।

[११]

जीइहहिं कैसे = किस प्रकार जीवित रहेंगे। मरमु मैं जाना = तुम्हारा गुप्त रहस्य मैं जानता हूँ। मानुष करनि मूरि = ऐसी जड़ी-बूटी जिसके स्पर्श से मनुष्य निर्मित होते हैं। तरनिउ = तरिणी भी। मुनि घरिनी = मुनि गृहिणी। बाट परइ = (ग्रामीण मुहावरा) रोजी मारी जायगी, आजीविका का साधन नष्ट हो जायगा। कछु अउर कबारू = कुछ और कारोबार नहीं जानता। पार गा चहहू = पार जाना चाहते हो। पखारन = प्रक्षालन, धोना। उतराई = नदी पार करने की मजदूरी। राउरि आन = आपकी मर्यादा की शपथ है। बरु = भले ही।

[१२]

केवटहि निहोरा = केवट से अनुनय की। जेहिं जगु·· ··थोरा =

जिसने सम्पूर्ण विश्व को अपने तीन पगों में नाप लिया था फिर भी थोड़ा पड़ा था। वामनावतार का संकेत है। पदनख निरखि = राम के चरणों के नखों का दर्शन करके। करषी = आकृष्ट हुई। देवनदी राम के अनुनय भरे शब्द सुनकर मोह के वशीभूत हो गयी थी। गंगा राम को प्राकृत राजकुमार मानने लगी थीं; किन्तु जैसे ही उनके पद-नखों के दर्शन किये वैसे ही पुलकित हो गयीं। गंगा की उत्पत्ति विष्णु के चरण-प्रक्षालन से हुई है। रजायसु = राजाज्ञा। कठवता = काठ का बना हुआ पात्र। सिहाहीं = लाचार होकर प्रशंसा करते हैं। पितर पारु करि = राम के चरणोदक से पितृगण का तर्पण कर उनका उद्धार किया।

[१३]

पिय हिय······जाननिहारी = सीताजी ने अपने पति के हृदय की बात भाँप ली, उनके संकोच को वे मुखमुद्रा से समझ गयीं। लेहि उत-राई = पार उतारने की मजदूरी लो। बनि भलि-भूरि = आज भरपूर मजदूरी मिली है, 'बनि' मजदूरी के लिए लोकप्रयोग है। जो देबा = जो, कुछ दिया जायगा। सिर धरि लेबा = शिरोधार्य करूँगा। बहुत कीन्ह = बहुत कहा-सुना, काफी अनुरोध किया।

मगवासीजन भेंट

मगवासीजन समाज की भेंट का आयोजन कवि की मौलिक कल्पना है। वाल्मीकि रामायण में यह प्रसंग नहीं है। वन-मार्ग में छोटे-छोटे जनपद बसे हुए हैं। वे राम के आगमन का समाचार सुनते ही उमड़ पड़ते हैं। प्रत्येक जनपद राम के आगमन पर उत्सव मनाने लगता है। राम-लक्ष्मण-सीता के शील और सौन्दर्य का साक्षात्कार कर भोले-भाले जनपदीय लोग आनन्द-मग्न हो जाते हैं। कथानक की दृष्टि से यह प्रसंग मनोरम है। सात्विक शील का सामान्य जनता पर कितना मोहक प्रभाव पड़ता है, इस तथ्य का आभास हमें इस प्रसंग में मिलता है। भक्ति की दृष्टि से भी यह प्रसंग

महत्त्वपूर्ण है। ब्रह्म की जिस सत्ता की एक झलक पाने के लिए योगी और ज्ञानी नानाप्रकार की साधनाएँ करते हैं, मगवासीजन अपने मानवीय अनुराग के द्वारा उसका प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं।

मगवासियों के आयोजन ने वनगमन की दुःखद घटना को एक सुखद उत्सव में परिणत कर दिया गया है। सहज मानवीय अनुराग का इस प्रसंग में बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है।

[१]

बय बिरिध = वयोवृद्ध। करि जुगुति = युक्तिपूर्वक। तेहि अवसरु एकु तापसु आवा = गोस्वामीजी ने इस तपस्वी का परिचय नहीं दिया, अन्य किसी रामायण में भी इसके समकक्ष कोई प्रसंग या पात्र नहीं है। यह तापस वनवासियों के बीच में अकस्मात् आ टपकता है। कुछ रामायण के समीक्षकों ने तापस प्रसंग को प्रक्षिप्त माना है। किन्तु इसकी शैली इतनी प्रौढ़ है कि यह प्रसंग स्वयं कवि का लिखा ही प्रतीत होता है। कुछ अन्य समीक्षक इसे स्वयं कवि द्वारा बाद में जोड़ा हुआ मानते हैं। उनका अनुमान है, गंगा पार करके राम जिस भूभाग की यात्रा कर रहे हैं वही कवि का जन्मस्थान है, अतः उसने एक पात्र के रूप में अपने घर के समीप अपने इष्टदेव के प्रति आत्मनिवेदन किया है।

[२]

परम रंक जनु पारसु पावा = मानो अत्यन्त दरिद्र को स्पर्शमणि मिल गयी हो। (उत्प्रेक्षा)। पिअत नयन······रूप पीयूषा = राम की अनुपम रूपमाधुरी का पान नेत्ररूपी पुटों में भरकर कर रहा है। मुदित सुअसनु ······भूखा = जैसे भूखे को स्वादिष्ट भोजन मिल गया हो। (उत्प्रेक्षा)।

[३]

राजलखन = राज-लक्षण, सामुद्रिक शास्त्र में वर्णित राजा के लक्षण। जाइ न जोई = देखा नहीं जाता, वन में इतनी भयंकरता है कि यात्रा करना तो दूर, देखने तक में भय लगता है।

[४-५]

मानति भूमि भूरि निज भागा=भूमि अपने को भाग्यवान् मानती है। बिबुध गन=देवगण। पाइ नयन फलु=नेत्र मिलने का फल राम-लक्ष्मण-सीता जैसी मूर्तियों का दर्शन पाना है। बोलि सिख देहीं=बुला-बुला कर कहती हैं। डासि=बिछाकर। गवाँइय छिनकु श्रमु=क्षण भर विश्राम लेकर थकावट दूर कर लीजिए।

[६]

अँचइअ—आचमन कीजिए, पीजिए। घरिक=घड़ी भर। बिलंबु कीन्ह=विश्राम किया। भावते जी के=हृदय को अच्छे लगनेवाले, मन-भावन। सरद परब बिधु बदन=शरद पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख (उपमा)।

[७]

मनहुँ मृगी मृग देखि दिआ से=मानो दीपक के प्रकाश को देख कर हरिण और हरिणी (उत्प्रेक्षा)। ग्राम तिअ=ग्रामीण स्त्रियाँ। लागति पाएँ=चरण पकड़ती हैं। तिय सुभाएँ=नारी सुलभ कुतूहल के कारण। छमबि=क्षमा की जाएँ। बिलगु न मानबि=बुरा न मानिए। इन्ह तें लही दुति मरकत सोने=गहरे हरे रंग की मरकत मणि तथा स्वर्ण ने मानो इन्हीं से कान्ति ग्रहण की है। स्वर्णवर्ण लक्ष्मण हैं तथा राम का वर्ण नीलमणि के समान है। सरद सर्बरीनाथ मुख=मुख शरत्कालीन शर्वरी-नाथ चन्द्र के समान है (उपमा)।

[८]

लजावनिहारे=लज्जित करनेवाले, (व्यतिरेक अलंकार)। को आहिं तुम्हारे=तुम्हारे कौन हैं, इनसे तुम्हारा क्या रिश्ता है। दुहुँ सकोच सकुचति=दोनों संकोचों से सकुचा गयीं। पति का सम्बन्ध बतलाने का संकोच प्रत्येक कुलवधू को होता है। दूसरा संकोच यह है कि ग्रामवासिनी

भोली-भाली स्नेहशील नारियों को उनके प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जाता तो उनका मन भंग होगा। सयननि=इशारे से, नेत्रों को तिरछा करके पति की ओर देख कर लजा जाने से मानो पति-पत्नी के सम्बन्ध की अभिव्यक्ति हो गयी। रंकन्ह राय रासि जनु लूटी=मानो कंगालों ने राजा का खजाना लूट लिया हो। सोहागिनि=सौभाग्यवती।

[९-१०]

छोहू=स्नेह। जनु कुमुदिनी कौमुदी पोषी=मानो कौमुदी अर्थात् चन्द्रिका ने कुमुदिनी को संपोषित किया हो। (उत्प्रेक्षा)। दैअहिं= दैव को। बादि=व्यर्थ ही। डासि=बिछाकर। जटिल=जटाजूट धारण किये हुए।

[११-१२]

पटतर=बराबरी। गहबरि हृदय=गद्‌गद होकर। कर मीजहिं= हाथ मलते हैं, मुहावरा, विवशता दिखाते हैं।

[१३-१४]

भानुकुल कैरव चन्दू=सूर्यवंशरूपी कैरव के लिए चन्द्रमा, (परम्परित रूपक) ठाँऊ=स्थान। बराएँ=बचाकर।

चित्रकूट-मिलन

चित्रकूट में भरत और राम का मिलाप रामचरितमानस की अद्वितीय घटना है। अद्वितीय इस अर्थ में नहीं कि वह मौलिक है। प्रत्येक रामायण में भरत राम को मनाने चित्रकूट पहुँचते हैं। प्रत्येक रामायण में वे चित्रकूट से एक प्रकार से संतुष्ट होकर राम की पादुका लेकर लौट जाते हैं। किन्तु, तुलसी के मानस में भरत का जो पुनर्निर्माण हुआ है वह अपनी भव्यता में अद्वितीय है। विश्व के श्रेष्ठतम काव्य-ग्रन्थों में भरत के समान अनुरागी तथा परम विवेकी, सरल, सुहृदय, विनीत और साधु-चरित्र

कदाचित् ही देखने को मिल सके। तुलसी की मानवीय संवेदना ने उनके कवि और भक्त रूप से मिलकर भरत के एक ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण किया है जो अपनी महिमा में अपने ही समान है। चित्रकूट के छोटे-से समाज का कवि ने विस्तार किया है। उसमें भाग लेने वाले पात्रों में केवल अयोध्या का ही राजपरिवार और प्रजा नहीं है, अपितु सृष्टि के सम्पूर्ण जड़ और चेतन तत्त्व उसमें सम्मिलित होते हैं। आकाश के सम्पूर्ण देवगण यहाँ निरंतर उपस्थित रहते हैं। वन के कोल-किरात, पशु-पक्षी, लता-विटप इस महामिलन में परिचारक का कार्य करते हैं। सिद्ध-साधक, ऋषि-मुनि, ज्ञानी-योगी सभी चित्रकूट के मिलन में सम्मिलित होते हैं और सम्मिलित होकर भरत के चरित्र की भव्यता का निर्माण करते हैं। यहाँ भावना और कर्तव्य में टकराहट होती है, स्वार्थ और परमार्थ एक-दूसरे का विरोध करते हुए दिखलायी पड़ते हैं, पितृभक्ति और भ्रातृ-प्रेम एक-दूसरे के आमने-सामने खड़े होते हैं, प्रतिज्ञा-पालन और स्नेह की रक्षा धर्म की एक गहनतम गुत्थी के रूप में समुपस्थित होती है और इन परस्पर विरोधी भावों की टकराहट से एक ऐसी दिव्यज्योति फूटती है जिसके प्रकाश में प्रत्येक पक्ष विजयी होता है और पराजित कोई नहीं होता। अथवा इस प्रकार कहना चाहिए कि भावना कर्त्तव्य से टकराकर उसे और चारुता प्रदान करती है। स्वार्थ-परमार्थ में इस प्रकार अन्तर्भुक्त हो जाता है कि दोनों में भेद करना कठिन हो जाता है।

इसी प्रकार यह कहना कठिन है कि पितृभक्ति भ्रातृप्रेम को विजित करती है अथवा भ्रातृप्रेम पितृभक्ति को। रामायण के मूल कथानक में किसी भी प्रकार का परिवर्तन किये बिना इन सबका सफल निर्वाह करना तुलसी के लिए ही सम्भव था। तुलसी को राम और भरत जैसे पात्र मिले जिनके माध्यम से वे मानव-जीवन के मान और मूल्य एवं सघनतम अनुभूतियों का आख्यान कर सके यह कवि के लिए सौभाग्य की बात है। किन्तु चित्रकूट के इस मिलन को तुलसी जैसा भावुक कवि मिल सका, हिन्दी जनता के लिए यह कम सौभाग्य की बात नहीं है।

प्रस्तुत प्रसंग चित्रकूट की प्रथम राजसभा से प्रारम्भ होता है। राम की उपस्थिति में सभा का आयोजन करने के पूर्व गुरु वशिष्ठ अयोध्या-वासियों की एक सभा स्वयं बुला लेते हैं। उस सभा में इस बात पर विचार किया जाता है कि राम के सम्मुख किस रूप में कौन-सा प्रस्ताव रखा जाय। संसार जानता है कि राम सत्यसंध हैं, धर्म पर आरूढ़ हैं। संसार यह भी जानता है कि विश्व की कोई शक्ति राम की आज्ञा का उल्लंघन करने में समर्थ नहीं है। अतः राम के सम्मुख कोई ऐसा प्रस्ताव रखना चाहिए जिससे अयोध्यावासियों का भला भी हो जाय, साथ ही राम के चित्त में किसी प्रकार का उद्वेग न हो। वशिष्ठजी इस भूमिका के साथ सभासदों से पूछते हैं कि बतलाइए क्या उपाय किया जाय।

गुरु वशिष्ठ के प्रस्ताव को सुनकर सभासद मौन रह जाते हैं, किन्तु भरतजी विह्वल होकर विनय करते हैं कि आपकी इच्छा का उल्लंघन करना विधाता के लिए भी असम्भव है, अतः ऐसे दुर्भाग्य के क्षणों में आपका हम बालकों से उपाय पूछना सचमुच दुर्भाग्य की ही निशानी है।

वशिष्ठजी अत्यन्त संकोच के साथ यह प्रस्ताव करते है कि यदि राम-लक्ष्मण के स्थान पर तुम दोनों भाई वन को जा सको तो कदाचित् राम-लक्ष्मण और सीता को अयोध्या वापस लौटने को राजी किया जा सकता है। वशिष्ठजी के इस प्रस्ताव को सुन कर दोनों भाइयों के चेहरे खिल जाते हैं, शरीर कान्ति से भर जाता है। भरतजी आजीवन वन में रहने के लिए सहर्ष प्रस्तुत हो जाते हैं। वे गुरुजी से निवेदन करते हैं, "यदि आप इस प्रस्ताव को कार्यरूप में परिणत कर सकें, तो मानो मुझे अपने जीवन का सर्वस्व मिल जायगा।" इस पूर्व तैयारी के साथ वशिष्ठजी ससमाज राम के आश्रम पर जाते हैं।

राम के समक्ष आकर वशिष्ठजी राम से अनुरोध करते हैं—"पुरजन जननी भरत हित होइ सो करिय उपाउ।" और राम बड़े सहज भाव से वशिष्ठजी को उत्तर देते हैं—"नाथ तुम्हारेहिं हाथ उपाऊ।" तथा—

"प्रथम जो आयसु मो कहुँ होई। माथें मानि करहुँ सिख सोई।"
वशिष्ठजी इसका सीधा उत्तर देने की स्थिति में अपने-आप को नहीं पाते। बस, इतना कहते हैं—

मोरे जान भरत रुचि राखी। जो कीजिअ सो सुभ सिव साखी॥

उनका अनुरोध है—'भरत बिनय सादर सुनिय करिय बिचारु बहोरि।' इसी बात का उत्तर राम प्रस्तुत प्रसंग में दे रहे हैं।

[१-२]

धरमधुरंधर = धर्मरूपी रथ की धुरी को धारण करने वाले, धर्मात्मा। लोकहुँ = लोक में भी। रहे अरगाई = चुप हो गये। राम रुख पाई = राम की इच्छा जानकर। अघाई = पर्याप्त। छरुभारु = कार्यभार, उत्तर-दायित्व। नेह जल बाढ़े = स्नेहातिरेक से आँसू निकलने लगे। निबाहा = निर्वाह किया। कोह न काऊ = कभी भी क्रोध नहीं किया। खुनिस = त्रुटि। जियँ जोही = हृदय में अनुभव की है। महूँ = मैंने भी। दरसन तृपित न = दर्शन से संतृप्त नहीं है।

[३]

बीचु पारा = अन्तर डाला, व्यवधान डाला। जननी मिस = जननी के व्याज से। यहउ = यह भी। को भा = कौन हुआ है। मंदि = दुष्टा। कुचाली = दुष्टता। कोदव = एक प्रकार का अन्न जिसे निकृष्ट समझकर यज्ञ में प्रयुक्त नहीं किया जाता। सुसाली = श्रेष्ठ धान। संबुक काली = घोंघे द्वारा निर्मित काली सीपी। दोसक लेसु = दोष का लेशमात्र भी। अवगाहू = अगाध है। अघ परिपाकू = पापों का परिपाक, जारिउँ = जलाया, व्यथित किया। जायँ = व्यर्थ ही। काकू = व्यंग्योक्तियाँ। काकु कण्ठध्वनि को कहते हैं, जिस समय ऐसे लहजे में कोई बात कही जाय कि वह वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ व्यक्त करे, वहाँ काकु वक्रोक्ति अलंकार माना जाता है। हृदयँ हेरि = मन में विचार कर। हारेउँ सब ओरा = चारों

ओर से निराश हो गया। भलेहिं = भले ही। सतिभाउ = सच्चे हृदय से। झूठ फुर = झूठ अथवा सच।

[४]

साखी = साक्षी। दुसह जर = दुःसह ज्वर, असह्य वेदना। महीं = मैं ही। सहिउँ = सहन किया। बिन पानहिन्ह = पादुकाओं के बिना। रहेउँ येहि घाएँ = यह घाव सह कर भी जीवित रहा। उर भयउ न बेहू = हृदय विदीर्ण न हुआ। सहाई = सहन करायेगा। तामस तीछीं = तमगुणी योनि में उत्पन्न होने के कारण स्वभाव की तीक्ष्ण।

[५]

खभारू = खलबली। मनहुँ कमल बन परेउ तुषारू = आत्मग्लानि से भरे हुए भरत के उद्गारों को सुन कर सम्पूर्ण सभा ऐसी निस्तब्ध हुई मानो कमल वन पर पाला पड़ गया हो, (उत्प्रेक्षा)। तिभुवन = त्रिभुवन। पुन्यसिलोक = पुण्यश्लोक। तर तोरें = तुमसे नीचे हैं। पुन्यसिलोक तात तर तोरें = जितने भी पुण्यात्मा पुरुष हैं उनमें से कोई भी तुम्हारी बराबरी नहीं कर सकता।

[६–७]

बिलोकि पराहीं = देखते ही भाग जाते हैं। चाहत होन अकाजू = काम बिगड़ना चाहता है। भगत भगति बस अहहीं = भक्त के प्रेम के वशीभूत हैं। अंबरीष-दुरवासा = परम भक्त राजा अम्बरीष और परम क्रोधी दुर्वासा ऋषि का कथानक सुप्रसिद्ध है। भगवान् ने सुदर्शन चक्र के द्वारा दुर्वासा को आतंकित करके उन्हें अंबरीष से क्षमा-याचना करने के लिए बाध्य किया। नरहरि प्रकट किए प्रहलादा = प्रह्लाद की भक्ति ने भगवान् को नृसिंहावतार लेने को विवश किया। यह कथा भी प्रसिद्ध है। लगि लगि कान कहहिं = कानाफूसी करने लगे। धुनि माथा = माथा ठोकना विवशता एवं विषाद का सूचक है। न देखिअ = दिखलायी न पड़ा। राम बस करतहिं = राम को स्ववश करनेवाले।

११

[८]

सय = सौं। मन थिर करहु = मन को स्थिर करो। मन दीन्ही टीका = मन में निश्चय किया। आपन नीका = अपना कल्याण है। पनु = प्रण। छोहु = प्यार। जोरि जलज जुग हाथ = कमल के समान हाथों को जोड़कर।

[९]

अन्तरजामी = अन्तर्यामी, हृदय में निवास करनेवाले। मन कलपित = मन के द्वारा प्रकल्पित। अपडर = मिथ्या भय, जैसे रस्सी को साँप समझकर डर जाना। न सोच समूलें = सोच का मूल ही नहीं था, अभिप्राय यह है कि मेरे मलिन मन ने यह मिथ्या कल्पना कर ली थी कि स्वामी मुझ से विमुख हो गये हैं। वस्तुतः यह शंका निर्मूल थी। पाउँ रोपि = प्रतिज्ञासूचक मुहावरा, अभाग्य, माता की दुष्टता, विधाता की प्रतिकूलता, समय की करालता ने एकत्र होकर तथा नष्ट करने का प्रण करके मेरे ऊपर आक्रमण किया था। घाला = नष्ट करना चाहा। पन = प्रण। राउरि = रावरी, आपकी। गोई = छिपी। जगु अनभल = संसार अहितकर है। कासु भलाई = किसकी भलाई से। देवतरु = कल्पवृक्ष। सनमुख बिमुख = अनुकूल-प्रतिकूल। छाँह समनि सब सोच = छाया सम्पूर्ण चिन्ता को शान्त करती है। अभिमत = इष्ट। पोच = बुरा।

[१०–११]

साहिबहि सँकोची = स्वामी को संकोच में डालकर। तासु मति पोची = वह दुर्बुद्धि है। बिहाई = परित्याग करके। किएँ रजाइ = आज्ञा प्रदान करने से। सुगति सिंगारू = सद्गति का शृंगार है। नतरु = नहीं तो। फेरिअहिं = वापस जायँ। बहुरिअ = वापस लौटें। अभारु = भार, जिम्मेदारी। आरत = आर्त, दुखी। चेतू = चैतन्य, विवेक। सकुच ····पावा = जिससे स्वामी के मन को किसी भी प्रकार का संकोच न हो। अनट =

(सं० अनृत) उपद्रव। अवरेब = (सं० अव = विरुद्ध + रेब = गति) उलझन।

[१२]

पाठ्यांश के विस्तार के भय से बीच के २४ दोहे छोड़ दिये गये हैं। छोड़े गये अंश में महाराज जनक की भूमिका प्रमुख रहती है। भरत के इस अनुरोध को कि रामचन्द्रजी स्वयं सबको आज्ञा प्रदान करें—सुनकर राम तुरन्त कोई उत्तर नहीं देते।

राम के मौन को लक्षित करके सभासद विभिन्न प्रकार की कल्पनाएँ करने लगते हैं कि बड़े नाटकीय ढंग से जनक के दूतों का प्रवेश होता है। दूत महाराज जनक के आगमन की सूचना देते हैं। राम जनकजी की अगवानी करते हैं। कुछ दिन शोक-संवेदन में व्यतीत होते हैं। एक दिन महाराज जनक की राजमहिषियाँ राम की माताओं के समीप शोक-संवेदन के लिए जाती हैं। कौशल्याजी सीता की माता सुनयनाजी से विनय करती हैं कि वे महाराज के सम्मुख यह प्रस्ताव रखें कि भरत तो राम के साथ वन रहें और लक्ष्मण अयोध्या लौट जायँ। सुनयनाजी के प्रस्ताव को सुनकर जनकजी भरत के परम प्रेम का स्मरण करके गद्‌गद हो जाते हैं। वे स्वयं कोई निर्णय न करके भरत के समीप पहुँच कर उनसे अनुरोध करते हैं कि वे जैसा उचित समझें वैसा कहें। इसी का उत्तर भरतजी दे रहे हैं। बीच में सीता और जनक की भेंट भी कवि ने आयोजित की है जो अनुपम एवं अवश्य पठनीय है। इसी प्रकार वन के कोल-किरातों द्वारा किया गया आतिथ्य बड़ा ही सरस है। ध्यान रखने की बात यह है कि जनक के चित्रकूट पर आने का प्रसंग तुलसी की मौलिक कल्पना है। महाराज दशरथ की मृत्यु और अयोध्या की इतनी बड़ी उथल-पुथल से जनकजी पूरी तरह उदासीन रहें, यह एक अभाव था, जिसकी पूर्ति गोस्वामी तुलसीदास ने बड़ी सहृदयतापूर्वक की है। जनकजी के आगमन से कथानक के मूल घटनाक्रम में तो कोई परिवर्तन नहीं होता, किन्तु चित्र-

कूट का समाज अधिक महिमावान् अवश्य बन जाता है। ज्ञानी और परम योगी जनकजी की विह्वलता राम की भक्ति और भरत की महिमा को प्रकाशित करने वाली है।

सुनि = जनकजी के निम्नोद्धृत प्रस्ताव को सुनकर—

राम सत्यव्रत धरमरत सब कर सीलु सनेहु।
संकट सहत सकोचबस कहिय जो आयेसु देहु॥

ग्यान अंबुनिधि = ज्ञान के समुद्र, अगाध विवेकशाली। एहि समाज' ' 'बाउर = महापुरुषों के इस समाज के समक्ष, चित्रकूट जैसे पवित्र स्थल में मुझ जैसा अनुभवहीन बालक यदि मुँह खोलता है तो बावला कहा जायगा और यदि मौन रहता है—गुरुजनों के पूछने पर कोई उत्तर नहीं देता—तो मलिन समझा जायगा। छोटे बदन कहौं बड़ि बाता = मुहावरा, छोटे मुँह बड़ी बात। स्वामि धरम स्वारथहि बिरोधू = स्वामी के प्रति कर्तव्यपालन एवं स्वार्थसाधन इन दोनों में स्वाभाविक विरोध है।

[१३]

सुगम अगम' ' 'आखर थोरे = भरत के वचन में एक प्रकार से विरोधी धर्म है। सेवक के धर्म का भरत ने जो प्रतिपादन किया है वह सुनने-समझने में तो बहुत सरल है, किन्तु आचरण करने में उतना ही कठिन है।

ज्यों मुखु' ' 'बानी = जैसे हाथ में शीशा लेकर अपना मुँह देखा जाय तो उसमें मुख का बिम्ब स्पष्ट दिखलायी पड़ेगा, इसी प्रकार भरत के वचनों में वाच्यार्थ अत्यन्त स्पष्ट है। जिस प्रकार बिम्ब को हाथ से नहीं पकड़ा जा सकता, उसी प्रकार सेवक-सेव्य भाव को हृदयंगम करना अत्यन्त कठिन है। सम्पूर्ण रामायण में एक प्रकार से सेवक-सेव्य भाव का ही आख्यान किया गया है। राम के प्रति यही भाव कवि को काम्य है। बिबुध कुमुद द्विज-राजू = देवसमाजरूपी कुमुद वन को चन्द्रमा के समान प्रफुल्लित करने वाले। नव जल जोगा = आषाढ़ की प्रथम वर्षा के जल के संयोग से। इस जल में कुछ ऐसे विषाक्त तत्त्व होते हैं कि इसका पान करने पर मछली मर

जाती है। हहरि = घबड़ाकर। लेखा = देवगण। रचहु प्रपंचहि = कुछ उपाय करो।

[१४]

पाही = रक्षा कीजिये, त्राहि। छल छाया=कोई माया, छल की छाया, जो भरत की मति को उसी प्रकार मोहित कर दे जिस प्रकार मंथरा और कैकेयी की मति को किया था। सयानी = चतुर। स्वारथ जड़=स्वार्थान्ध। मो सन = मुझ से। लोचन सहस न सूझ सुमेरु = सरस्वती का इन्द्र के प्रति व्यंग्य। इन्द्र सहस्राक्ष है। इसीको लक्षित करके सरस्वती कहती है कि हजार नेत्र वाले को सुमेरु के समान स्थूल बात तक लक्षित नहीं होती। यहाँ सरस्वती के माध्यम से कवि ने देवताओं पर करारा व्यंग्य किया है। मानवीय प्रेम, स्वार्थत्याग, संयम आदि की अभिव्यंजना के प्रसंगों में देवताओं द्वारा पुष्प-वर्षा की गयी है। यह पुष्पवृष्टि देवत्व के ऊपर मानवीयता की विजय घोषित करती है, साथ ही भगवान् और उनके भक्त की महिमा की प्रतिष्ठा करती है।

माया = शक्ति, तेज। गोस्वामीजी ने माया शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया है। प्रसंग के अनुसार यह शब्द कहीं अज्ञान, कहीं मोह-ममता, कहीं कपटाचार और कहीं शक्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

सकइ निहारी = देख भी नहीं सकती, प्रभावित करना तो दूर की बात है। करु भोरी = विमोहित कर दो, भोरी = भोली।

चंदिनि = चाँदनी, चंद्रिका। चंडकर = सूर्य। चंदिनि कर ...... चोरी = क्या चाँदनी कभी प्रचण्ड किरण वाले सूर्य के प्रकाश का अपहरण कर सकती है।

तरनि=सूर्य। बिधिलोका=ब्रह्म लोक। कोका=चकवा। कुटाटु=तांत्रिक शब्द, तंत्रशास्त्र में इस प्रकार के अनेक उपायों का वर्णन है जिसमें विभिन्न प्रकार की लकड़ियों को एकत्र करके एक ठटरी का ढाँचा बनाया

जाता है, फिर उसे मारण, सम्मोहन आदि मंत्रों से अभिमंत्रित करके शत्रु की ओर अभिप्रेरित किया जाता है; अतः कुठाट का विनाशकारी उपाय के अर्थ में प्रयोग किया गया है।

[१५-१६]

कुचालि = दुष्ट कार्य। अबिरोधा=विरोध से हीन, अनुकूल। पुरोधा = पुरोहित। कहाउति = कथन। भदेसू = भद्दा, अनुचित। राय रजायसु = राम का राजकीय आदेश। सही सिर सोई = वही ठीक और शिरोधार्य है। बनइ न ऊतरु देत = उत्तर देते नहीं बनता। सनेहु सँभारा = स्नेह को नियंत्रित किया। घटज = कुंभज, महर्षि अगस्त्य। पुराणों के अनुसार एक बार सुमेरु की प्रतिस्पर्धा में विन्ध्य ऊँचा उठने लगा। वह इतना ऊँचा उठ गया कि सूर्य के मार्ग को ही अवरुद्ध कर दिया। महर्षि अगस्त्य एक बार विन्ध्य को लाँघकर दक्षिण दिशा की ओर जाना चाहते थे। विन्ध्य ब्रह्मर्षि की अभ्यर्थना में झुका। ऋषि ने अनुरोध किया कि वे जब तक न लौटें तब तक विन्ध्य को तद्वत् रहना चाहिए। इस प्रकार अगस्त्यजी ने विन्ध्य का निवारण किया।

कनकलोचन = हिरण्याक्ष, इसने पृथ्वी का अपहरण करके उसे पाताल लोक में छिपा दिया था। भगवान् ने वराह का अवतार लेकर पृथ्वी का उद्धार किया। छोनी = पृथ्वी। जग जोनी = संसार की योनि। प्राणियों की जन्मदात्री।

सोक कनकलोचन ..... तेहिं काला = शोकरूपी हिरण्याक्ष ने बुद्धि-रूपी पृथ्वी को हर लिया था। शोक के कारण सभी सभासदों की बुद्धि कुण्ठित हो गयी थी। भरतजी के विवेकरूपी विशाल वराह ने उसका अनायास उद्धार कर दिया।

सभासद भरतजी के विवेकपूर्ण वचनों को सुनकर पूर्ववत् संतुष्ट हो गये।

निहोरे = विनय प्रदर्शित की। मराली = मराल का स्त्रीलिङ्ग हंसिनी। बिबेक बिलोचनन्हि = विवेकरूपी नेत्रों द्वारा।

[१७]

गुनगाहकु = गुणग्राहक। साईं दोहाई = स्वामी की शपथ। मोहबस पेली = अज्ञान के कारण उल्लंघन करके। समाजु सकेली = समाज को एकत्र करके। माहुर = विष। मीचू = मृत्यु। ढिठाई = धृष्टता।

[१८-१९]

निसील = शीलरहित। निसंकी = शंका रहित, निर्लज्ज। सामुहें आएँ = सामने आने पर। सकृत = एक बार। सेवकहि नेवाजी = सेवक का कल्याण करनेवाला। साजी = साज सजानेवाले। निज करतूति = अपना कार्य, सेवक के कष्टों को दूर करने के लिए की गयी कृपा। कोपी = कोऽपि, कोई भी। पन रोपी = प्रण करके। बरजोर = बलपूर्वक।

[२०]

प्रभु पद……दोहाई = स्वामी के चरणरूपी कमलों की धूलिरूपी पराग की शपथ। सत्य सुकृत सुख सींव सुहाई = चरणरज मेरे लिए जीवन के सम्पूर्ण सत्य, सुकृत और सुख की सीमा है। स्वारथ छल फल चारि बिहाई = स्वार्थ, छल-कपट और धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का परित्याग करके। सो प्रसादु जनु पावै = आज्ञा मिलना सेवक के लिए परम सौभाग्य और गौरव की बात है। आज्ञा स्वामी का कृपाप्रसाद हुआ करता है और भरतजी राम से उसीकी याचना कर रहे हैं।

बिलोचन बारी = नेत्रों में प्रेमाश्रु आ गये। समउ सनेहु न सो कहि जाई = भरत ने जिस व्याकुलता, प्रेम और विनय के साथ राम के चरण पकड़े, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

भायप भगति की महिमा = भ्रातृ विषयक भक्ति या प्रेम। भरत की 'भायप भगति' का यहाँ चरम उत्कर्ष आ जाता है। राम के वात्सल्य का

स्पर्श पाकर भरतजी अब उनसे अयोध्या लौट चलने का अनुरोध नहीं कर सकते और अयोध्या के राजनीतिक परिवर्तन के द्वारा उत्पन्न उलझन अनायास सुलझ जाती है। भरत की भक्ति की प्रशंसा केवल सभासद ही नहीं करते; राजसभा के परिणाम को टकटकी लगा कर देखनेवाले देवगण भी प्रसन्न होकर पुष्पवृष्टि करने लगते हैं। भरत के निर्मल चरित्र और प्रगाढ़ अनुराग ने सम्पूर्ण वातावरण को स्निग्ध कर दिया है।

कवितावली

कवितावली का दूसरा नाम कवित्त रामायण भी है। राम काव्य में जो प्रसंग तुलसी को विशेष प्रीतिकर लगे अथवा जिन भावों का विस्तार वे 'मानस' की प्रबन्धात्मकता की सीमा में यथेष्ट रूप से न कर सके उनका कवित्त और सवैयों की शैली में वर्णन किया गया है। कवितावली के उत्तर काण्ड में कवि ने कुछ अपने समय के समाज तथा अपने विषय में भी कहा है। किसी-न-किसी रूप में अपने इष्ट के प्रति आत्मनिवेदन सर्वत्र विद्यमान हैं। कवितावली में छन्दों को प्रसंगानुक्रम से सजाया गया है। वैसे कवितावली मुक्तक छंदों का ही संकलन है, उसमें प्रबन्धा-त्मकता नहीं है।

[१]

सकारें = सवेरे, प्रातः। गोद कै = गोद में लेकर। सोच विमोचन=सब प्रकार की चिन्ताओं को दूर करने वाले, राम। ठगि-सी रही = मुग्ध हो गयी। रंजित-अंजन-नैन = काजल भरे नेत्र। सुखंजन-जातक = खंजन शावक के समान सुन्दर, (उपमा)। समसील = समानधर्मा। सजनी ससि में ··सरोरुह-से बिकसे = हे सखी, ऐसा प्रतीत होता था मानो शशि में दो समानरूप वाले कमल खिले हों। (उत्प्रेक्षा अलंकार), मुख = शशि। नेत्र = सरोरुह।

[२]

कीर के कागर ज्यों = तोते के पंखों के समान। तोता एक ऐसा पक्षी है जो स्वयं अपनी चोंच से अपने पंखों को निकाल देता है। पुराने पंख झड़ जाने के पश्चात् उसके नये पंख जमते हैं। नृप चीर = राजकीय वस्त्र। उप्पम = उपमा। कीर के······अंगनि पाई = राजकीय वस्त्राभूषण का परित्याग करके (मुनिवस्त्र धारण करने पर) राम का शरीर उसी प्रकार शोभायमान हुआ जिस प्रकार तोते का शरीर पुराने पंखों का परित्याग करके (नये पंख जमने पर) शोभा पाता है। औध = अवध, अयोध्या। मगबास के रूख ज्यों = पैदल यात्रा करनेवाला पथिक रात्रि को किसी मार्गनिवास में रैनबसेरा करता है और प्रभात होते ही उस मार्गनिवास को, उसकी फूल-पत्तियों, लता-गुल्मों को छोड़कर चल देता है। उनके प्रति उसके मन में कोई ममत्व भाव नहीं होता। पिता की आज्ञा मिलते ही राम ने उसी भाव से अयोध्या का परित्याग कर दिया। पंथ के साथ ज्यों लोग-लोगाई = राम अपने परिजनों और पुरजनों को बहुत प्यार करते थे, किन्तु वनवास की आज्ञा पाते ही वे उन सब स्नेह-सम्बन्धों को तोड़कर ऐसे निर्विकार भाव से चल दिये मानो इनसे सम्बन्ध यात्रा के साथियों जैसा था। मनो धर्मु, क्रिया धरि देह सुहाई = धर्म और क्रिया पुण्यात्माओं के साथ हैं। राम, सीता और लक्ष्मण से संयुत इस प्रकार चल दिये मानो सब कुछ छोड़ने पर भी धर्म और क्रिया ने उनका अथवा उन्होंने धर्म और क्रिया का परित्याग न किया हो। क्रिया और धर्म लिंग के आधार पर सीता और लक्ष्मण के उपमान हैं। (उत्प्रेक्षा अलंकार)। बटाऊ की नाईं = पथिक के समान। राजिवलोचन रामु······बटाऊ की नाईं = इस छंद में कवि राम की त्यागभावना को चित्रित करना चाहता है। सबसे संपृक्त होते हुए वे सबसे निस्संग हैं, अलिप्त हैं। त्याग, संयम, मन की निस्संगता उनके चरित्र का सहज-गुण हैं।

[३]

एहि घाटतें = इस घाट से, केवट का संकेत उस घाट की ओर है जिस पर वह अपनी नौका लिये खड़ा है। अहै = है। थाह देखाइहौं जू = श्रीमान मैं स्वयं आपके आगे-आगे चलकर जल की गहराई का आपको अनुमान देता चलूँगा। तरै तरनी = मेरी नौका का उद्धार हो जायगा, वह अपने वर्तमान रूप में नहीं रहेगी। घरनी = गृहिणी। जियाइहौं जू = जीवित रखूँगा, व्यंजना यह है कि नौका यदि नारी रूप में परिणत हो गयी तो मेरा तो परिवार ही नष्ट हो जायगा। बरु = भलेही।

[४]

सहरी = शफरी (फा०) मछली। पात भरी सहरी = पत्तेभर मछलियों के अतिरिक्त घर में कुछ भी नहीं है। बर्तन, भाण्डे हैं नहीं जिनको बेचकर कुछ दिन गुजर कर सकूँ। घर में पत्ते और काठ के बर्तन ही हैं। कछु बेद न पढ़ाइहौं = कुछ वेद तो पढ़ाऊँगा नहीं, यह केवट का सुन्दर व्यंग्य है। मैं और मेरे बच्चे इसी नौका के माध्यम से मेहनत-मजदूरी करके पेट पालन करते हैं। मैं ब्राह्मण तो नहीं, जिनके बालक वेदाध्ययन करके बिना शारीरिक परिश्रम के मौज उड़ाते हैं। गढ़ाइहौं = बनवाऊँगा। बादु ना, बढ़ाइहौं = आपसे मैं अधिक वाद-विवाद नहीं करूँगा। रावरे सौं = आपसे, आदरसूचक मध्यम पुरुष सर्वनाम।

सुन्दरकाण्ड

[५]

बालधी = पूँछ। लीलिबेको = निगलने को। रसना = जीभ। कैधौं = अथवा। ब्योमबीथिका = आकाश-मार्ग। उघारी है = खींची है। सुरेस-चापु = इन्द्रधनुष। दामिनी-कलापु = विद्युत् का समूह। कृसानु-सरि = आग की सरिता। चली मेरु······भारी है = हनुमान का शरीर पर्वत से उपमित किया गया है तथा उनकी प्रज्ज्वलित पूँछ को अग्नि की सरिता से। जातुधान = राक्षस। उजार्‌यो = उजाड़ दिया।

[६]

गाज्यो = गर्जन किया, सिंहनाद किया। ज्वालजालजुत = आग की लपटों से घिरा हुआ। धावौ = दौड़ो। धरौ = पकड़ो। धारि = सेना। उलदै = उलीच रहे हैं, आग पर गिरा रहे हैं। जलदु जौन सावनो = सावन की घनघटा के समान। राक्षस वीर आग बुझाने के लिए इतना पानी उँड़ेल रहे हैं मानो सावन के बादल वृष्टि कर रहे हों। लपट-झपट झहराने = आग की लपट से झुलस रहे हैं। हहराने = भयभीत हो रहे हैं। परावनो = भगदड़। ढकनि ढकेलि = धक्का-मुक्की करते हुए। ठेलि = बलपूर्वक आगे बढ़के। न चलैगो बलु = हमारी सामर्थ्य के बाहर है, आग पर हम काबू नहीं पा सकते। कवि ने पूरे छंद में शब्दों की ध्वनि पर विशेष ध्यान दिया है। वर्ण्य-विषय के अनुरूप ध्वनियों द्वारा लंकादहन का चित्र अंकित किया गया है।

[७]

राजरोगु = असाध्य रोग, वह रोग जिसका कोई इलाज नहीं। विराट उर = विराट् पुरुष के हृदय में। समस्त सृष्टि ही विराट् पुरुष का शरीर है। राँक = रंचक, तनिक। औत पावै न = रोग क्षय नहीं होता, मरीज को कोई आराम नहीं मिलता। रसाइनी = रासायनिक शास्त्र को जानने-वाले, वैद्य। समीरसूनु = पवन पुत्र हनुमान। सोधि सरवाक = मृत्तिका के पात्र को स्वच्छ करके। अनेक औषधियों को मिट्टी के पात्र में रखकर भस्म बनाया जाता है। जातुधान-बुट = राक्षसरूपी बूटियाँ। पुटपाक = वह द्रव जिसमें औषधियाँ गलायी जाती है। लंक-जातरूप = लंकारूपी सुवर्ण। मृगांक-सो = एक रसौषधि विशेष।

इस छंद में हनुमान के लंकादाह का रूपक की शैली में चमत्कारपूर्ण ढंग से चित्रण किया गया है। रावण सम्पूर्ण भूतप्राणियों को रुलानेवाला आततायी था। सृष्टि उसके आतंक से त्रस्त थी। ऋषियों ने रावण को समझाने और देवताओं ने उसकी शक्ति को नियंत्रित करने की कोशिश

की, किन्तु परिणाम कुछ न निकला। हनुमान द्वारा किया गया लंकादाह मानो उसके उद्धत अहंकार के लिए एक चुनौती था। इस तथ्य को कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है कि सृष्टि के लिए रावण एक असाध्य राज-रोग था। साधारण औषधियों के द्वारा सामान्य वैद्यों के उपचार से यह घटने के स्थान पर और बढ़ रहा था। आखिर महाराज रामचन्द्र ने विराट् के हृदय की पीड़ा को समझ कर एक विशेषज्ञ भेजा, जो पवन-पुत्र हनुमान थे। हनुमान ने देखा कि यह रोग तो मृगाङ्क भस्म से ही दूर हो सकता है। मृगाङ्क भस्म के लिए सुवर्ण, कुछ बूटियाँ और कुछ रासायनिक द्रवों को मिलाकर एक शोरवे में जलाया जाता है। हनुमान ने वही किया। लंका को पात्र बनाया, उसके सुवर्ण और रत्नों को उसमें डाला, राक्षसों को बूटियों के रूप में डाला। सबको मिलाकर भस्म कर दिया। इस औषधि से विराट को कुछ आराम पहुँचा।

[८]

उत्तरकाण्ड में संकलित छन्दों में रामचरित के अतिरिक्त अन्य विषय भी हैं। इनसे तत्कालीन समाज का बड़ा मार्मिक चित्र उभरता है। तुलसी का समय शाहजहाँ का समय है। इस समय उत्तरी भारतवर्ष में भीषण अकाल पड़ा था। अकाल से क्षीण और अशक्त जनता को अनेक महामारियों का सामना करना पड़ा था। चारों ओर भूख और मृत्यु का ताण्डव देखकर जनता दहल गयी थी। कवि का संवेदनशील हृदय करुणा से द्रवीभूत होकर भगवान् से फरियाद करने को विवश होता है।

सीद्यमान = दुखी। कहाँ जाई का करी = व्याकुलतासूचक, अकाल इतने व्यापक प्रदेश में था कि दीन जनता किसी पड़ोसी भूभाग में जाकर रक्षा नहीं पा सकती थी। सभी लोग यह सोच रहे थे कि कहाँ जायँ, क्या करें !!

बेदहुँ पुरान······रावरे कृपा करी = हे राम ! यह बात वेद और पुराण में कही गयी है तथा संसार में भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि जिस

किसी पर भी संकट पड़ा है, उस पर आपने कृपा की है।

दारिद दसानन = दारिद्र्यरूपी रावण ने। दबाई दूनी=दुनिया को परा-भूत कर दिया है। दुरित दहन देख = यह सोच करके कि आप पापों को जलाकर भस्म कर देने वाले हैं। हहा करी = आपसे दीन बिनती की है।

विनयपत्रिका

बरवै अवधी का अपना छंद है। यह छंद अपनी मुक्त प्रकृति के कारण प्रबंध काव्य के विशेष उपयुक्त नहीं है। तुलसी ने बरवै छंद में राम का चरित्र क्रमबद्ध रूप में लिखा भी नहीं है। कवितावली के समान इसमें भी स्वतन्त्र रूप से कुछ विशेष झाँकियों को चित्रित किया गया है। संग्रहीत बरवै में किसी-न-किसी अलंकार के निरूपण पर कवि की दृष्टि अवश्य रही है। इस प्रकार के प्रयत्नों में हम रीति-काव्य का पूर्वाभास देख सकते हैं।

१. केस मुकुत = केशों में गुँथे हुए मोती। करत उदोत = अपनी कांति फैलाते हैं। (तद्‌गुण अलंकार)

२. बिगसाइ = विकसित रहता है। (व्यतिरेक अलंकार)

३. चंपक हरवा = चंपे का हार। (उन्मीलित अलंकार)

४. तुव = तुम्हारे। बेलि = बेला का फूल, श्वेत रंग का रात्रि को खिलने वाला सुगन्धयुक्त बेला, हार गूँथने के प्रायः काम आता है। (तद्‌गुण अलंकार)

७. डहकु न = डर मत।

८. कनगुरिया=छोटी उँगली, कनिष्ठिका। (अतिशयोक्ति अलंकार)

विनयपत्रिका

विनयपत्रिका प्रपन्न भक्ति का अनमोल ग्रन्थ है। भक्ति-दर्शन का जितना सांगोपाङ्ग एवं विशद विवेचन तुलसी ने इस ग्रन्थ में किया है, उतना वे रामचरितमानस में भी नहीं कर सके। यह ग्रन्थ प्रथम पुरुष की शैली में लिखा गया है इसलिए विनय के पदों में केवल तत्त्वदर्शन अथवा उपदेश-

वादिता नहीं, अपितु कवि का अपने आराध्य के प्रति व्यक्तिगत आत्म-निवेदन भी है। वैयक्तिकता के मार्मिक स्पर्श ने ही इसे एक श्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थ भी बना दिया है। उसमें हमें अनुभूतियों की सचाई भी परिलक्षित होती है और कवि की दीनता इसमें प्रमुख रूप से संवेद्य है।

संसार से उपेक्षित, भाग्य से तिरस्कृत, जीवन की दुर्बलताओं से त्रस्त एक दीन, दुष्ट कलिकाल के अत्याचारों से अपनी रक्षा करने में नितान्त असमर्थ होने पर महाराजाधिराज राम की सेवा में अपनी 'विनयपत्रिका' प्रेषित करता है। पत्रिका महाराज के समक्ष जा सके, उस पर अनुकूल विचार किया जा सके, इसके लिए राम के पार्षदों की वह मनुहार करता है, यहाँ तक कि जगज्जननी जानकी से भी वह अपनी अभिशंसा कराने के लिए प्रार्थना करता है। पत्रिका राजदरबार में पहुँचती है, हनुमान, भरत, लक्ष्मण सभी अनुकूल सम्मति देते हैं और रघुनाथ उस पर अपनी सही (हस्ताक्षर) करके स्वीकृति दे देते हैं। तुलसी निहाल हो जाते हैं। इस आयोजना का आभास विनयपत्रिका में आद्योपान्त मिलता है। विनय-पत्रिका यद्यपि स्वतन्त्र गेय पदों का एक संग्रह है, किन्तु उक्त प्रकार का एक भावात्मक सूत्र विद्यमान रहने से वह प्रबन्धात्मक भी है। विनय-पत्रिका की भाषा प्रांजल एवं प्रसाद गुण से युक्त है।

[१]

यह पद व्याजस्तुति अलंकार का सुन्दर उदाहरण है। ब्रह्माजी भवानी से उनके बावले पति की शिकायत कर रहे हैं।

नाह = पति, नाथ। निज घर की बर बात बिलोकहु = अपने घर की बात न बिगड़ने पाये, इसका तो खयाल करो।

पति यदि मस्तमौला होता है तो गृहिणी को गृहस्थी की पूरी देखभाल करनी पड़ती है, अन्यथा बात बिगड़ते देर नहीं लगती। भानी = नष्ट कर दी है। बेद बड़ाई = वेदों की मर्यादा। कर्मानुसार प्रत्येक जीव को भोग मिलता है—यह, वेद की मर्यादा है। नाक = स्वर्ग। हौं आयो नकबानी=

नकबानी आना एक लोकप्रचलित मुहावरा है। मैं तो अब तंग आ चुका हूँ, यह अभिप्राय है। दुख-दीनता·····दुख = (अत्युक्ति अलंकार), दुख-दीनता को संसार में कहीं स्थान ही नहीं मिल रहा, शंकर की कृपा इन्हें कहीं टिकने नहीं देती। जाचकता अकुलानी = याचकवृत्ति भी अब परेशान है, शंकरजी पापियों को भी इतना दे देते हैं कि फिर जीवन में उन्हें किसी से याचना करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह अधिकार सौंपिए औरहिं = कर्मानुसार प्राणियों को भोगों का वितरण करने का काम मुझे दिया गया है। आपके पति की कृपा का हस्तक्षेप मुझे अपना काम नहीं करने देता। जिन पापियों को घोर नरक में जाना चाहिए, मुझे उनके लिए स्वर्ग में व्यवस्था करनी पड़ती है। इसलिए मेरा त्यागपत्र स्वीकार किया जाय और विधि-विधान का कार्य किसी दूसरे पदाधिकारी को सौंपा जाय। बर बानी = श्रेष्ठ वाणी, ब्रह्माजी की वाणी में श्रेष्ठ व्यंग्य है। यहाँ पर प्रतीयमान निन्दा के माध्यम से शिवजी की उदारता, दानशीलता आदि की व्यंजना होने से व्याजस्तुति अलंकार है।

[२]

इस पद में जगज्जननी जानकीजी की स्तुति है।

कबहुँक = जब कभी आप उचित समझें। मेरिऔं = मेरी माँ, इसका अभिप्राय है कि यह जगज्जननी वात्सल्यानुरोध के कारण और भी दीन-हीन प्राणियों की याद दिलाकर उनका उद्धार कराती रहती हैं। द्याइबी = दिलाइयेगा, अनुनय का भाव है। कछु करुन-कथा चलाइ = पहले किसी करुणापूर्ण प्रसंग का उल्लेख करके तब मेरी बात कहियेगा। सब अँग हीन = (वाच्यार्थ) बिलकुल अपाहिज। (लक्ष्यार्थ) जो ज्ञान, योग आदि साधनों से हीन है। जिसके उद्धार का अन्य कोई रास्ता है ही नहीं। छीन = क्षीण, दुर्बल। अघी अघाइ = जिसने पेट भर कर पाप किये हैं। नाम लै भरै उदर = आपका नाम लेकर जो भीख माँग कर पेट भरता है। भिखारी द्वार पर आकर प्रायः "सीताराम" जैसे शब्दों की

आवाज लगाते हैं। प्रभु-दासी दास कहाइ=प्रभु की दासी तुलसी, उनका दास तुलसीदास। नाम भी दीनतासूचक है। आपका दासानुदास है। कहिबी = कृपापूर्वक कह दीजिये। बिगरिऔ = बिगड़ी हुई भी।

जगजननि·····बचन सहाइ = कवि का आशय है कि जगज्जननी जानकीजी ने दयार्द्र होकर इस जन की वचनों द्वारा सहायता की।

[३]

इस पद में एक छोटे-से कथानक की परिकल्पना की गयी है। कुछ समीक्षकों ने इस पद की कुछ उक्तियों को जीवनी के प्रसंगों में उद्धृत किया है जो उचित प्रतीत नहीं होता। सम्पूर्ण पद को पढ़ने से एक ऐसे भोले-भाले व्यक्ति का चित्र उभरता है जो पहले अपनी वर्तमान स्थिति का परिचय देता है, फिर अतीत के विषय में कुछ तथ्यों का उद्घाटन करता है। संक्षेप में इसका आत्मपरिचय इस प्रकार है। नाम मेरा रामबोला है। यह नाम स्वयं रामजी ने रखा है। मेरा काम बस इतना है कि मालिक का नाम 'राम राम' कभी-कभी मुँह से बोल लेता हूँ। इस चाकरी के बदले में मालिक रोटी-कपड़े से सुखी रखता है। वेद बतलाते हैं कि भविष्य में भी मेरा भला ही होगा। वर्तमान और भविष्य से आश्वस्त होने के कारण चैन की वंशी बजाता हूँ। मेरा अतीत बड़ा ही दुःखपूर्ण था। जड़ कर्मों ने घमण्ड की हथकड़ी पहनाकर मुझे बाँध रखा था। मैं बहुत कष्ट पाया करता था। एक दिन कोशलेश महाराजाधिराज कृपालु रामचन्द्र की निगाह कहीं मेरे ऊपर पड़ गयी। उन्होंने देखा कि एक दीन पापों से बुरी तरह जल रहा है। अपनी सहज कृपाशीलता के कारण उन्होंने मुझे बन्धन से मुक्त कर दिया और दयार्द्र होकर पूछा (क्या चाहता है)। मैंने उत्तर दिया—मैं आपके चरण पकड़ता हूँ। इस संसार में मेरा कोई कहीं नहीं है। मैं तो आपका सेवक बनना चाहता हूँ। बस, उन्होंने अपना स्नेह का हाथ मेरी पीठ पर फेरा, अपनाकर मेरी बाँह पकड़ ली। अब दुनिया मुझे निकम्मा कहती है तो मुझे इसका न तो कोई दुःख है और

न किसी प्रकार का संकोच ही है। मुझे किसी से लेना-देना ही क्या है। न तो मैं किसी की बिरादरी में ही शामिल होना चाहता हूँ और न मुझे शादी-विवाह करना है। मेरी तो बनी-बिगड़ी अब राम की ही रीझ-खीझ पर निर्भर करती है। मुझे उनके प्रेम का विश्वास है इसलिए मौज करता हूँ। स्पष्ट है कि इसमें आत्मनिवेदनपूर्वक भक्ति के विभिन्न अंगों का निरूपण किया गया है। भक्त की दीनता और भगवान् की कृपाशीलता का उत्तम पुरुष की शैली में वर्णन है। आत्मकथा कहना यहाँ कवि का अभिप्राय नहीं है।

[४]

धूम-समूह = धुँए के बादल। गज काँच = स्फटिक मणि। सेन = श्येन, बाज पक्षी। छाँह आपने तन की = आकाश में उड़ते हुए बाज पक्षी को स्फटिक मणि में अपनी परछाईं दिखलायी पड़ती है तो अपनी परछाईं को अन्य पक्षी समझ कर उस पर टूट पड़ता है। कुचालि = दुष्ट चलन।

[५]

खेहर खाउ = एक प्रकार की गाली, खाक पड़े उसके मुँह में। सखाउ = सखा भी। रिसोहैं = क्रुद्ध। जोगवत अनट उपाउ = नटखटपन, शैतानी को केवल देखते रहते थे, क्रुद्ध नहीं होते थे। चुचुकारि दुलारत = राम हारे हुए बालकों को प्यार से सान्त्वना प्रदान करते थे। सिला साप......पावन पाउ = अहल्या-उद्धार की ओर संकेत है। चरन छुए को पछिताउ = शिलारूप से उद्धार करके पवित्र गृहिणी बनाया, इसकी उतनी प्रसन्नता नहीं हुई जितना पश्चात्ताप इस बात का हुआ कि एक ऋषि-पत्नी को पैरों से स्पर्श करना पड़ा। ताउ खाइ गए = ताव खाना एक मुहावरा है, गरम हो गये, क्रुद्ध हुए। इतो न अनत समाउ = इतनी समवाई अन्यत्र नहीं है, इतना कोई और सहन नहीं कर सकता। नारि बस = पत्नीवश्यता के कारण। गरि गलानि गयो राउ = राजा दशरथ ग्लानि में गल गये, आत्म-ग्लानि न सह सके। मन जोगवत = उसकी इच्छा का ध्यान रखते रहे।

कुघाव = ऐसा घाव जो कभी पुरता नहीं। कनौड़े = कृतज्ञ। रिनियाँ = ऋणी। धनिक तूँ पत्र लिखाउ = पवनसुत से कहा मैं तुम्हारा ऋणी हूँ। इस जीवन में मैं उससे उऋण नहीं हो सकता इसलिए तू रुक्का लिखा ले। तिन न तज्यो छल-छाउ = छलछाउ एक प्रकार का मुहावरा है, बुराई से अभिप्राय है। कवि का संकेत बड़े भाई की पत्नी से विवाह करने की ओर है। होत न हृदय अघाउ = हृदय में तृप्ति नहीं होती। चपत = सहम जाते हैं। निज करुना······चरचाउ = राम का स्वभाव इतना संकोचशील है कि उनके द्वारा किये गये अनुग्रहों की कोई चर्चा भी करने लगता है तो सकुचा जाते हैं। सकृत प्रनाम किए = शरण में आकर एक बार प्रणाम मात्र करने पर। जस बरनत = भक्त के यश का स्वयं बखान करते हैं। फिरि गाउ = दुबारा कहो। प्रेम-पसाउ = प्रेम के प्रसाद से।

[६]

काको = किसका। बराइ = परित्याग करके। खग = जैसे जटायु। मृग = जैसे मारीच। व्याध = अजामिल। पषान = जैसे अहल्या। विटप जड़ = कृष्णावतार में यमलार्जुन। कहा अपनपौ हारे = आत्म-समर्पण करने से परिणाम क्या निकल सकेगा।

[७]

द्वैत-जनित = द्वैत बुद्धि से उत्पन्न होने वाले। संसृति दुख = जन्म-मृत्यु के दुःख। मध्यस्थ = उदासीन। बरिआई = बलपूर्वक। हाटक = सुवर्ण। सत्रुमित्र······तृन की नाई = यहाँ यथासंख्य अलंकार है। कवि ने पहले मन की तीन वृत्तियों—शत्रुता, मित्रता तथा उदासीनता का उल्लेख किया है। फिर उसी क्रम से मन के सम्बन्ध-त्याग, ग्रहण तथा उपेक्षा को चित्रित किया है और उसी क्रम में उनके उपमान सर्प, सुवर्ण और तृन का उल्लेख किया है। मन ने शत्रुता-मित्रता के सम्बन्ध अपनी ओर से कल्पित किये हैं। किसी को वह सर्प के समान शत्रु, किसी को सोने के समान मित्र तथा किसी को तृण के समान तुच्छ समझ लिया है। वस्तुतः न तो

कोई किसी का शत्रु है और न कोई मित्र। मन संसार से नाते स्वयं स्थापित करता है।

मनि महँ रह जैसे = जिस प्रकार मणि के मूल्य में सदा विद्यमान रहते हैं।

पुतरिका = पुतली, यहाँ कठपुतली से अभिप्राय है। रघुपति-भगति-बारि छालित चित = भगवान् की भक्ति के आवेश से निकले हुए आँसुओं से प्रक्षालित चित्त। चिद-बिलास जग = सत्-चित्-आनन्द ब्रह्म के तत्त्व हैं। यह संसार उसी के द्वारा अपने ही सत अंश से निर्मित है। बूझत-बूझत बूझै = इसका तात्विक रूप साधना करने पर धीरे-धीरे ही समझ में आता है।

[८]

इस पद में भक्त के आत्मविश्वास की व्यंजना है। भक्त अपने भगवान् के सम्मुख चाहे जितनी दीनता दिखलाये किन्तु अन्यत्र वह सदैव निर्भय रहता है। कहा सरै = क्या कर सकता है। होइ न बाँको बार = बाल बाँका होना एक मुहावरा है, कुछ भी नहीं बिगड़ता। मीचु = मृत्यु। पामर = दुष्ट। थप्यो बिभीषन = विभीषण को लंका के सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया। अजहुँ महामुनि ग्लानि गरै = भक्त राजा अम्बरीष का अपराध करने पर दुर्वासा ने जो दण्ड भोगा था उसकी ग्लानि अब तक उनके मन से नहीं मिटी। अबुध = मूर्ख। प्रभु-प्रसाद ...... बरिआइ बरै = भगवान् कृष्ण की अनुकम्पा से विजय-लक्ष्मी ने पाण्डवों का ही वरण किया। कूप खनैगो = कूप खनना एक मुहावरा है, दूसरे का अहित करना। सुरतरु सोउ बिष-फरनि फरै = साधु पुरुष का अपकार करके कोई व्यक्ति कल्पवृक्ष की भी छाया में चला जाय तो कल्प वृक्ष भी उसके लिए विषैले फल ही फलेगा। हैं काके द्वै सीस = दो शीश होना एक मुहावरा है, ऐसा कौन व्यक्ति है जो जान-बूझकर मौत का खतरा मोल लेगा। जन की सीवँ चरै = भक्त की सीमा में पाँव तक धर सके। काहू न डरै = तुलसी राम के बाहुबल का आसरा लेकर अब किसी से नहीं डरता।

इस पद में समाज की दुर्दशा का विस्तृत चित्रण करता है। सामाजिक अधःपतन, आर्थिक पराभव, दैविक और भौतिक प्रकोपों से जर्जरित जनता की शोचनीय अवस्था का निवेदन भक्त भगवान् से करता है। सामाजिक अधःपतन पर कवि क्षुब्ध अवश्य है; किन्तु उसकी दृष्टि आक्रोशयुक्त न होकर करुणापूर्ण है। पाखण्ड-पापरत प्रजा को देखकर वह उससे घृणा नहीं करता अपितु दयार्द्र होकर महाराज रामचन्द्र से उसके उद्धार की प्रार्थना करता है। राम की सामर्थ्य और सहज कृपाशीलता के प्रति वह आश्वस्त है। घोर निराशा के अन्धकार में राम की कृपा की एक कोमल किरण लख कर कवि का हृदय आनन्द से भर जाता है। वह भगवान् की जय-जयकार करके सत्य की विजय, धर्म की विजय और असत्य, अधर्म तथा पाप के विनाश की घोषणा करता है—

दुरित = पाप। दारिद = दारिद्रय। दुनी = दुनिया, पूरा समाज। तिहुँ ताप तई है = आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक-त्रिविध तापों से सन्तप्त है। देव दुवार पुकारत आरत = हे देव! प्रजा आपके द्वार पर आर्त पुकार कर रही है। सुख हानि भई है = सुखों की हानि हो चुकी है। 'मम मूरति महिदेवमई है' = ब्राह्मण मेरा ही स्वरूप है। 'प्रभु के बचन' ''महिदेवमई है' = वेद और विद्वानों की यह सम्मति है तथा आपके भी वचन हैं कि ब्राह्मण मेरा ही रूप है। तिनकी मति' 'लीलि लई है। उनकी बुद्धि को काम-क्रोधादि मनोविकारों ने निगल लिया है, उनमें अब सात्त्विक बुद्धि नहीं रह गयी है। राज समाज कुसाज' '' 'कुचाल नई है = ब्राह्मण-वर्ग ही नहीं, क्षत्रियों का भी बुरा हाल है। वे समाज के रक्षक न होकर भक्षक बन गये हैं। राज-समाज करोड़ों प्रकार की कुचालों से भर गया है। प्रजा को लूटने-खसोटने के लिए वे नित्य नई युक्तियाँ निकालते रहते हैं।

हेतुबाद = नास्तिकता। नीति, प्रतीति' 'हेरि हई है = समाज का आधार नैतिक मान्यताएँ तथा पारस्परिक प्रेम, सहानुभूति और विश्वास है। नास्तिकता

ने इन गुणों को खोज-खोज कर नष्ट कर दिया है। आश्रम-बरन-धरम-बिरहित जग = संसार वर्णाश्रम धर्म से विहीन हो चुका है। लोक-बेद, मर-जाद गयी है = अब न लोकमर्यादा रह गयी है और न वेदमर्यादा ही रह गयी है। अपने-अपने रंग रई है = साधारण जनता अधःपतित होकर पाप और पाखण्ड में लिप्त है। किसी भी प्रकार का अनुशासन उसके ऊपर नहीं रह गया। लोग स्वार्थरत होकर अपने-अपने रंग में मस्त हैं।

सीदत साधु = सज्जन क्लेश पा रहे हैं। खल बिलसत = दुष्ट मौज कर रहे हैं। हुलसति खलई है = दुष्टता उल्लसित हो रही है। सफल नहिं सिद्ध सई है = उद्धार के जितने भी साधन हैं वे कलिकाल के प्रभाव से निष्फल हो रहे हैं। गोमर = गौ का वध करनेवाला, कसाई। जामति न बई है = बीज डालने पर उपज नहीं होती। कामधेनु धरती······न बई है = पृथ्वी कामधेनु के समान जीवन के समस्त भोगों को प्रदान करने वाली है। कलिकाल रूपी कसाई के बन्धन में पड़कर वह भी वन्ध्या हो गयी है। करत फिरत बिनु टहल टई है = टहल टई करना एक मुहावरा है, जिसका अर्थ इधर-उधर के निरर्थक काम करना है। यह दुष्ट कलियुग बिना किसी प्रयोजन के इधर-उधर उत्पात मचाता रहता है। चित कहा टई है = पता नहीं इसका क्या इरादा है। ढील दई है = अनुशासन ढीला कर दिया है। तापर दाँत पीसि······ढील दई है = दाँत पीसना और हाथ मींजना क्रोध-सूचक मुहावरे हैं। कलियुग सबको तबाह करने पर भी सन्तुष्ट नहीं है। पता नहीं वह और क्या चाहता है। किन्तु यह सब आपके द्वारा ढील दिये जाने का ही परिणाम है। ढील देना एक मुहावरा है। इसका अर्थ होता है किसी व्यक्ति के अनुचित कार्यों को जान-बूझकर अनदेखा करना। पिता के ढील देने पर बच्चे बिगड़ जाते हैं। अध्यापक के ढील देने पर छात्र अनुशासन में नहीं रहते।

सरुष = क्रुद्ध होकर। तरजिये तरजनी = उँगली के संकेत से उसे चेतावनी दीजिए, डाँट दीजिए, कुम्हिलैहै कुम्हड़े की जई है = कुम्हड़ा

तरबूजे के आकार का एक फल है। इसका दूसरा नाम पेठा भी है। इसका नन्हा फल, जिसे लोकभाषा में 'जउआ' या 'जई' कहते हैं, इतना कोमल होता है कि, उँगली दिखलाने से मुरझा जाता है। इसका प्रयोग परशुराम-लक्ष्मण-संवाद में 'मानस' में भी किया गया है—इहाँ कुम्हड़बतिया कोउ नाहीं। जे तरजनी देखि मरि जाहीं। (१।२७३) दीजै दादि = न्याय कीजिए। दीजै·····नातौ = आप सब मामले की स्वयं जाँच करके न्याय कीजिए। मही··रितई है = इसने पृथ्वी को आनन्द और मंगल से शून्य कर दिया है। भरे भाग अनुराग = लोग भाग्य और प्रेम का अनुभव करके कहते हैं। रामकृपा··चितई है = कवि कल्पना करता है कि राम ने कृपा की दृष्टि डाल दी है। करुणा बारि भूमि भिजई है = करुणा की अमित वृष्टि से पृथ्वी को शान्त कर दिया है। सुकृत-सैन हारत जितई है = पुण्य का पक्ष पाप से पराजित हो रहा था। राम की कृपा ने उसे जिता दिया। साँसति त्रितई है = कष्टों को दूर कर दिया है। साँसति लोकभाषा का शब्द है जिसका अर्थ कष्ट या पीड़ा है।

उथपे थपन = उत्थापितों को स्थापित करने वाला। उजारि बसावन = उजड़े हुओं को बसाने वाला। गई बहोर = गई हुई वस्तु को पुनः प्राप्त कराने वाला। त्रिरद सदई है = आपका सदा का विरद है। अभय बाँह··न दई है = किस-किस को अभय बाँह नहीं दी।

[१०]

इस पद में भक्ति-मार्ग की कठिनाइयों की अभिव्यक्ति की गयी है। सगुण भक्ति कहने-सुनने में बड़ी सरल प्रतीत होती है; किन्तु इस मार्ग की कठिनाइयों को कोई भुक्त-भोगी ही जान सकता है।

सफरी सनमुख·····गजभारी = मछली जैसा अल्प जीव गंगा की धारा में प्रतिकूल तैर सकती है जब कि हाथी उस प्रवाह में बह जाता है। ज्यों सर्करा·····त्रिनु प्रयास ही पावै = जिस प्रकार शक्कर के कणों को यदि बालुका में बिखेर दिया जाय तो किसी की सामर्थ्य नहीं कि उनको

बालू से अलग कर सके; किन्तु रसज्ञ पिपीलिका अनायास ही उन कणों को खोज लेती है।

सकल दृश्य······अतिशय द्वैत वियोगी = जो योगी दृश्यमात्र को अपने पेट में समेट कर अर्थात् कार्य रूप दृष्य-जगत् को कारण रूप परमात्मा में लीन करके तथा अज्ञानरूपी निद्रा का परित्याग करके नाम-रूपात्मक जगत् के प्रति विमुख हो जाता है वही मुक्त पुरुष द्वैतभाव से आत्यन्तिक मुक्ति पाता है और वही सच्चिदानन्दघन परमात्मा की अनुभूति करता है। जब तक मन में द्वैतभाव है तथा संसार की तृष्णा है तब तक भक्ति सुलभ नहीं है।

सोक मोह······निरमल न जाहीं = इस अद्वैत की अवस्था में द्वैत-जन्य शोक, मोह, हर्ष, भय, आदि की प्रतीति नहीं होती। इस अवस्था में देश-काल का अस्तित्व भी नहीं रह जाता।

तुलसीदास······निरमूल न जाहीं = तुलसीदासजी कहते हैं कि इस मनोदशा में अवस्थित हुए बिना संशय निर्मूल नहीं होते। अविद्या का आत्यन्तिक ह्रास नहीं होता।

●

कविवर रहीम

अब्दुल रहीम खानखाना अकबर के नवरत्नों में एक थे। उन्हें जीवन का व्यापक अनुभव था। युद्धक्षेत्र, प्रशासन और कूटनीति के सभी दाँव-पेंच उन्हें ज्ञात थे। जहाँगीर के वे अभिभावक भी रहे और उन्हें मुगल-

सैन्य शिविर में बन्दी बनकर भी रहना पड़ा। साम्राज्य के बड़े-से-बड़े पद पर प्रतिष्ठित होने का गौरव भी उन्हें मिला और मुगल-दरबार के अपमानों के कटु घूँट भी उन्हें पीने पड़े। इसलिए जीवन के उत्थान-पतन का जितना गहरा अनुभव रहीम को था उतना सामान्य मनुष्य को नहीं होता। रहीम ने जीवन भर विचार-मन्थन किया था और उस विचार-मन्थन से जो भाव-रत्न निकले वे उनके नीति के दोहे कहलाते हैं। रहीम हिन्दी-साहित्य में अपने नीति के दोहों के लिए प्रसिद्ध हैं। हिन्दी जनता जीवन के विभिन्न प्रसंगों में जिस प्रकार तुलसी की चौपाइयों का स्मरण करती है, उसी प्रकार रहीम के दोहों का भी।

रहीम अद्‌भुत प्रतिभा के कवि थे। फारसी, संस्कृत, व्रजभाषा तथा अवधी पर उनका अधिकार था। भाषा के सुसंस्कृत रूप के वे पारखी थे। इसलिए भाषा का जो परिमार्जित, सुष्ठु, प्रांजल रूप रहीम की कविता में मिलता है वह मध्यकालीन कवियों में प्रायः उपलब्ध नहीं होता। अकबर के उदार वातावरण में शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करने के कारण संकीर्णता इस कवि को छू भी नहीं गयी थी। वह सच्चे अर्थों में भारतीयों का 'भारतीय था।' रहीम मुसलमान थे और आजीवन मुसलमान रहे; किन्तु वैष्णव-भक्ति-पद्धति का जितना निखरा हुआ रूप रहीम की कविता में मिलता है उतना बहुत-से हिन्दू वैष्णव-भक्तों की कविता में भी नहीं मिलता। उनकी कविता में पौराणिक सन्दर्भों का पुष्कल प्रयोग हुआ है, किन्तु उन्होंने उन सन्दर्भों के प्रयोग में कहीं भी भूल नहीं की। रहीम का काव्य की सभी विधाओं पर समान अधिकार था। उनके दोहों और कविता में संस्कृत मिश्रित व्रज-भाषा का प्रांजल रूप मिलता है, तो बरवों में अवधी भाषा का माधुर्य है। रहीम जितने बड़े साहित्य-स्रष्टा थे, उससे कहीं बड़े साहित्यकारों के आश्रय-दाता थे। उनके द्वारा दिये गये दान से न मालूम कितने साहित्य-सेवियों का निर्वाह होता था। रहीम जैसा उदार और बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न व्यक्तित्व मध्ययुग में दूसरा नहीं मिलता।

[१]

अच्युत-चरन-तरंगिनी = भगवान् विष्णु के चरणों में तरंगित होने-वाली, गंगा। सिव-सिर-मालति माल = शिवजी के जटा-जूट में गुँथी हुई मालती माला के समान सुशोभित। सुरसरी = हे देवनदी। हरि न बनायो = अपनी कृपा के प्रसाद से मुझे विष्णु-पद न देना। कीजो इन्दव भाल = मुझे आप शिव-पद की प्राप्ति कराएँ। भाव यह है कि शिवत्व प्राप्त होने पर मैं आपको शिरोधार्य कर सकूँगा। व्यंजना यह भी है कि गंगा अपने भक्तों को विष्णु-पद तथा शिव-पद तक प्रदान करने में समर्थ हैं। इस दोहे से हम अनुमान लगा सकते हैं कि कवि ने हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों का कितना गम्भीर अध्ययन किया था तथा उसने उनके धार्मिक विश्वासों के साथ कैसा भावात्मक तादात्म्य स्थापित किया था।

[२]

स्वाति एक गुण तीन = स्वाति नक्षत्र में बरसे हुए जल की बूँदें एक हैं; किन्तु तीन भिन्न वस्तुओं में वे तीन पृथक् रूप धारण करती हैं। कदली में कपूर, सीपी में मोती तथा सर्प के मुख में विष बनती हैं।

[३]

करमहीन = भाग्यहीन। धँस्यो = प्रविष्ट हुआ। ह्वैगो भोर = प्रभात हो गया।

[४]

निभै = निर्वाह हो सके। केर बेर को संग = कदली तथा बेर का साथ। वे डोलत रस आपने = वे अपने स्वभाव के अनुसार हिलते हैं। फाटत अंग = पत्ते फट जाते हैं। यहाँ अन्योक्ति अलंकार है। केला और बेर की कँटीली झाड़ी का कभी साथ नहीं निभ पाता। तनिक हवा के चलने

पर बेर की झाड़ी से केले के पत्ते फट जाते हैं। इसी प्रकार दुष्ट के साथ सज्जन का वास भी सम्भव नहीं है।

[५]

काज परै = काम पड़ने पर। काज सरै = मतलब निकल जाने पर। भँवरी के भए = विवाह के समय दूल्हे के सिर पर खजूर के पत्तों का मौहर सजाया जाता है। उसकी बड़ी शोभा और प्रतिष्ठा होती है; किन्तु विवाह का उत्सव समाप्त होने पर उसे नदी में विसर्जित कर दिया जाता है।

[६]

गंगनाम भो धीम = गंगा का अस्तित्व ही समाप्त हो गया।

[७]

रहिमन दावे ना दबैं = दबाने से दबते नहीं हैं।

[८]

गुन = रस्सी तथा गुण (श्लेष अलंकार)। मन काहू को बाँढ़ि = क्या किसी का मन कुएँ से भी गम्भीर होता है अर्थात् नहीं होता। गुणी में यदि गुण हैं तो उसे गुण ग्राहक मिलते ही हैं।

[९]

कदली सुपत सुडील = कदली के सुन्दर चिकने पत्ते।

[१०]

ओछौ = नीच, छोटा आदमी। प्यादे सों फरजी······टेढ़ो जाय। शतरंज के खेल में जब प्यादा मुहरा वजीर के खाने तक पहुँच कर वजीर बन जाता है तब वह सीधा और तिरछा चलने लगता है।

[११]

करिबौ हुतौ = करना ही था। इहै हवाल = यही दशा।

[१२]

बित हानि = वित्त का विनाश।

[१३]

देनहार = दाता । भरम हम पै धरें = भ्रमवश सोचते हैं कि यह दान रहीम ने किया है । नीचे नैन = लज्जा के कारण दृष्टि झुकी हुई है ।

[१४]

प्रीतम छवि = यहाँ भगवान् से अभिप्राय है ।

[१५]

पावस देखि·····पूछत कौन = यहाँ अन्योक्ति अलंकार है। कोयल से संकेत विद्वान् गुणी जन की ओर है तथा दादुर मूर्ख अविद्वान् का प्रतीक है।

[१७]

हित अनहित ह्वै जाय = मित्र शत्रु हो जाता है । रुधिरै = रुधिर ही ।

[१९]

रहिमन आँटा के लगे······दिन राति = मृदंग से अभिप्राय है ।

[२०]

साँकरी = संकीर्ण । दूजो ना ठहराहिं = दूसरा नहीं ठहरता । आपु अहै = आप है । आपुन नाहिं = आप नहीं है ।

[२१]

परे मामिला = कोई काम आ पड़ने पर ।

[२२]

रहिमन नीच·····घरिआर = इस दोहे में समय की गणना करने की विधि का उल्लेख है । घड़ी के आविष्कार के पूर्व समय की गणना बड़ी साधारण विधि से की जाती थी । एक ताँबे की घंटी के पेंदे में छेद करके जल-पात्र के ऊपर रख दिया जाता था । बारीक छेद से धीरे-धीरे घटिका में पानी भरता जाता था । जैसे ही घंटी पानी में डूब जाती थी वैसे ही राज-प्रतिष्ठानों में घंटा बजाया जाता था । चौबीस घंटे की अवधि को

६४ घड़ियों में तथा आठ प्रहरों में विभक्त किया गया था। यह घड़ियाल जल-पात्र के ऊपर ही लटका रहता था। रहीम ने इस तथ्य का बहुत सुन्दर प्रयोग दुष्टों की संगति का प्रभाव प्रदर्शित करने के लिए किया है। कवि का कहना है कि जल को तो घंटिका चुराती है; किन्तु पास रहने के कारण बेचारे घड़ियाल पर चोट पड़ती है। इसी प्रकार कभी-कभी निरपराध व्यक्ति को बुरी संगति में रहने का परिणाम भुगतना पड़ता है।

[२३]

ज्यों जरदी······चून = जिस प्रकार चूना और हरदी को मिलाये जाने पर दोनों ही अपने रंग का परित्याग कर देते हैं।

बरवै

[१]

करत घुमड़ि घन-घुरवा = बादल घुमड़-घुमड़कर गर्जन कर रहे हैं। मुरवा सोर = मयूर शोर मचा रहे हैं। लगि रह बिकसि अँकुरवा = लता-गुल्मों में नवीन-नवीन अंकुर फूटने लगे हैं। इस बरवै में प्रकृति का कामोद्दीपक रूप चित्रित किया है। वचन-विदग्धा नायिका नायक से (नन्दकिशोर) वचन-चातुरी द्वारा यह संकेत कर रही है कि वर्षा की यह सुहावनी ऋतु रतिक्रीड़ा के अनुकूल है।

[२]

इस बरवै में कृष्ण (नायक) के सौन्दर्य पर सागर का आरोप करके यह व्यक्त किया गया है कि नायक का रूप अत्यन्त लुभावना है। जिस प्रकार अगाध समुद्र में पड़ने वाली वस्तु उसमें तुरन्त ही निमग्न हो जाती है, उसी प्रकार नायक को देखते ही चेतना उसके रूप में निमग्न हो जाती है। मुग्धा नायिका के अनुराग का सुन्दर चित्रण है।

[३]

प्रोषित पतिका नायिका की मनःस्थिति का सुन्दर चित्रण किया गया

है। वसन्त की सुहावनी ऋतु में नायक और नायिका परस्पर फाग खेल रहे हैं; किन्तु बेचारी प्रोषित पतिका को सारे दिन काग ही उड़ाने पड़ रहे हैं। लोक-विश्वास के अनुसार आने वाले व्यक्ति का नाम लेकर कौए से कहा जाता है कि यदि अमुक व्यक्ति आज आ रहा हो तो तू उड़ जा।

[४]

प्रतीक्षारत नायिका का बड़ा सुन्दर चित्रण है। रहे प्रान परि पलकनि = प्राण मानो पलकों में आ गए हैं। दृग मग माहिं = नेत्र राह में बिछे हुए हैं।

[५]

तनकहु = तनिक भी। इस बरवै में विरह-विदग्धा गोपिकाओं की दर्शनोत्कण्ठा की बड़ी सहज, किन्तु मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति है।

मदनाष्टक

'मदनाष्टक' का कथानक भी वही है जो रास-पंचाध्यायी का है। खड़ी बोली की शैली में कहीं-कहीं फारसी और कहीं-कहीं संस्कृत का पुट विशेष रूप से द्रष्टव्य है। इसमें संस्कृत कविता का प्रिय छन्द मालिनी का प्रयोग किया गया है।

[१]

चाँद की रोशनाई = चन्द्रमा का प्रकाश। निकुंजे = निकुंज का सप्तमी विभक्ति का एक वचन रूप। साइयाँ छोड़ भागीं = अपने-अपने पतियों का परित्याग करके दौड़ पड़ीं। मदन-शिरमि भूयः...क्या बला आन लागी = यह कौन-सी मुसीबत आ गयी।

[२]

चपल चखन-वाला = चंचल नेत्रों वाला। अलबेला = विलक्षण।

[३]

दिल बिदारैं = हृदय विदीर्ण करती हैं।

[४]

असल अमृत प्याला = वास्तविक अमृत का प्याला।

●

रसखानि

अपनी रसद्रवित सहज भावाभिव्यक्ति में रसखानि सचमुच रस की खानि हैं। भारतेन्दु बाबू की एक प्रसिद्ध उक्ति है, 'इन मुसलमान हरि-जनन पै कोटिन हिन्दू बारियै।' और यह उक्ति रसखानि जैसे कवियों पर ही यथार्थ चरितार्थ होती है। रसखानि ने एक जगह लिखा है कि, 'कोटिक हौं कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारौं।' और आज भी गोकुल के समीप बनी हुई मियाँ रसखान की कब्र के चारों ओर सचमुच करील की झाड़ियाँ ही उगी हुई हैं। रसखान ने वही लिखा जिसका उनके हृदय ने अनुभव किया। रसखानि 'बादसा-बंस की ठसक छाँड़ि' कर रसखान बने थे। गोस्वामी विट्ठलनाथ ने उन्हें पुष्टिमार्ग में दीक्षित किया था। 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' कार का मत है कि—"जैसें जैसें लीला के दर्शन बिनकूँ भए। वैसे ही वर्णन किए।" रसखाजि की कविता प्रतीकात्मक तरलता से युक्त है। उनकी सम्पूर्ण कृतियों में आत्म-तल्लीनता, प्रेमजन्य आत्मोत्सर्ग और भावना की गहराई परिलक्षित होती है। व्रजभाषा का मृदु-मंजुल रूप रसखानि के सवैयों में मिलता है। भाषा का सहज-माधुर्य उनके प्रत्येक छन्द में विद्यमान है। कृष्ण की बाल-लीला, वेणुवादन, गो-

चारण और निकुंजलीला कवि के प्रिय विषय हैं। 'प्रेमवाटिका' में कवि ने प्रेम की महिमा का गुण-गान किया है। मध्यकालीन भावुक कवियों में रस-खानि का स्थान अन्यतम है।

[१]

यह रसखानि का अति प्रसिद्ध सवैया है। भाषा प्रांजल और प्रसाद-गुण युक्त है। गाँव के ग्वारन = गोकुल गाँव के ग्वालों के बीच में। धेनु मझारन = गौओं के बीच में। जो धरयो' ''धारण = जिसको छाते के समान पुरन्दर विष्णु (कृष्णावतार में) ने अपने हाथ पर धारण किया था।

[२]

लकुटी = गाय चराने की लकड़ी। कामरिया = गाय चराने के समय साथ रहने वाली कमरी। बिसारौं = भूल जाऊँ। कबौं = अभिलाषासूचक प्रयोग है, कभी ऐसा सौभाग्य मिले अथवा न मालूम कब यह सौभाग्य प्राप्त होगा। कलधौत के धाम = सुवर्ण-मन्दिर। करील = एक प्रकार की कँटीली झाड़ी जिसमें पत्र-पुष्प कुछ भी नहीं होते। यमुना के किनारे करील बहुत पाया जाता है। इस झाड़ी के कुंजों में कृष्ण की प्रणय-लीलाएँ होती थीं।

[३]

बालकृष्ण की छवि के साथ-साथ उस कौए के भाग्य की सराहना की जा रही है जो कन्हैया के हाथ से झपट्टा मार कर मक्खन रोटी लेकर उड़ गया। धूरि भरे = धूलि-धूसरित। पैजनियाँ = बच्चों के पैरों में पहनाया जाने वाला आभूषण, इस आभूषण की लरों में घुंघुरू जैसे छोटे-छोटे दाने जड़े रहते हैं जो चलने-फिरने में मधुर ध्वनि करते हैं।

[४]

कृष्ण के वियोग में गोपिकाओं के पारस्परिक वार्तालाप के द्वारा कंस की दासी कुब्जा के प्रति व्यंग्य की व्यंजना है।

सहिए' ''सहावै = अपना समय खराब है अब तो सब कुछ सहना पड़ेगा

जो विधाता सहने को विवश करता है। नेम = नियम। क्यों हूँ = किसी-न-किसी प्रकार। चलौ री' 'कहावैं = कृष्ण अब तुच्छ दासियों में ही अनुरक्त होने लगे हैं तो चलो अब सब मिलकर दासियाँ ही कहलावैं, किसी-न-किसी प्रकार उनका दर्शन तो सुलभ हो।

[५]

इस सवैए में गोपिकाओं का प्रेमभरा परिहास चित्रित किया गया है। दधि बेचने को जाती हुई गोपिकाओं के साथ कृष्ण छेड़-छाड़ करने लगे हैं। मार्ग रोक कर खड़े हो जाते हैं तो प्रत्येक से दही का दान माँगते हैं। गोपिकाएँ इतनी सीधी तो नहीं जो माँगने मात्र से दधि लुटाने लगें। छेड़छाड़, छीना-झपटी शुरू हो जाती है। इसी सन्दर्भ में कृष्ण को चेतावनी देती हुई प्रेमिकाएँ कहती हैं कि यदि हममें से किसी के आभूषणों का एक छल्ला भी इधर-उधर हो गया तो उसकी कीमत स्वयं को बेचकर भी न चुका सकोगे।

[६]

मुरली के प्रति गोपिकाओं के सपत्नी भाव की व्यंजना है। गोपिकाएँ कृष्ण की लीला करना चाहती हैं। एक गोपी से कृष्ण का स्वाँग करने को कहा जाता है, वह मयूर मुकुट इत्यादि सब कुछ साज-सज्जा धारण करने को प्रस्तुत है; किन्तु उस दुष्ट मुरली को अपने ओठों से कदापि नहीं लगा सकती जो कृष्ण के ओठों के अमृत का पान करती है।

[७]

राधिका के अनुराग की व्यंजना है। कृष्ण को देखते ही राधिका प्रणयातिरेक के कारण अचेतन हो गयी हैं। आनि कढ़्यौ = राधिका की गली में आ निकला। कछु टोना सों डारैं = कुछ जादू-सा कर दिया है। नैक' 'दीठि = राधिका की ओर तिरछी नजर से तनिक देख गया है। मूठि-सी मारैं = मूठ मारना एक तान्त्रिक प्रयोग है। तान्त्रिक मन्त्रों से

अभिमन्त्रित करके एक मन्त्र शत्रु का संहार करने को अभिप्रेरित किया जाता है जो स्पर्श मात्र से प्राण ले लेता है। कृष्ण ने राधिका की ओर तिरछी नजर से देखा मानो मूठि मार दी। इलाहल=विष।

[८]

कृष्ण की मुरली-ध्वनि से मोहित हुई गोपिका की मुग्धावस्था का चित्रण है।

दूध···सीरयो परयो=दुहा हुआ दूध ठण्डा पड़ गया है। तातो न जमायो=गरम दूध को जमाया न जा सका। जामन···खटाइगो=जिस दूध में जामन दे करके जमाया गया था, उसमें से नवनीत नहीं निकाला जा सका, वह रखा-रखा खट्टा हो गया। आन हाथ···तबहीं तें=तभी से किसी भी व्रजबाला के हाथ-पैर काबू में नहीं रहे। ज्योंही···बारी=नर-नारी तरुणी अथवा नवयुवती। बिल्लाइगो=बेचैन हो गया है। छोहरा=बालक।

[९]

राधा और कृष्ण की नई-नई उभयनिष्ठ प्रीति का सरस चित्रण है। राधिका यमुना-तट पर जल भरने आयी है और कृष्ण वहाँ गाय चराते हुए आये हैं। कहाँलौं···छिपाइबो=भला चन्द्रमा को भी कोई हाथों में छिपा सकता है। इतनी बड़ी प्रीति भी कहीं लोगों की दृष्टि से छिप सकती है। आजु हौं निहारयौ=आज मैंने भली-भाँति देखा। बीर=हे सखी।

[१०]

दुष्टा मुरली ही अब इस गाँव में रहेगी या फिर व्रजबालाएँ ही। इस सौत ने तो कृष्ण को ऐसा वशीभूत कर लिया है कि अब गोपिकाओं की ओर तो वे आँख उठा कर भी नहीं देखते। यह दुःख कैसे सहा जा सकता है। निसि द्यौस=रात-दिवस। यह सौतिन साँसति=यह सपत्नी के द्वारा दी गयी सजा। दहिहै=जलायेगी।

केशवदास

केशवदास ने संस्कृत काव्य-शास्त्र की परिपाटी पर ब्रजभाषा में पहले-पहल काव्यांगों का निरूपण किया इसलिए वे हिन्दी-साहित्य में आचार्य के रूप में विख्यात हैं। कवि के रूप में भी उन्हें अपने जीवन-काल में ही प्रतिष्ठा मिल चुकी थी। केशवदास को अपने कुल के संस्कृत भाषा के पाण्डित्य का अभिमान था। भाषा में कविता करते समय वे एक प्रकार से हीनता का अनुभव करते थे। उन्होंने बड़े क्षोभ के साथ लिखा है—

भाषा बोलि न जानई जिनके कुल के दास।
भाषा कवि मति मन्द भो तेहि कुल केसवदास॥

केशवदास अलंकारवादी थे। चमत्कार-प्रदर्शन उनकी कविता की मुख्य विशेषता है। अलंकारविहीन कविता को वे भूषणविहीन वनिता के समान असुन्दर मानते थे। इसलिए केशव के काव्य में शब्द-चमत्कार तो है किन्तु भावों का सहज बोध उसमें अपेक्षाकृत कम है। जिस प्रकार कवि का कुलीनता एवं संस्कृतज्ञता का अभिमान उनके सहज जीवन-बोध में बाधक रहा उसी प्रकार उनकी कविता संस्कृत परिपाटी के घेरे से बाहर निकल कर जीवन की सहज अभिव्यक्ति न बन सकी। यों लिखने के लिए उन्होंने मुक्तक और रामचन्द्रिका जैसे प्रबन्ध भी लिखे हैं; किन्तु उनमें हृदय की सहज एवं आभ्यन्तर प्रेरणा परिलक्षित नहीं होती। फिर भी इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि केशव ही पहले समर्थ एवं प्रतिभावान कवि थे जिन्होंने भाषा में रीति-ग्रन्थ लिखने की परिपाटी को सुदृढ़ किया और साहित्यिक विवेचन का मार्ग प्रशस्त किया।

[१]

नवोढ़ा स्वकीया नायिका की पहली-पहली लज्जा, संकोच अथवा झिझक का मनोवैज्ञानिक चित्रण है।

लोचन·····नेह नहीं हैं = मन यद्यपि पति-प्रेम में स्नात है, फिर भी

लज्जा करके नेत्रों को नायक के मुख से खींच लेती है। आनन·····कम्प गही है=स्वेद, कम्प तथा पुलक सात्त्विक अनुभाव हैं; इनके द्वारा अभिव्यक्त हर्ष, भय, संचारीभाव हैं। चित्रहु में·····बाँह गही है=फोटो में भी जब नायक को देखती है तो ऐसे सकुचा जाती है मानो नायक ने उसकी बाँह पकड़ ली है।

[२]

नये-नये प्रेम के आवेश से उन्मत्त नवोढ़ा नायिका की मनोदशाओं एवं आङ्गिक विकारों का चित्रण है। चौंकति सी चितवै=चारों ओर देख कर अचानक चौंक उठती है। क्षिति पाँ····तकि छाहीं=मार्ग में किसी की छाया तक यदि उसे दिख जाती है तो (नायक की सम्भावना से) जमीन पर पाँव रखते ही तड़प जाती है। डीठि लगी=पता नहीं बेचारी को किसी की नजर लग गयी है। किधौं बाइ लगी=अथवा कोई भूत-बाधा लग गयी है। मन भूलि परयौ=उसका मन कहीं खो गया है। कै करयौ कछु काहीं=ऐसा तो नहीं है कि किसी ने कोई टोटका कर दिया हो, कुछ जादू-मन्त्र फेर दिया हो। घूँघट की····राधिकै नाहीं=(कृष्ण अथवा नायक को देख लेने के पश्चात् जल भरने को पनघट पर आई हुई) राधिका (नायिका) को न तो घूँघट काढ़ने की चिन्ता है, न वस्त्र सँभालने की चिन्ता है और हे हरि (नायक से दूती का वचन) न उसे अब घड़ा उठाने की ही चिन्ता है। वह अपनी सुधि-बुधि पूरी तरह से खो बैठी है।

[३]

नायक ने मान किया है। नायिका उसके विरह में सन्तप्त है। नायिका की अंतरंग सखी उसे समझाती हुई नायक को मनाने का आग्रह कर रही है। आपुन हूजै·····दुख दीजै=जिसके दुःख से अपना चित्त दुःख पाये उसको दुखी करने से लाभ भी क्या। जा बिन····सब कीजै=जिसके बिना संसार में कुछ भी अच्छा नहीं लगता, उसके लिए तो वही करना पड़ेगा जो उसे अच्छा लगे। वह तो खिझकाइ=वह यदि खिझक गया है,

रूठ गया है। रिसियाइ=नाराज हो जाय। तातो है···पीजै=यह एक मुहावरा है, नायक के क्रोध को शान्त करके ही उसके साथ आनन्दित होना सम्भव है।

[४]

इस कवित्त में कृष्ण-राधिका के उभयनिष्ठ अनुराग का चित्रण है। कोई सखी कृष्ण को राधिका के प्रति अतिशय आकृष्ट जान कर कुण्ठित है। कोई दूसरी सखी उसको समझाती हुई कह रही है कि राधा और कृष्ण में अनन्य एवं प्रकृष्ट अनुराग है। इस अनुराग की तुलना किसी अन्य गोपी के अनुराग से नहीं की जा सकती। इसलिए तुझे कुण्ठित नहीं होना चाहिए।

लाख······बारिदै री=तू अपने हृदय की लाखों प्रकार की अभिलाषाओं को इस अनन्य अनुराग पर जला दे, न्योछावर कर दे। न बारि हिए होरी-सी=अपने हृदय में ईर्ष्या की होली न जला। देखिबे को······जोरी-सी=राधिका और कृष्ण देखने भर को दो हैं, नेत्र-युग्म के समान वस्तुतः वे एक ही हैं।

[५]

इस छन्द में सरस्वती देवी की महिमा का बखान किया गया है। बानी=वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती। वर्णैं पति चार मुख=सरस्वती के पति ब्रह्माजी अपने चारों मुखों से उनकी महिमा का वर्णन करते हैं। पूत वर्णैं पाँच मुख= पुत्र शिव पाँच मुखों से वर्णन करते हैं। नाती वर्णैं षट्मुख=षडानन कार्तिकेय अपने छह मुखों से वर्णन करते हैं।

[६]

नवविवाहिता स्वकीया नायिका के अनुराग का वर्णन है। कोउ जानै नहीं·····'आनन छ्वै निकसै=सखियों के साथ हास-परिहास करती हुई इतनी सफाई से अपांगों से नायक को देख लेती है कि उसकी इस चातुरी को कोई भाँप नहीं पाता।

●

महाकवि बिहारी

बिहारी रीतियुग के सर्वाधिक विख्यात कवि हैं। हिन्दी-साहित्य में जितनी लोकप्रियता इनकी सतसई को प्राप्त हुई उतनी 'रामचरितमानस' को छोड़कर किसी अन्य ग्रन्थ को नहीं। किसी अन्य कृति पर इतनी टीकाएँ भी नहीं लिखी गयीं। बिहारी की लोकप्रियता का प्रधान कारण है दोहे जैसे छोटे छन्द में एक पूरे के पूरे प्रसंग को आयोजित कर देना। 'गागर में सागर' और 'नावक के तीर' जैसे विशेषण उनके इसी गुण को ध्यान में रखकर दिये गये हैं। बिहारी का संयमित एवं चमत्कारिक शब्दनियोजन और सूक्ष्म भावनिरूपण अद्वितीय है। बिहारी की प्रशंसा करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं कि, 'मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा, इसमें कोई सन्देह नहीं। मुक्तक के प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है। इसमें तो रस के छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध-काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसीलिए सभा-समाजों के लिए वह अधिक उपयुक्त होता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित सम्पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि कोई एक रमणीय खण्ड दृश्य इस प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिए मन्त्रमुग्ध-सा हो जाता है। इसके लिए कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा-सा स्तबक कल्पित करके उन्हें अत्यन्त संक्षिप्त और सशक्त भाषा में प्रदर्शित करना पड़ता है। अतः जिस कवि में कल्पना की समाहार-शक्ति के साथ भाषा की समास-शक्ति जितनी ही अधिक होगी उतना ही वह मुक्तक की रचना में सफल होगा: यह क्षमता बिहारी में पूर्णरूप में विद्यमान थी। इसी से वे दोहे ऐसे छोटे छन्द में इतना रस भर सके।

[१]

भव-बाधा = संसार के दुःख । झाँईं = परछाँहीं, आभा, झाँयी या झलक । स्यामु = श्यामवर्ण के कृष्ण, काले रंग वाले पदार्थ जैसे पाप, पातक, दुःख, दारिद्र्य । कवि-परिपाटी में इनका रंग काला माना जाता है । हरित-दुति = हरित द्युति, हरे रंग वाला, हतद्युति, हराभरा, प्रसन्न ।

अपनी सतसई की निर्विघ्न समाप्ति के लिए कवि ने राधा रानी की वन्दना की है । कवि जिस सम्प्रदाय का अनुयायी था उसमें राधा का ही महत्त्व सर्वोपरि था इसलिए उसने राधा की वन्दना करके उनके प्रसंग में ही कृष्ण का स्मरण किया है। सतसई शृङ्गारप्रधान काव्य-ग्रन्थ है इसलिए इसके मंगलाचरण में भी वन्दना शृङ्गार-रस-प्रधान है । रीति-कवियों ने शृङ्गार के परिपाक में नायिकाओं को प्रधानता दी है इसलिए भी राधिका की वन्दना होना उचित ही है । बिहारी-रत्नाकर में इस दोहे के निम्नाङ्कित तीन अर्थ दिये गये हैं—

१. हे वही राधा नागरी, जिनके तन की परछाँही अर्थात् आभा पड़ने से श्यामवर्ण कृष्ण हरे रंग की द्युति वाले हो जाते हैं, मेरी भवबाधा हरो ।

२. हे वही राधा नागरी, जिनके तन की झाँकी अर्थात् झलक (आँखों में) पड़ने से श्री कृष्णचन्द्र हरे-भरे अर्थात् प्रसन्न-वदन हो जाते हैं, मेरी भवबाधा दूर करो ।

३. हे वही राधा नागरी, जिनके तन (रूप) का ध्यान पड़ने से (भक्त के हृदय में आने से) काले रंग वाला (पदार्थ अर्थात् कल्मष) हतद्युति हो जाता है, मेरी भवबाधा हरो ।

[२]

नटत = मना करते हैं । खिलत = खिल उठते हैं, प्रसन्न हो जाते हैं । इस दोहे में कोई सखी नायिका और नायक की दृष्टि-चातुरी को लक्ष्य करके कहती है कि ये दोनों आँखों के इशारे से ही भरे समाज में बातें कर रहे हैं ।

[३]

इस दोहे में अन्योक्ति पद्धति से मुग्धासक्त नायक को भौंरे और कली के माध्यम से शिक्षा दी गयी है। हवाल = हवाल, दशा।

[४]

नायिका की कोई अन्तरंग सखी नायक के पास से होकर आयी है और वह यह विश्वास दिलाना चाहती है कि नायक पर उसके प्रेम का गहरा प्रभाव पड़ा है। इसके प्रमाण में वह कम्प सात्त्विक अनुभाव का संकेत करती है कि उसके कानों के कुण्डल हिल रहे थे। मकराकृति = मछली की आकृति के, कामदेव की पताका पर भी मछली का निशान है। धर्यौ = पकड़ा, अपने अधिकार में कर लिया। हिय-धर = हृदयरूपी धरा अथवा पृथ्वी। समरु = स्मर, कामदेव। ड्यौढ़ी = मुख्य दरवाजे का प्रवेश-भाग जिसमें प्रवेश करने पर भीतर घर का कोई हिस्सा दिखलायी न पड़े। राजपुरुषों की हवेलियाँ इसी प्रकार की बनायी जाती थीं। कान की बनावट भी घुमाव-फिराव की होती है। लसत = विलसत, शोभा पा रहा है, फहरा रहा है। निसान = (फा० निशान) झण्डा।

[५]

भक्ति का प्रतिपादन है। 'स्याम रंग' तथा 'उज्जलु' श्लिष्ट पदों के आधार पर विरोधाभास अलंकार का चित्रण है।

अनुरागी = अनुराग करने वाला, इसका एक अर्थ लाल रंग वाला भी हो सकता है। स्याम रंग = कृष्ण की भक्ति, काला रंग। उज्जलु = पवित्र तथा श्वेत।

[६]

भक्ति का प्रतिपादन है। कवि कृष्ण राधिका की भक्ति को मन की पवित्रता का सर्वश्रेष्ठ साधन मानता है। तीर्थराज के निर्माण के विषय में दो कल्पनाएँ की जा सकती हैं। एक, कृष्ण और राधिका की तनद्युति

यमुना और गंगा नदियाँ हैं इनमें भक्त के अनुराग की सरस्वती मिल कर त्रिवेणी का निर्माण करके तीर्थराज बनाती है। दूसरे, कृष्ण के चरणों की श्यामल कान्ति, यमुना, उनके चरणों का उज्ज्वल प्रकाश गंगा तथा राधिका के चरणों की स्वर्णिम कान्ति सरस्वती नदियाँ हैं जो नृत्य के समय व्रज के निकुंज मग में पग-पग पर तीर्थराज का निर्माण करती हैं।

[७]

युगलकिशोर की पारस्परिक अनुरक्ति का प्रतिपादन है।

नितप्रति एकत हीं रहत = नित्यप्रति साथ ही रहते हैं, एक क्षण को भी जो वियुक्त नहीं होते। बैस-बरन-मन-एक = जिनकी वयस, वर्ण तथा मन भी अभिन्न एवं एक-दूसरे के अनुरूप हैं। चहियत = अभिलाषासूचक क्रियापद है। जुगलकिशोर = किशोरावस्थासम्पन्न राधा और कृष्ण। लोचन-जगल = नेत्रों के जोड़े।

[८]

प्रोषितपतिका नायिका की कोई अन्तरंग सखी नायक के पास जाकर नायिका की विरह-वेदना का बखान करती है। यह दोहा रीतिकाल की ऊहात्मक उक्तियों का उदाहरण है। आड़े दै = बीच में देकर जिससे ताप का असर रुक सके। आले बसन = भींगे कपड़े।

साहसु कै = साहस कर-करके। ढिग जाति = समीप जाती है।

[९]

बाज के माध्यम से किसी ऐसे राजपुरुष के प्रति कवि की उक्ति है जो राजा के मुँह लग कर अपने जाति-बिरादरी के लोगों को बेमतलब कष्ट पहुँचा रहा है। अन्योक्ति अलंकार स्पष्ट ही है। स्वारथु न = तेरा कोई अपना लाभ भी नहीं है। सुकृतु न = दूसरों को कष्ट पहुँचाना कोई पुण्य कार्य भी नहीं है। विहंग = पक्षी, स्वच्छन्द प्रकृति वाला। पच्छीनु = पक्षियों को, अपने पक्ष वालों को, स्वजनों को।

[१०]

कवि भगवान् से प्रार्थना कर रहा है कि आप नटवर वेष में मेरे हृदय में सदा निवास करें। इहिं बानक = इस वेषभूषा के साथ।

[११]

नायिका अपनी अन्तरंग सखी से अपनी प्रणयासक्ति का बखान करती हुई कह रही है, नायक को देखे बिना इन नेत्रों से आँसू बहा करते हैं। इसमें आँखों का आँसुओं में डूबना, आँसुओं का ढलना, फिर भरना क्रियाओं के लिए समयसूचक घटिका का आरोप बड़े सटीक रूप में किया गया है। समयबोधक जलयन्त्र की कटोरी एक घड़ी में जल में डूब जाती, उसको फिर बाहर निकाला जाता है और वह फिर डूब जाती है। यह क्रिया सतत चलती रहती है। यही दशा नायिका के नेत्रों की भी है।

[१२]

श्रीकृष्ण ने एक बार वृन्दावन में लगी हुई आग को पीकर व्रज की रक्षा की थी। उनके गले में पड़ी हुई गुंजों की माला के दमकते हुए लाल रंग को लक्षित करके कवि उत्प्रेक्षा करता है मानो उनके द्वारा पी गयी दावाग्नि की ज्वाला बाहर शोभा पा रही है।

[१३]

नवोढ़ा नायिका की लचीली गमन-मुद्रा की अभिव्यक्ति है। भूषन-भारु = आभूषणों का बोझा। सूधे पाइ न धर परै = तेरे पैर सीधे नहीं पड़ रहे हैं।

[१४]

अंकुरित यौवना नायिका की सखी नायक से उसके क्षण-क्षण पर बढ़ते हुए यौवन तथा शरीर की कान्ति की प्रशंसा कर रही है। सबी = (शबीह अर०) यथार्थ चित्र। गरब गरूर = (गर्व सं०) (गुरूर, अर०), चित्रकारी का अभिमान। कूर = मूर्ख।

[१५]

नायिका के कटाक्षों की प्रशंसा है। कित = कहाँ। कमनैती = धनुर्विद्या। जिहि = ज्या, धनुष को बाँधने की रस्सी। बेधैं = बार किये, बिधना।

चलचित''''''बान = चंचल चित्त तेरे कटाक्षों का निशाना बिना बने नहीं बचता।

[१६]

परकीया नायिका अपने अनुभावों को अपनी अन्तरंग सखी से कह रही है। उरझत = उलझते हैं, मिलते हैं। टूटत कुटुम = कुटुम्ब से नाता टूट जाता है। परति गाँठि दुरजन हिए = दुर्जनों के हृदय में ईर्ष्या की गाँठ पड़ जाती है। इस दोहे में असंगति अलंकार का चमत्कार दर्शनीय है।

[१७]

वसन्तऋतु के शीतल मन्द समीर पर मतवाले हाथी का आरोप करके उसकी गति का सांगरूपक अलंकार की शैली में वर्णन किया गया है। रनित = बजती है। आवतु चल्यौ = चला आ रहा है।

[१८]

यहाँ बासन्ती समीर के झोंके पर पथिक का आरोप है।

[१९]

उर्दू की 'नाजुक खयाली' की शैली में नायिका के गौर वर्ण का चित्रण है। तन अच्छ छवि = शरीर की उज्ज्वल कान्ति। पायंदाज = (फा०) पावदान, टाट या जूट का टुकड़ा जो देहली पर पैर पोंछने को बिछाया जाता है।

[२०]

इस दोहे में तद्‌गुण अलंकार का चमत्कार है। ओठ-डीठि-पट-जोति = ओठों की अरुण कान्ति, दृष्टि की श्वेत आभा तथा पीताम्बर की स्वर्णिम झलक।

[२१]

नायिका मन्दिर में दर्शनार्थ गयी है। संयोग से उसका उपपति भी वहाँ आ पहुँचा। दोनों ने देवप्रतिमा का पूजन किया। मन्दिर की परिपाटी के अनुसार पुजारी ने उन्हें प्रसाद में देव-विग्रह पर चढ़ी हुई मालाएँ प्रदान कीं। संयोगवश नायिका को जो माला मिली वह नायक की चढ़ाई हुई थी। अतः उस माला के स्पर्श मात्र से नायिका में रोमांच (सात्त्विक अनुभाव) पैदा हुआ। किसी सखी ने इस रोमांच को लक्षित किया। वह व्यंग्योक्ति के द्वारा नायिका की छिपी हुई प्रीति का कथन कर रही है।

कदंब की माल = कदम्ब पुष्प के चारों ओर बारीक रोएँ होते हैं, रोमांच से अभिप्राय है।

[२२]

कृष्ण और गोपिकाओं की सरल अठखेलियों का सुन्दर चित्रण है। दोहे जैसे छोटे छन्द में एक पूरी घटना को कैसे आयोजित कि.. .. सकता है इस कौशल का यह दोहा श्रेष्ठ उदाहरण है।

बतरस-लालच = कृष्ण के साथ बातचीत का रस-लाभ करने के उद्देश्य से। धरी लुकाइ = कहीं छिपा दी। सौंह करैं = कृष्ण द्वारा माँ-बाप की शपथ दिलाये जाने पर। भौंहनु हँसैं = भौंहों के इशारे के साथ गोपिकाएँ हँस पड़ती हैं। दैन कहैं = मुरली को लाकर देने का वचन देती हैं। नटि जाइ = मुकर जाती हैं। कह देती हैं हमें तुम्हारी मुरली का कुछ भी पता नहीं।

[२३]

ग्रीष्म के प्रचण्ड ताप का वर्णन है।

कहलाने = कातर, व्याकुल होकर। एकत बसत = एक ही स्थान पर पड़े हुए हैं। दीरघ दाघ निदाघ = ग्रीष्म की प्रचण्ड ताप।

[२४]

प्रेमातिरेक की सुन्दर अभिव्यंजना है। प्रेमातिरेक नायक में इतना है कि वह अपनी पाती में एक शब्द भी नहीं लिख पाता और नायिका में इतना कि पिया की अंकहीन पाती को बड़े चाव से पढ़ती है।

[२५]

प्रियतम की पाती मिलने पर नायिका को कितना हर्ष हुआ है इसकी अभिव्यंजना उसके विभिन्न अनुभावों द्वारा की गयी है।

[२६]

प्रेमविह्वल नेत्रों की दशा का वर्णन उन पर मुँह जोड़ घोड़ों का आरोप करके किया है।

●

मतिराम

मतिराम रीति-युग के प्रमुख कवियों में हैं। मतिराम की रचना की सबसे बड़ी विशेषता सहज संवेदनशीलता है, उसमें न तो भाषा की कृत्रिमता है और न अलंकारों की। मतिराम की भाषा प्रांजल है उसमें शब्दाडम्बर का व्यर्थ प्रदर्शन नहीं है। केवल शब्द-चमत्कार लाने के लिए उन्होंने भरती के शब्दों का प्रयोग नहीं किया। भावों की सरस अभिव्यंजना उनकी विशेषता है। मतिराम के समान स्वच्छ सरल भाषा का प्रयोग रीतिकाल के कवियों ने प्रायः कम किया।

मतिराम ने अपने काव्य में जिन चेष्टाओं, व्यापारों का, अनुभूतियों का चित्रण किया है वे अनायास ही पाठक के मन को प्रभावित करते हैं, क्योंकि

उनमें बनावट नहीं है। आचार्य शुक्ल लिखते हैं कि आँखों को आसमान पर चढ़ाने और दूर की कौड़ी लाने के फेर में ये नहीं पड़े हैं। नायिका के विरहताप को लेकर बिहारी के समान इन्होंने मजाक नहीं किया है। इनके भावव्यंजक व्यापारों की शृंखला सीधी और सरल है। वचन-वक्रता भी इन्हें बहुत पसन्द नहीं थी। जिस प्रकार शब्द-वैचित्र्य को ये वास्तविक काव्य से पृथक् मानते थे, इसी प्रकार ख्याल की झूठी बारीकी को भी। इनका सच्चा कवि-हृदय था। ये समय की प्रथा के अनुसार रीति की बँधी लीकों पर चलने के लिए विवश न होते, अपनी स्वाभाविक प्रेरणा के अनुसार चलने पाते, तो और भी स्वाभाविक तथा सच्ची भाव-विभूति दिखलाते इसमें कोई सन्देह नहीं। भारतीय जीवन से छाँटकर लिये हुए इनके मर्मस्पर्शी चित्रों में जो भाव भरे हैं, वे समान रूप से सबकी अनुभूति का अंग हैं।

[१]

नवयौवना नायिका के रूप का वर्णन है। कुंदन''लगै = उनके शरीर की स्वर्णिम कान्ति के सम्मुख सोने का रंग भी फीका लगता है, (व्यतिरेक अलंकार)। गुराई = गोरापन। चितौन''सरसाई''उसकी दृष्टि में काम के सुन्दर संकेत दिखलाई पड़ने लगे हैं। मुसकानि मिठाई=मुस्कराहट का माधुर्य। नेरे है = समीप जाकर। त्यौं-त्यौं''निकाई = उसका निखरा हुआ सौन्दर्य वैसे-वैसे खरा दिखलाई पड़ता है।

[२]

कृष्ण के साथ क्रीड़ा करने की अभिलाषा बड़े सहज ढंग से व्यक्त की गयी है।

[३]

कृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन है। मीठी लगै अँखियान लुनाई = यहाँ विरोधाभास का चमत्कार है। लुनाई का शाब्दिक अर्थ लावण्य है। इसका

अर्थ सौन्दर्य भी है तथा नमकीनपन भी। किसी पदार्थ का नमकीनपन मीठा कभी नहीं लग सकता। अतः वाच्यार्थ में विरोध है, किन्तु लक्षणा से जब लावण्य का अर्थ सौन्दर्य करते हैं तब विरोध का परिहार हो जाता है।

[४]

कृष्ण के प्रेम में उन्मत्त नायिका के अनुभावों का चित्रण है। जा छिन तै = जिस क्षण से। छिन-ही-छिन-छीन = उसी क्षण से नायिका क्षण-प्रतिक्षण क्षीण होती जा रही है। किसलै = किशलय, किशलय में वह कृष्ण के शरीर की कान्ति और मृदुता पाती है। भोरी-भई है मयंकमुखी = यह चन्द्रमा के समान सुन्दर मुखवाली शायद पागल हो गयी है। भुज भेटति··· तमालहिं = तमाल वृक्ष में कृष्ण के शरीर की श्यामलता पाकर उसी को भुजाओं में भर कर भेंटने लगती है।

[५]

राधिका की मुख-छवि का वर्णन है।

चारिवदन = ब्रह्मा। बनाय कै = खूब साज-सँभार के साथ।

रैन पति = निशापति, चन्द्रमा। ताकी रुचि···बगराय कैं = उसकी रुचिरता का अपहरण करने के लिए निशाकर आकाश में उदित हुआ। उस मूढ़मति ने अपनी किरणों का जाल सभी दिशाओं में फैला दिया। निसिचर = श्लेष अलंकार है, राक्षस तथा रात्रि में विचरण करने वाला। चोर = सूर्य की कान्ति को चुराने वाला, अथवा राधिका के मुख की कान्ति को चुराकर आकाश में फैलाने वाला। दीनी है सजाइ = यह दण्ड दिया। कमलासन = ब्रह्मा। अमरालय = स्वर्ग-लोक। मुख में···कारिख लगायकै = मध्यकालीन दण्ड-विधान में एक दण्ड यह भी था कि चोर का मुख काले रंग से रँग कर उसे समाज में घुमाया जाता था। ब्रह्मा ने चन्द्रमा को चोरी की यही सजा दी है कि उसे अपने मुख पर कालिख लगा करके स्वर्गलोक का चक्कर लगाना पड़ता है।

कवि-भूषण

वीर-रस के प्रसिद्ध कवि भूषण मतिराम के भाई थे। चित्रकूट के सोलंकी राजा ने इन्हें कवि भूषण की उपाधि से सम्मानित किया था। तभी से इनका नाम भूषण ही प्रसिद्ध हो गया। इनका सम्बन्ध अनेक राजदरबारों से था। किन्तु जितना इनका मन महाराज छत्रपति शिवाजी के दरबार में रमा उतना अन्यत्र नहीं; यों पन्ना के महाराज छत्रसाल के यहाँ भी इनका बड़ा मान-सम्मान हुआ। कहा जाता है कि भूषण की अगवानी में महाराज छत्रसाल स्वयं पधारे थे और इनकी पालकी में अपना कन्धा लगाया था जिस पर भूषण ने कहा, "सिवाकों बखानौं कि बखानौं छत्रसाल कौं।"

वीर काव्य लिखने में भूषण अद्वितीय हैं। वैसे तो प्रत्येक कवि ने अपने आश्रयदाता की दानवीरता तथा युद्धवीरता का खूब अतिरंजित चित्र आँका है; किन्तु उनकी वे अतिरंजनाएँ राजदरबारों तक ही सीमित रहीं, जनता के हृदय का हार न बन सकीं। किन्तु भूषण की कविता का सम्मान हिन्दी भाषी जनता के घर-घर में हुआ और यह सम्मान तब तक होता रहेगा जब तक राष्ट्रीय वीरों का हमारे हृदय में सम्मान बना रहेगा। भूषण की कविता का इसलिए सम्मान हुआ कि उसका आधार सत्य था। अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लड़ने वाले वीरों की सच्ची यश-गाथा थी। हम इन वीरता-वर्णनों को झूठी खुशामद नहीं कह सकते, भले ही उस वर्णन में अतिरंजना हो। छत्रसाल और शिवाजी औरंगजेब के अन्यायों के विरुद्ध लड़ने वाले वीर थे, उनकी यशगाथा गाने वाले भूषण हिन्दू समाज के जातीय कवि के रूप में सम्मानित हैं।

भूषण की कविता में ओज तो खूब है; किन्तु भाषा की व्यवस्था में दोष है। उसमें शब्दों को तोड़ने की तथा व्याकरण के नियमों का उल्लंघन करने की प्रवृत्ति अधिक है। यह सब होते हुए भी यह स्वीकार करना

पड़ेगा कि भूषण रीतिकाल के वीर काव्य लिखने वाले एक मात्र सक्षम कवि हैं।

[१]

शिवाजी की वीरता का चित्रण है। कवित्त में सहोक्ति तथा अक्रमातिशयोक्ति अलंकारों की छटा दर्शनीय है।

दुंदभी धुकार = नगाड़े की आवाज। लंघे पारावार = समुद्र की गर्जन का भी अतिक्रमण कर जाती है। बृन्द बैरी बालकन के = शत्रुओं के रोते-चिल्लाते हुए बाल-बच्चों की चीख-पुकार का भी अतिक्रमण कर जाती है। तेरे चतुरंग.....परन के = तेरी अश्वारोहियों की सेना के सूमों से उड़ने वाली धूल के साथ-साथ शत्रुओं की खाक भी उड़ जाती है। शत्रु धूल में मिला दिये जाते हैं।

तेरे हाथ.....दुरजन के = इधर तू हाथ से धनुष चढ़ाता है उधर शत्रुओं के किले तेरे हाथ चढ़ जाते हैं, शत्रुदुर्ग पर तेरा आधिपत्य हो जाता है।

[२]

शिवाजी की सेना के आक्रमण का वर्णन है। बाने फहराने = युद्ध-पताकाओं के आकाश में फहराने पर। नग भहराने = पर्वत चलायमान हो गये। पराने = भाग-दौड़ मच गयी। हाथिन के हौदा लट केस के = शिवाजी के मदमत्त हाथियों के आक्रमण करने पर उनके गण्डस्थल पर से उड़ने वाले भौंरे ऐसे प्रतीत होते हैं मानो शत्रुपक्ष की नारियों की छूटी हुई लटें हों। (उत्प्रेक्षा) दल के दरारन..फन सेस के = शिवाजी की सेना के आक्रमण करने पर पृथ्वी काँपने लगती है। उसके हिलने-डुलने के कारण उसको धारण करने वाले महाकच्छप की पीठ टूक-टूक हो गयी तथा शेषनाग के फन भी घायल होकर केले के पत्ते के समान फैल गये। (अत्युक्ति अलंकार)।

[३]

इस कवित्त में मुगलदरबार में आयोजित शिवाजी की औरंगजेब से भेंट का वर्णन है। शिवाजी को छह हजारी मनसबदारों की पंक्ति में खड़ा किया गया था। इस अपमान को शिवाजी सहन न कर सके।

जानि गैरिमिसिल = अपने स्वागत को असम्मानपूर्ण समझकर। गुसीले = क्रोधी स्वभाव के। गुसा धाई उर = हृदय में क्रोध धारण करके। कीन्हों ना··· सियरे = किसी भी शिष्टाचार का पालन नहीं किया। न तो तख्त को सलाम ही की और न शिष्टाचार के शब्द ही कहे। बलकन लाग्यो = क्रोध से आग-बबूला होकर बड़बड़ाने लगा। सारी पातसाही··· जियरे = औरंगजेबी शाहंशाही दिल में दहशत मानने लगी। तमक तें = क्रोध के आवेश से मुख तमतमाने लगा, आरक्त हो गया। स्याह मुख नौरंग = औरंगजेब का चेहरा काला पड़ गया। स्याह मुख पियरे = उसके सिपाहियों के चेहरे भय से पीले पड़ गये।

[४]

इस कवित्त में छत्रपति छत्रसाल की वीरता का वर्णन बर्छी के माध्यम से किया गया है। बर्छी एक अस्त्र है। बाँस के दण्ड में एक नुकीला फल लगा रहता है।

भुज भुजगेस की = छत्रसाल की बर्छी शेषनाग की भुजा-सी प्रतीत होती है। बै संगिनी भुजंगनी सी = समवयस्का सर्पिणी-सी प्रतीत होती है। दीह = शरीर। दारुन = दारुण, भयंकर। बखतर = लोहे का कवच जो सीने पर बाँधा जाता है। पाखरन = हाथी पर डाली जाने वाली लोहे की झूल (सप्तमी, ब० व०)। मीन··· जलन के = जिस प्रकार मछली जल की गहराई अथवा धारा की तीव्रता की चिन्ता किये बिना समुद्र में चाहे जहाँ प्रविष्ट हो जाती है उसी प्रकार छत्रसाल की बर्छी मोटे-मोटे कवचों और पाखरों में बेलौस घुस जाती है, पार हो जाती है।

पच्छी···परछीने बीर = यहाँ 'परछीने' की पुनरुक्ति में यमक अलंकार है। पच्छी के साथ परछीने का अर्थ है पंख कटे हुए। बीर के साथ अर्थ है पराजित। तेरी बरछी···खलन के = तेरी बर्छी ने शत्रुओं के प्रताप को नष्ट कर दिया है।

[५]

इस कवित्त में महाराज छत्रसाल की युद्ध-वीरता की प्रशंसा तलवार के माध्यम से की जा रही है। अनुप्रास अलंकार की छटा आद्योपान्त दर्शनीय है।

निकसत···प्रलै भानु कै-सी = जिस समय तलवार को म्यान से खींचा जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रलयकालीन सूर्य की किरणें निकल रही हों। (उपमा)। फारैं···गयन्दन के जाल को—सूर्य की किरणें जिस प्रकार अन्धकार को चीरकर नष्ट कर देती हैं, उसी प्रकार काले हाथियों के समूह को छत्रसाल की तलवार चीर कर नष्ट कर देती है। (परम्परित रूपक) रुद्रहिं···माल कों = जो योद्धा वीरतापूर्वक लड़ते हुए शरीर त्याग करता है, भगवान् रुद्र उसकी खोपड़ी को माला के मोती के समान धारण करते हैं। छत्रसाल की तलवार ऐसे अनेक मोतियों से पूजन करके रुद्र को प्रसन्न करती है। कालिका-सी···काल को = असुर-विनाशिनी काली देवी के समान प्रसन्न होकर शत्रु-सेना को काल का ग्रास बनाती है।

●

सेनापति

सेनापति की ख्याति प्रकृति-वर्णन के कारण अधिक है। सम्पूर्ण रीति-काल में सेनापति ही एकमात्र ऐसे कवि हैं जिन्होंने प्रकृति को आलम्बन के

रूप में भी ग्रहण किया है, शेष कवियों में वह मानवीय प्रणय के संयोग और वियोग के सुख-दुःख का उद्दीपन मात्र है। सेनापति के प्रकृति-चित्रण में सूक्ष्म निरीक्षण और विषद चित्राङ्कन मिलता है। ऋतुओं का उन्होंने सांगोपांग एवं सूक्ष्म वर्णन किया है। उनके प्रकृति-चित्रों में सजीवता एवं संवेदनशीलता है और इस दृष्टि से वे अपने समय के कवियों से कहीं आगे हैं।

श्लेष अलंकार के सुन्दर प्रयोग में सेनापति विशेष दक्ष हैं। भाषा की प्रांजलता उनके काव्य में सर्वत्र विद्यमान है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सेनापति की गणना भक्तिकाल के कवियों में की है। उन्होंने सेनापति के पद-विन्यास के लालित्य की प्रशंसा की है। वे सेनापति की कविता को मर्मस्पर्शिनी तथा रचनाशैली को प्रौढ़ और प्रांजल मानते हैं। भाषा पर जैसा अच्छा अधिकार सेनापति का है वैसा बहुत कम कवियों का देखा जाता है। अनुप्रास और यमक की प्रचुरता होते हुए भी सेनापति की कविता में भद्दी कृत्रिमता कहीं भी परिलक्षित नहीं होती। रामचरित-सम्बन्धी आपके कवित्त काफी ओजपूर्ण हैं। उनके भक्तिभावपूर्ण उद्‌गार भी काफी प्रभावशाली हैं।

[१]

उनए = घिर आए। चारिहू दिसान = चारों ही दिशाओं में। घुमरत भरे तोइ कै = जल से भरे हुए घुमड़ रहे हैं। आने हैं···ढाइ कै = मानो काजल के पहाड़ ढो करके लाये गये हैं (उत्प्रेक्षा अलंकार)। भयौ = हुआ। देखि न···खोइ कै = घन-घटाओं के कारण सूर्य दिखलायी नहीं पड़ता मानो कहीं खो गया है (उत्प्रेक्षा)। भरम करि = भ्रम में पड़कर। मेरे जान···हरि सोइ कै = पौराणिक विश्वास है कि आषाढ़ से लेकर आश्विन मास तक चार मास विष्णु सोते रहते हैं। कवि उत्प्रेक्षा करता है कि वर्षा की काली घटाओं के भ्रम में पड़ कर विष्णु दिन को भी रात समझ कर सोते रहते हैं।

[२]

इस कवित्त में शारदीय श्वेत घन-खण्डों का वर्णन है। शरदकाल में छितराई हुई श्वेत घन-घटाएँ यत्र-तत्र दिखलायी पड़ती हैं।

खंड खंड···फटिक पहार के = अब श्वेत रंग की घन-घटाएँ खण्ड-खण्ड विभक्त होकर आकाश में बिखरी हुई हैं। कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मानो स्फटिक के पहाड़ के टुकड़े आकाश में बिखरे हुए हैं। छिछकें···उछार के = क्षितिज में छिछले बादल के टुकड़े छितराये हुए हैं। सलिल···महल नभ = सुधा का रंग श्वेत माना गया है। अतः छितराये हुए घन-खण्ड अमृत के महल जैसे प्रतीत हो रहे हैं। तूल के···पवन अधार के = अथवा ऐसा प्रतीत होता है कि धुनी हुई रूई के गद्दे आकाश में वायु के सहारे टिके हुए हैं। किधौं = अथवा। इसमें सन्देह अलंकार से पुष्ट उत्प्रेक्षा है। रजत से राजत हैं = चाँदी जैसे शोभायमान प्रतीत होते हैं। क्वार के = आश्विन मास के।

[३]

इसमें कार्तिक मास की सुहावनी शारदीय निशा का वर्णन किया गया है। सियरात=शीतल होने लगी है। राम कैसों···गगन है = निर्मल चाँदनी ऐसी प्रतीत होती है मानो महाराज रामचन्द्र का यश सम्पूर्ण विश्व में छाया हुआ है। यहाँ चाँदनी पर यश का आरोप किया गया है। निर्मल कीर्ति का रंग धवल कहा जाता है।

तिमिर हरन भयौ = अन्धकार का विनाश हो गया है। सेत है बरन सब = वर्षा-ऋतु की कालिमा के पश्चात् चारों ओर स्वच्छता बिखरी हुई है। मानहु जगत···मगन है = श्वेत चाँदनी में चारों ओर का दृश्य ऐसा दिखायी पड़ता है मानो सम्पूर्ण विश्व क्षीरसागर में निमग्न है। (उत्प्रेक्षा)

[४]

इस कवित्त में शीत-ऋतु की सर्दी का वर्णन है। निबल अनल = आग

निर्बल प्रतीत होती है। सूर सियराइ कै = सूर्य शीतल प्रतीत होता है। शीतकाल में सूर्य की किरणों में ऊष्मा कम होती है। हिम के समीर··· तीर = बर्फीली हवा के झोंके बाणों के समान शरीर में चुभते हैं। रही है गरम···जाइकै = गर्मी मानो शीत के भय से मकान के कोनों में छिप गयी है। मानो मीत जानि···पाउक छिपाइ कै = शीत-ऋतु में लोग आग को छाती के पास लगाये रहते हैं। मानो आग को हितकारी समझ कर शीत से उसकी प्राण-रक्षा की भीख माँगते हों। (उत्प्रेक्षा)

[९]

शिशिर-ऋतु का वर्णन है। सविताऊ = सूर्य भी। घामहूँ में = धूप में भी। रजनी की झाँई···झमकति है = दिन में रात्रि का आभास होने लगता है। चाहत चकोर··· दृग छोर करि = सूर्य की किरणें इतनी शीतल पड़ जाती हैं कि चकोर को उसमें चन्द्रमा का भ्रम हो जाता है, वह उसकी ओर आँख उठा कर देखने लगता है। (भ्रान्तिमान अलंकार)। चकवा की छाती···धसकति है = चकवा का रात्रि के समय चकवी से वियोग हो जाता है। सूर्य में चन्द्रमा का भ्रम होने के कारण वह वियोग-कातर होने लगता है (भ्रान्तिमान अलंकार)। शेष पंक्तियों में भी भ्रान्तिमान अलंकार का चमत्कार है।

•

आलम

आलम जन्म से ब्राह्मण थे। पीछे एक रँगरेजिन के प्यार में डूब गये और उससे शादी करके मुसलमान हो गये। रँगरेजिन भी बड़ी हाजिर

जवाब और कवि थी। आलम ने 'माधवानल और कामकन्दला' नाम से एक सूफी प्रेम-गाथा भी लिखी है, किन्तु इनकी जितनी ख्याति मुक्तक लेखक कवि के रूप में हुई उतनी प्रबन्ध कवि के रूप में नहीं।

आलम रीतिबद्ध रचना करने वाले कवि नहीं थे। इनका मुख्य क्षेत्र प्रेमोन्मत्तता का था और स्वच्छन्द रूप से रचना करते थे। इसीलिए इनके मुक्तक सहज ही हृदय को प्रभावित करते हैं। 'प्रेम की पीर' इनके पद-पद में समाई हुई है। भाषा भी इस कवि की परिमार्जित और सुव्यवस्थित है। शब्द-वैचित्र्य के मोह में ये कभी नहीं पड़े। प्रेम-तन्मयता की दृष्टि से इनकी गणना रसखानि और घनानन्द की कोटि में की गयी है। सूफी कवियों जैसी उत्सर्ग की भावना और प्रणय-तन्मयता आलम की रचना की विशेषताएँ हैं।

[१]

गोपिकाओं की प्रणय-निराशा की अभिव्यंजना बड़े सहज ढंग से की गयी है। काँकरी बैठि चुन्यौ करैं = जमीन पर बैठ कर कंकड़ उठाना निराश-हृदय की सहज क्रिया है। यमुना-निकुंजों की रमणीय वनस्थली में कृष्ण के साथ अनेक प्रकार की प्रणय-क्रीड़ाएँ हुआ करती थीं। और कृष्ण के मथुरा चले जाने पर उसी ठौर बैठी हुई प्रेमिकाएँ कंकड़ चुना करती हैं। जा रसना''गुन्यो करैं = जिस जिह्वा से प्रेम की बातें हुआ करती थीं उससे अब उनकी केवल गुण-गाथाएँ बखान की जाती हैं। सीस धुन्यो करैं = शिर धुनना पश्चात्तापसूचक मुहावरा है।

[२]

कामोद्दीपक वर्षा-ऋतु का आगमन हो चुका है, वियोगिनी के हृदय में प्रणय-कामनाएँ उद्दीप्त होने लगी हैं। क्या यही दशा नायक की भी नहीं हुई होगी। कदाचित् महाराज कामदेव का आक्रमण केवल नायिका के प्रदेश में ही हुआ है, उस देश में नहीं जहाँ नायक गया हुआ है। किधौं मोर''

भाजि = शायद मयूर वहाँ से उड़कर किसी और देश में चले गये हैं। ए दई = हाय विधाता।

किधौं बकपाँति''अन्तगति ह्वै गई = कदाचित् उधर बगुला पक्षियों की आकाश में उड़ने वाली पंक्ति भी निश्शेष हो चुकी है। मदन महीपति''' तें रही = महाराजाधिराज कामदेव की विजय की सूचना उधर नहीं हुई है। जूझि गए''दामिनी सती भई = कामदेव के प्रबल योद्धा घन शायद किसी युद्ध में काम आ चुके हैं और बिजली भी उन्हीं के साथ जलमरी है अन्यथा इन घुमड़ती हुई घन-घटाओं को देख कर उनके हृदय में भी प्रेम उमड़ता।

घनानन्द

रीतिकालीन कवियों में संवेदनशीलता की दृष्टि से घनानन्द का स्थान अद्वितीय है। ये लक्षण-ग्रन्थ लिखने वाले रीतिबद्ध कवि नहीं थे। भाषा के लाक्षणिक प्रयोग एवं व्यंजना की दृष्टि से घनानन्द की टक्कर का दूसरा कवि रीति-कवियों में दिखलाई नहीं पड़ता। घनानन्द स्वच्छन्द प्रकृति के कवि थे। वे न तो लक्षण-ग्रन्थ लिखने के फेर में पड़े और न उक्ति-वैचित्र्य की पिटीपिटाई लीक पर ही चले। मानव-प्रेम का क्षेत्र उनका सुपरिचित क्षेत्र था और इन्होंने लौकिक प्रणय को अपनी कविता का विषय बनाया है। प्रेमतन्मयता इनके कवित्त-सवैयों में सर्वत्र मिलती है। आचार्य शुक्ल ने आपको 'साक्षात् रसमूर्ति' और ब्रजभाषा काव्य का प्रधान स्तम्भ कहा है। घनानन्द की काव्यशैली पर टिप्पणी करते हुए 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में शुक्लजी लिखते हैं—

"इनकी-सी विशुद्ध, सरस और शक्तिशालिनी ब्रजभाषा लिखने में कोई कवि समर्थ नहीं हुआ। विशुद्धता के साथ प्रौढ़ता और माधुर्य भी अपूर्व ही है। विप्रलम्भ-शृङ्गार ही अधिकतर इन्होंने लिया है। वे वियोग-शृङ्गार के प्रधान मुक्तक कवि हैं। 'प्रेम की पीर' लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। प्रेम-मार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबाँदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।" लौकिक प्रेम से निराश होकर घनानन्द ने वृन्दावन आकर कृष्ण-प्रेम की दीक्षा ली और अन्त तक ब्रज में ही निवास किया।

[१]

वियोगिनी नायिका की विरह-व्यथा का चित्रण है। वर्षा की ऋतु आ गयी; किन्तु न तो विदेशी पति आये और न उनकी कोई पाती ही मिली। सन्देश भेजने का कोई अन्य माध्यम न पाकर वियोगिनी मेघ के माध्यम से ही अपनी व्यथा का समाचार भेजना चाहती है। पर काजहिं देह को धारे फिरौ = मेघ के समान परोपकारी और कौन हो सकता है जिसका शरीर धारण करना दूसरों का हित करने के लिए है। परजन्य = वर्षा। पर = दूसरे के लिए + जन्य = पैदा हुए। जथारथ = यथार्थ, आपका नाम परजन्य, यथार्थ ही है। निधि नीर··करौ = आप समुद्र के खारे जल को अमृत के समान मीठा बनाने वाले हैं। जीवनदायक = श्लेष अलंकार है, जीवन का एक अर्थ जल है। अतः जीवनदायक का अर्थ जलदाता तथा जीवनदाता दोनों है। कछू मेरीयो··परखो = कुछ मेरी पीड़ा का भी हृदय में अनुमान लगाइये। बिसासी = विश्वासघाती, छलिया।

[२]

प्रेमिका की निष्ठुरता की अभिव्यंजना है। प्रेमियों को यह हमेशा शिकायत रही है कि उनके दिल की प्रेमिकाओं के द्वारा कद्र नहीं की गयी, इसीलिए बेचारों के दिल टूटते रहे हैं। प्रेमी के दिल पर एक पत्र का आरोप करके कवि कह रहा है कि जिस पत्र में प्रेम का तत्त्व लिखा गया

था प्रेमिका ने उसे एक बार पढ़ा भी नहीं, बस टुकड़े-टुकड़े कर डाला। पन·····लेख्यौ = जिसमें प्रेम का महामन्त्र तथा प्रण सोच-विचार कर लिखा गया था। ताही के···बिसेख्यो = प्रेम की अनुभूतियाँ जिसमें सोच-विचार कर लिखी गयी थीं। ऐसो हियौ··अवरेख्यो = ऐसा पवित्र हृदय-रूपी पत्र जिसमें प्रेमिका के प्रणय के अतिरिक्त कोई और कहानी लिखी ही नहीं गयी थी।

[३]

नायक अथवा नायिका (सुजान) की बेवफाई का शिकवा किया गया है। 'लला' से कृष्ण को सम्बोधित किया गया है।

नेकु सयानप बाँक नहीं = प्रेम के सीधे मार्ग में न तो कोई चतुराई है और न वक्रता, वह तो दो हृदयों के आदान-प्रदान का सच्चा सीधा मार्ग है। तहँ साँचे··आपुनपौ = इस मार्ग में सच्चे प्रेमी निजत्व का परित्याग करके चलते हैं। इत एक·····आँक नहीं = यह एक मुहावरा है। हम तो एक से दूसरा अंक समझते ही नहीं, हमारे अन्दर तो एक प्रेम की निष्ठा है। तुम कौन·····छटाँक नहीं = पता नहीं तुमने कैसी पाटी पढ़ी है कि पारस्परिक आदान-प्रदान में मन भर लेते हो किन्तु देते एक छटाँक भी नहीं। मन में यहाँ श्लेष अलंकार है। मन तौलने के माप को भी कहते हैं तथा चित्त को भी, इसी श्लेष के आधार पर यह उक्ति-चमत्कार है। पाटी या पट्टी काठ की वह तख्ती है जिस पर गणित किया जाता है।

[४]

मुहब्बत की बेवफाई की शिकायत यहाँ भी है। अगर निर्वाह नहीं करना था तो पहले प्यार जोड़ा ही क्यों और यदि जुड़ गया है तो तोड़ने की निष्ठुरता क्यों? तेह कै तोरियै जू = प्रेम के सम्बन्ध को गुस्सा करके तोड़ते क्यों हो? निरधार = जिसका कोई सहारा न हो, निराधार। निरधार·····तोरियै जू = जीवन के प्रवाह में निराधार बहने वाले को पहले तो बाँह

पकड़ के सहारा दिया; किन्तु उसे अब बाँह झटककर डुबाते क्यों हो? बिसास में··घोरियै जू = प्रेमामृत का आस्वादन करा के पहले तो प्रणय की आशा बँधाई; किन्तु अब विश्वासघात का हलाहल क्यों घोरते हो?

●

देव

महाकवि देव लक्षण-ग्रन्थकार आचार्य के रूप में इतने सफल नहीं हो सके जितने कवि के रूप में। उनके कवि-कर्म में हमें तीन क्षेत्र—शृङ्गार, वैराग्य तथा आचार्यत्व—मिलते हैं। इन तीनों में उनका शृङ्गार पक्ष ही सबसे सबल और सफल है। देव मुख्यतः शृङ्गार कवि हैं। उनकी कविता में परम्परा और मौलिकता का सुन्दर समावेश है। परम्परा का अनुसरण करके उन्होंने नायिकाभेद, नख-शिख और विलास का वर्णन किया है। किन्तु प्रेम के मानसिक पक्ष का चित्रण करने में तथा छवि-बिम्बों का अंकन करने में उनकी कल्पना मौलिक है। आचार्य शुक्लजी की दृष्टि में, 'कवित्व-शक्ति और मौलिकता देव में खूब थी, पर उनके सम्यक् स्फुरण में उनकी रुचि विशेष बाधक हुई है। कभी-कभी वे कुछ बड़े और पेचीले मजमून का हौसला बाँधते थे, पर अनुप्रास के आडम्बर की रुचि बीच ही में उसका अंग-भंग करके सारे पद्य को कीचड़ में फँसा छकड़ा बना देती थी।' रीतिकाव्य-संग्रह के सम्पादक श्री जगदीश गुप्त देव को 'निश्चित रूप से रीतिकाल का सर्वश्रेष्ठ कवि' मानते हैं। देव-काव्य के विशेषज्ञ डॉ० नगेन्द्र अनुभूति की सचाई, आत्मद्रव, आत्मनिलय, भाव-गाम्भीर्य, रसार्द्रता, गीतितत्त्व, शैलीगत कान्ति और औज्ज्वल्य को देव की कविता के उत्कृष्ट गुण मानते हैं। देव की भाषा में प्रवाह, प्रांजलता और सौष्ठव है।

[१]

यह सवैया मंगलाचरण का है। इसमें कृष्ण के नृत्यनिरत नटवर रूप की स्तुति की गयी है। हिये हुलसै = हृदय पर शोभा पा रही है। मन्द हँसी···जुन्हाई = मन्द मुस्कराहट चन्द्रमा की ज्योत्स्ना-सी प्रतीत होती है। जग-मन्दिर दीपक सुन्दर = संसाररूपी मन्दिर को दीपक के समान प्रकाशित करने वाले।

[२]

इस कवित्त में राधिकाजी की शोभा का वर्णन है। फटिक सिलानि सौं = स्फटिक की शिलाओं द्वारा। सुधारयो = निर्मित। उदधि को सो = क्षीर-सागर के समान श्वेत एवं निर्मल। दूध कोसो···फरसबन्द = राधिकाजी के भवन का अजिर संगमरमर की शिलाओं से जटित है। वह देखने में ऐसा लगता है मानो पूर्ण अजिर में दूध का फेन फैला हो। तारा-सी तरुनि·····झिलिमिलि होति = उस अजिर में खड़ी हुई राधिकाजी नक्षत्र के समान अपनी कान्ति से प्रकाशित हो रही हैं। मोतिन की··· मकरन्द = राधिकाजी के गले की मुक्तामाल एवं मल्लिका पुष्प का पराग उनके शरीर की कान्ति के साथ झिलमिला रहा है। आरसी से अम्बर में·····लगत चन्द = अपने स्वच्छ अजिर में विराजमान राधिकाजी ऐसी प्रतिभासित हो रही हैं मानो शीशे के समान स्वच्छ आकाश में उजली कान्ति बिखरी हो। निर्मल आकाश में प्रकाशमान चन्द्रमा ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो यह राधिका का प्रतिबिम्ब हो। (प्रतीप अलंकार)

[३]

इस सवैए में गोपिकाओं का अनुराग वर्णित है। कृष्ण की श्यामल छवि के लिए श्यामवर्ण के अनेक उपमान खोजे गये हैं और उन सबके द्वारा अनुराग का चित्रण किया गया है।

मृगम्मद बिन्दु = कस्तूरी का तिलक। हरिण की नाभि से निकलने वाली कस्तूरी का रंग काला होता है, यह एक बहुमूल्य पदार्थ है। रमणियाँ

अपने मुख की शोभा के लिए इसका तिलक बड़े चाव से लगाती हैं। जिस प्रकार कस्तूरी के काले रंग को शिरोधार्य किया जाता है उसी प्रकार गोपिका ने कृष्ण के श्यामल वर्ण को शिरोधार्य कर लिया है। यही भाव शेष उपमानों के साथ भी घटित किया गया है। कंचुकी = चोली। चोवा = मध्यकालीन प्रसाधन का एक सुगन्धित पदार्थ। मखतूल = काले रंग का मखमल के समान कोमल चिकना वस्त्र।

रस मूरतिवंत सिंगार = काव्यशास्त्र में शृङ्गार का रंग श्यामल माना गया है, कामदेव का वर्ण भी श्यामल है। साँवरे लाल = श्याम वर्ण के कृष्ण।

[४]

देव के सुप्रसिद्ध सवैयों में यह एक है। विरहिणी के नेत्रों पर योगिनी का आरोप करके कवि ने सांगरूपक की शैली में नेत्रों की निरीह व्याकुलता का सुन्दर चित्रण किया है।

बरुनी बघम्बर औ, गदरी पलक दोऊ = योगिनी अपनी साधना में बाघम्बर और गूदड़ी धारण करती है। गूदड़ी जीर्ण-शीर्ण वस्त्र-खण्डों को सीकर बनाई जाती है। व्याघ्रचर्म में बादामी और काले रंग के रोएँ उठे रहते हैं। विरहिणी के नेत्रों की बरौनियों को यहाँ बाघाम्बर से उपमित किया गया है तथा प्रतीक्षा करने के कारण निराश सूजे हुए पलकों को गूदड़ी से। कोए राते बसन = योगिनी भगवा रंग के वस्त्र पहनती है। यहाँ प्रतीक्षा के कारण अनुरक्त कोओं को लाल वस्त्रों से उपमित किया गया है। बूड़ी जल ही·····जामिनि रहत = जिस प्रकार योग-साधना के लिए योगिनी दिन-रात जल में कण्ठाग्र निमग्न होकर तपस्या करती है उसी प्रकार नेत्र भी आठोयाम अश्रु-जल में निमग्न रहते हैं। भौंहें धूम·····बिलखियाँ = योगिनी पंचाग्नि तापती है, जिससे उसकी जटाएँ धूमिल हो जाती हैं। विरहाग्नि में तप्त रहने के कारण भौंहें भी वैसी ही दिखलाई पड़ने लगी हैं। अँसुआ फटिक माल = योगिनी स्फटिक मणि की जपमाला

अपने साथ रखती है। नेत्रों के पास भी आँसू की बूँदों की उसी वर्ण की माला है।

[५]

यह देव का प्रायः उद्धृत कवित्त है। छन्द के प्रवाह और रवानगी की दृष्टि से यह कवित्त बेजोड़ है। मुग्धा नायिका के अनुभावों द्वारा पहले प्यार के आवेग को बड़े कलात्मक ढंग से उभारा गया है।

कान परी''कहानी-सी = अभी आपको देखा नहीं है, अभी तो आपके रूप-सौन्दर्य की चर्चा ही उड़ते-उड़ते उसके कानों में पड़ी है। आपकी सुयश कहानी से ही जब नायिका का यह हाल है तो जब आपको आँखों से देखेगी तब पता नहीं क्या दशा होगी।

तब ही तें देखी'''''रिसानी-सी = जब किसी व्यक्ति पर भूत का आवेश होता है तब वह अपने होश में नहीं रहता। पागलों के समान कभी हँसता है, कभी क्रुद्ध हो जाता है इत्यादि। यही दशा उस नायिका की हो रही है। छोही-सी = कुछ-कुछ दुखी। छली-सी = वंचिता-सी। छीन लीन्ही-सी = अपहृता-सी। छकी-सी = तृप्त-सी। छीन = क्षीण। जकी-सी = बातें करने के पश्चात् शिथिल हुई-सी। थहरानी-सी = स्तब्ध-सी। बीधी-सी = काँटों में उलझी हुई-सी। विष बूड़ी-सी = विषपान किये हुई सी। बिकानी-सी = बिकी हुई-सी।

[६]

मुग्धा गोपिका के रूप-रसिक नेत्रों पर मधुमक्खी का आरोप करके कृष्ण के दर्शनों की उत्कण्ठा का वर्णन किया गया है। धार में धाय धँसी = कृष्ण की रूप-सरिता के प्रवाह में जा पड़ीं। उकसीं न अबेरीं = रूप के प्रवाह में इस प्रकार फँस गयीं कि उसमें से निकल न सकीं। अँगराइ = आगे बढ़के।

[७]

नवोढ़ा नायिका की विरह-विह्वलता का बड़े मनोवैज्ञानिक रूप में चित्रण किया गया है।

सखी के सँकोच' '‌'छुआ गात = प्रणयातिरेक के कारण नायक ने सहेलियों और गुरुजनों की उपस्थिति में ही नायिका के शरीर को हँस कर छू दिया। नायिका सखियों के संकोच और गुरुजनों के भय के कारण इस परिहास का स्वागत न कर सकी। उसने अपनी नाराजगी प्रकट की। वीर = सहेली, सखियाँ एक-दूसरे को 'वीर' के द्वारा सम्बोधित करती हैं। हाय हाय' '‌'कछू सुहात = नायिका के नाराज होने पर नायक मान करके चला गया। इस कारण नायिका विरह-कातर होकर हाय-हाय कर रही है। उसे खाना-पीना कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

गोरो गोरो मुख' '‌'बिलानो जात = यह उत्प्रेक्षा देव की श्रेष्ठतम उक्तियों में से एक है। नायिका के बड़े-बड़े नेत्रों से आँसू निकल रहे हैं। साथ ही मुख भी म्लान पड़ता जा रहा है। इस पर कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मानो ओले के समान उज्ज्वल मुख गल-गल करकें समाप्त ही हुआ जा रहा है। (पूर्णोपमा अलंकार)

[८]

इस कवित्त में वसन्त-ऋतु को कामदेव का शिशु मान कर वसन्त के सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। राजकुमार को बड़े लाड़-प्यार से पाला-पोसा जाता है। अनेक परिचारक उसकी सेवा-शुश्रूषा में लगे रहते हैं। प्रकृति काम की अनुचरी है। वह बालक-वसन्त की सेवा अपने महाराज के शिशु-पुत्र कें रूप में कर रही है।

डार द्रुम-पालन = वृक्षों की डालियाँ ही शिशु के पालने हैं। बिछौना नव-पल्लव के = शिशु के सुकुमार शरीर के लिए मखमल आदि के बिछावन बिछाये जाते हैं, यहाँ डालों की नव-कोपलें ही बिछावन हैं। सुमन झगूँला = शिशुओं को ढीला-ढाला झगूँला पहनाया जाता है, यहाँ वसन्तऋतु के रंग-बिरंगे फूल ही मानो इस शिशु का झगूँला हैं। केकी कीर बतरावै = शिशुओं को हाथों में उठाकर उनसे बातें की जाती हैं जिससे वे बड़े प्रसन्न होते हैं, यहाँ वसन्तरूपी शिशु से बातें करने वाले मयूर और

तोते हैं। हलावै हुलसावै = बच्चों को हाथों में लेकर इधर-उधर हिलाया जाता है, जिससे वे उल्लसित हो उठते हैं। यहाँ यह कार्य कोकिला कर रही है।

पूरित··राई नोन = नजर लगने से शिशु को बचाने के लिए उनके ऊपर राई-नोन घुमाकर आग में छोड़ दिया जाता है। यह एक प्रकार का टोटका है। यहाँ पुष्पों की पराग ही टोटके का राई और नमक है।

प्रातहिं जगावत··चटकारी दै = सोते हुए शिशुओं को जगाने के लिए उनके मुख के समीप चुटकी बजाई जाती है। गुलाब की कली के खिलने से जो धीमी आवाज होती है वही मानो वसन्तरूपी शिशु को जगाने की चुटकी की आवाज है। सम्पूर्ण छन्द में सांगरूपक अलंकार है।

[९]

इस छन्द में गोपिका के अनन्य एवं प्रगाढ़ अनुराग की अभिव्यंजना की गयी है। वह अपना सर्वस्व कृष्ण की मोहक छवि पर न्यौछावर कर चुकी है। अब चाहे जो कुछ कहा जाय, उसे इसकी चिन्ता नहीं है। कुलटा = व्यभिचारिणी। रंकिनी = दरिद्र। लोकनि तें न्यारी हों = मैं लोकमर्यादा का अतिक्रमण कर चुकी हूँ। जीव किन जाहि = प्राण ही क्यों न चले जायँ। मूरति पै वारी हों = उसी छवि पर निछावर हूँ। अन्तिम दो पंक्तियों में यमक अलंकार है।

[१०]

इस सवैये में वर्षा-ऋतु की मादक बहार में कृष्ण-राधिका के बाग-विहार का चित्रण किया गया है। रागत राग अचूकनि सों = वंशी पर कामोद्दीपक राग बजा रहे हैं। चारों ओर कोकिल, चातक और मयूर कूक रहे हैं। जिनके साथ मिलकर मुरली के स्वर की मादकता और प्रभावकारी बन गयी है। उसकी स्वर-लहरी का अचूक निशाना हृदय को वेध रहा है। घटा उनई जु नई = वर्षा की नई नई घटाएँ आकाश में घुमड़ रही हैं। बन-

भूमि' ' 'दूकनि सों = वनस्थली नव अंकुरों से रोमांचित हो रही है। वातावरण की मादकता जैसे उसके हृदय में भी रस का संचार कर रही हो।

[११]

यह देव का प्रसिद्ध सवैया है। इसमें भावों की गहराई और अभिव्यंजना का सुन्दर सन्तुलन है। विरहिणी नायिका नायक के वियोग में अत्यन्त दुखी है। उसकी अन्तरंग सखी नायिका की प्रणय-कातरता का समाचार नायक तक पहुँचा कर उसे नायिका के पास लाना चाहती है। नायिका की सखी का अभिप्राय है कि यदि नायक अपनी प्रेयसी के पास नहीं चलता तो वह कुछ ही क्षणों में प्राण दे देगी। इस सीधी-सी बात को कवि ने बड़ी विदग्धता से कहा है। शरीर का निर्माण पंचतत्त्वों से होता है जिनमें सबसे सूक्ष्म तत्त्व आकाश है। सखी कह रही है कि नायक के विरह में रोते-विलपते चार तत्त्व तो निश्शेष हो चुके, अब केवल एक तत्त्व रह गया है और वह तत्त्व है नायक के पुनर्मिलन की आशा। अब यदि वह तुरन्त ही चल कर अपने दर्शनों से उसे सन्तुष्ट नहीं करता तो यह अन्तिम तत्त्व भी अब कूच करने वाला है।

[१२]

इस छन्द में राधा और कृष्ण की उभयनिष्ठ रति का सुन्दर वर्णन किया गया है।

●

पद्माकर

पद्माकर तैलंग ब्राह्मण थे, जिनके पूर्वज उत्तर भारत में आकर बस गये थे। उन्होंने संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों का अनुशीलन करके अपने लक्षण-

ग्रन्थ लिखे थे। शास्त्र के अतिरिक्त उनका काव्य-पक्ष भी सबल है। पद्माकर के काव्य में प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास सर्वत्र परिलक्षित होता है। भावों का चित्रांकन करना उनका विशेष गुण है। पद्माकर रीतिकाल के उत्तर युग के समर्थ कवि हैं। ब्रजभाषा की जैसी सघनता बिहारी और घनानन्द में है वैसी ही सघनता और प्रौढ़ता हमें पद्माकर में मिलती है।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में पद्माकर की काव्य-कला पर टिप्पणी करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं—

'रीतिकाल के कवियों में सहृदय-समाज इन्हें बहुत श्रेष्ठ स्थान देता आया है। ऐसा सर्वप्रिय कवि इस काल में बिहारी को छोड़ दूसरा नहीं हुआ। इनकी रचना की रमणीयता ही इस सर्वप्रियता का एकमात्र कारण है।'...''इनकी कल्पना ऐसी स्वाभाविक और हाव-भावपूर्ण मूर्ति-विधान करती है कि पाठक मानो प्रत्यक्ष अनुभूति में मग्न हो जाता है। ऐसा सजीव मूर्ति-विधान करने वाली कल्पना बिहारी को छोड़ दूसरे कवि में नहीं है। ऐसी कल्पना के बिना भावुकता कुछ नहीं कर सकती। कल्पना और वाणी के साथ जिस भावुकता का संयोग होता है, वही उत्कृष्ट काव्य के रूप में विकसित हो सकती है। भाषा की सब प्रकार की शक्तियों पर इन कवि का अधिकार दिखलायी पड़ता है। कहीं तो इनकी भाषा स्निग्ध, मधुर पदावली द्वारा एक सजीव भाव-भरी मूर्ति खड़ी करती है, कहीं भाव या रस की धारा बहाती है, कहीं अनुप्रासों की मिलित झंकार उत्पन्न करती है, कहीं वीर दर्द से क्षुब्ध वाहिनी के समान अकड़ती और कड़कती चलती है और कहीं प्रशान्त सरोवर के समान स्थिर और गम्भीर होकर मनुष्य-जीवन की विश्रान्ति की छाया दिखाती है।''

[१]

प्रणय-विमुग्धा कोई गोपिका अपनी अन्तरंग सखी से कृष्ण के प्रणय की विवशता का बखान कर रही है। छन्द की अन्तिम दो पंक्तियाँ पूरी बन्दिश की जान हैं। जौ लगी......भनै नहीं = चवाई लोग जब तक

लोकापवाद का महाभारत नहीं रच डालते। हौं तो स्याम रँग·····वने नहीं = यहाँ श्याम रँग में श्लेष है, जिसका एक अर्थ है कृष्ण का प्रणय और दूसरा अर्थ है नीला रंग। चित्तरूपी आँचल को श्याम रंग में चोरी-छिपे डाल तो दिया; किन्तु अब तो उसी में आनन्द आने लगा है। अब लोग चाहे जितना दोष लगावें, इसकी कोई परवाह नहीं है।

[२]

सुरति विमुग्धा गणिका नायिका का इस कवित्त में चित्र अंकित किया गया है। रतिक्रीड़ा की खुमारी आँखों से अभी तक नहीं गयी। घर के द्वार पर खड़ी रसिकों की अब भी प्रतीक्षा कर रही है। आरस = आलस्य। गजब···धारि पर = उसका यह अलसाया हुआ रूप, गली से गुजरने वाले रसिकों के दिल पर तो बस गजब ही ढा रहा है। विथुरि··· हार पर = क्रीड़ा के समय खुली हुई वेणियों के बाल अब भी हीरक जटित गले के हार पर फहरा रहे हैं। छाजति = शोभा पा रही है।

[३]

केवल गुण श्रवण के माध्यम से नायिका (राधिका) का बुरा हाल है, भगवान् जाने जब नायक (कृष्ण) को अपनी आँखों से देखेगी तो क्या हाल होगा। बिसूरति वैसी = उसी प्रकार खिन्न वैठी है। मानहु नीर-भरी·····उनै-सी = उसकी अश्रुपूरित आँखों में वेदना इस प्रकार घुमड़ रही है मानो सावन की घटाएँ घिर कर आ गयी हों।

[४]

वसन्त का रमणीक चित्र अंकित है; अनुप्रास के प्रयोग और शब्द संगीत में यह छन्द वेजोड़ है।

द्वार में·····दिगन्त है = वसन्त की माधुरी सारे विश्व में घर-घर में, दिशा-दिशाओं में—छा गयी है। बीथिन·····बगरो बसंत है = ब्रज की गली-गली में, व्रजबालाओं के प्रणयासक्त हृदयों में, लता कुंज-पुंजों में

वसन्त की मादकता बिखरी हुई है। यहाँ 'बगरो' क्रिया का प्रयोग बहुत व्यंजक है।

[५]

वसन्त के आगमन के अभी केवल दो दिन हुए हैं और इन दो दिनों में ही संसार की काया-पलट हो गयी।

और भाँति······है गए = लता-वृक्षों की मंजरियों के गुच्छे कुछ दूसरे प्रकार के हो गये हैं, और मंजरियों के रस से उन्मत्त भौंरों की गुंजार में भी कुछ और ही मादकता आ गयी है। औरै तन······है गए = वन की भी कुछ और रंगत हो गयी है, साथ ही तन और मन में भी कुछ और प्रकार की उमंगें उठने लगी हैं।

[६]

होली के उत्सव पर फाग खेलते-खेलते कोई गोपिका कृष्ण के रूप पर आसक्त हो गयी है। अपनी बेचैनी का बयान किसी अन्तरंग सखी से कर रही है। अभिव्यक्ति की सादगी के कारण यह कवित्त प्रभावोत्पादक है। दृगनि गए······मढ़ै नहीं = जब गुलाल की मूठ और नन्दलाल की छवि पहले-पहल आँखों में गयी। कढ़िगौ······तो कढ़ै नहीं = बहुत प्रयत्न करने पर गुलाल तो निकल गया; किन्तु कृष्ण की छवि तो निकलती ही नहीं।

[७]

वियोग-व्यथा का ऊहात्मक चित्रण है। इस प्रकार की ऊहात्मक उक्तियाँ हमें बिहारी आदि अन्य रीति कवियों में भी मिलती हैं। ह्याँ = यहाँ। इलाज मढ़ि आवैगी = इलाज हो जायगा। जाहि चेतन······कढ़ि आवैगी = अभी तो बेचारी बेसुध पड़ी है, अभी चले चलो तो गनीमत है, थोड़ी देर में जब वह होश में आवेगी तो उसके मुख से आह अवश्य निकलेगी। एती कछू······बढ़ि आवैगी = उसकी आह के साथ वियोग-अग्नि की ऐसी जुल्म ढानेवाली ज्वाला निकलेगी। ता के तन-ताप······

चढ़ि आवैगी = उसके शरीर में विरह का ताप कितना प्रबल है, इसका मैं और अधिक बखान क्या करूँ, मेरा ही शरीर छू दोगे तो तुम्हारे शरीर का ताप चढ़ जायगा।

[८]

यह कवित्त भी चमत्कारपूर्ण है। कवित्त की पूरी बन्दिश अन्तिम दो पंक्तियों के लिए की गयी है। गोरी-गोरी नायिका विरह के कारण इतनी क्षीण हो चुकी है कि अब इस बात का भय है कि कहीं चाँदनी में खो न जाय। भलाई इसी बात में है कि नन्दलाल (नायक) अन्तरंग सखी के साथ अभी उस चन्द्रमुखी के पास चले चलें। हाल ही.......जुरि जायगी = अभी चलो तो तुम्हारी जोड़ी बचेगी। ओरे-लौं...धुरि जायगी = रोते-रोते वैसे ही घुल जायगी जैसे ओला। दामिनी-लौं दुरि जायगी = बिजली की चमक के समान क्षण भर में समाप्त हो जायगी।

●

दास (भिखारीदास)

कवि भिखारीदास का स्थान रीतिग्रन्थ लिखने वाले कवियों में सर्वोपरि है। इन्होंने नायिका-भेद, छन्द, रस, अलंकार, रीति, गुण-दोष, शब्द-शक्ति इत्यादि काव्यांगों का जितना विस्तृत प्रतिपादन किया है उतना अन्य कवियों ने नहीं। भिखारीदास की विषय-प्रतिपादन की शैली उत्तम है।

दास का ब्रजभाषा पर अच्छा अधिकार था। उनकी भाषा साहित्यिक एवं परिमार्जित है। इनकी कविता में शृङ्गार-रस ही मुख्य रूप से अभिव्यक्त किया गया है। 'आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई न तो राधिका

कन्हाई सुमिरन को बहानो है।' यह प्रायः उद्धृत उक्ति कवि दास की है जिससे इनके विनीत स्वभाव का परिचय मिलता है।

[१]

कुब्जा के प्रति सपत्नीभावजन्य व्यंग्योक्ति है। कृष्ण के वियोग में दुःखित गोपिकाएँ यह स्वप्न में भी सहन नहीं कर सकतीं कि एक कुबड़ी दासी के रंग में कृष्ण इतने अधिक रँग जायँ कि उनका सर्वथा विस्मरण कर दें।

तहाँई = उसी जगह। इक ठोरी = इकट्ठे। मनोहर जोरी = व्यंग्य से विपरीत भाव ध्वनित है। भला कृष्ण जैसे सर्वांग-सुन्दर के साथ कुबड़ी की जोड़ी कभी भली लग सकती है। लगाइये कान्ह······डोरी = यहाँ कुब्जा के प्रति आक्रोश व्यक्त है। उस दुष्टा ने कोई जादू टोना करके कृष्ण को अपने जाल में फाँस लिया है। कूबर भक्ति······बंदन रोरी = यहाँ उसकी पीठ पर उठे हुए कूबड़ पर व्यंग्य है। शायद उसके कूबड़ देव में ही कोई चमत्कार हो जिसने कृष्ण को स्ववश कर लिया है। चलो हम भी उस कूबड़ की पूजा कर आवें।

[२]

गोपिकाओं की प्रेम-विवशता की अभिव्यंजना है। भौंरे जिस प्रकार उत्फुल्ल कमल पर, मृगशावक सुन्दर वनस्थली पर और मीनगण सुन्दर सरसी पर सहज आसक्ति रखते हैं उसी प्रकार हमारे नेत्र कृष्ण के स्वरूप पर सहज ही मुग्ध हो जाते हैं।

[३]

अपह्नुति अलंकार का चमत्कारपूर्ण प्रयोग है। बाय लगी = वायु लगना अथवा हवा लगना एक मुहावरा है जिसका अर्थ होता है पागलपन सवार होना। भ्रम बिम्ब के = बिम्बाफल का भ्रम करके। दास जू ब्याली ······इतरात हौ = बालों की गुँथी हुई चोटी का उपमान है सर्प। साँप

और मयूर में स्वाभाविक वैर है, अतः नायिका की चोटी में सर्प का भ्रम करके मयूर उधर आकृष्ट हो रहे हैं। बोलती··जात हौ = मृग नादप्रिय पशु है। नायिका की कण्ठध्वनि पर वीणा की ध्वनि का आरोप किया गया है।

[४]

नायिका ने नायक को अन्य सुन्दरियों से आँख लड़ाते हुए देख लिया है। वह मान किये हुए बैठी है। नायक अपनी दूती को नायिका के पास समझा-बुझा करके संकेत-स्थल पर लिवा लाने को भेजता है। नायक की दूती यहाँ नायिका को समझा रही है।

अब तो बिहारी·····गए री = बिहारी = कृष्ण; वही नायक हैं। अब तो नायक ने अपनी उन आदतों (जिनको देखकर तू मान किये बैठी है) को छोड़ दिया है। अब उसके वे बानक (तौर-तरीके) नहीं रहे। तन दुति केसरि = केशर के समान स्वर्णिम शरीर की कान्ति। श्रौन तुव······चातक भो = जिस प्रकार चातक केवल स्वाति नक्षत्र में बरसने वाली बूँदों की ही प्रतीक्षा करता है, अन्य जलाशयों की ओर आँख उठा कर भी नहीं देखता, उसी प्रकार नायक अब केवल तेरी वाणी सुनने की इच्छा रखता है। (अन्य सुन्दरियों की ओर आँख उठा कर भी नहीं देखता। स्वासन·····चीर भो = जिस प्रकार दुःशासन के द्वारा खींचे जाने पर द्रौपदी का दुकूल अनन्त हो गया था उसी प्रकार तेरी प्रतीक्षा में दीर्घ निश्श्वासें लेना नायक का स्वभाव बन गया है। हिय को·····नीर भो = मरुभूमि में जल मिलता ही नहीं। नायिका के वियोग में नायक का सुख भी चुक गया है। जियरो··तुनीर भो = नायक का हृदय कामदेव के बाणों का तरकस बन गया है। एरी = सम्बोधन। बेगि करिकैं = शीघ्रता करके। नत = नहीं तो। अतन = कामदेव। जिसका शरीर जल चुका है।

[५]

शंकरजी के प्रति भक्ति का निवेदन है।

नायिका के विरह-जन्य उन्माद की अभिव्यंजना है। चेत की······ मेटति = प्रेमोन्मत्त होने के कारण चैतन्य प्राणी जैसा व्यवहार नहीं कर रही। पायो तिहारो······ लपेटति = यदि कहीं तुम्हारे हाथ का लिखा हुआ मिल जाता है तो बार-बार उसे खोलकर पढ़ लेती है और फिर उसे लपेट देती है। छैल जू······बुरेटति = यदि कहीं यह सुन लेती है कि नायक अमुक मार्ग से निकल गया है तो उस मार्ग की धूल उठा कर नेत्रों में मलने लग जाती है।

●

ठाकुर

ठाकुर बहुत ही सच्ची उमंग के कवि हैं। उनकी कविता में एक सहजता है। चमत्कारवादी मध्यकालीन कवियों के समान इनकी कविता में कृत्रिमता का लेश भी नहीं है। व्यर्थ का शब्दाडम्बर खड़ा करना ठाकुर की प्रकृति के अनुकूल नहीं था। कल्पना की झूठी उड़ानें भरने के लिए वे ऊहात्मक पद्य नहीं लिखते। अनुभूति की सचाई कवि में सर्वत्र विद्यमान है। मनुष्य जिस भाव को जिस रूप में सहज ढंग से ग्रहण करता है, ठाकुर उसी सहज ढंग से उसकी अभिव्यक्ति करते हैं। भाषा भी उतनी ही मँजी हुई और सरल है। ठाकुर की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने साहित्यिक व्रजभाषा के स्थान पर बोलचाल की व्रजभाषा को अपनी कविता का माध्यम बनाया। किसी अनुभूति को बोलचाल की भाषा में ज्यों-का-त्यों उतार देने में ठाकुर बहुत निपुण हैं। कहावतों और लोकोक्तियों

का जितना सफल प्रयोग ठाकुर ने अपने छन्दों में किया है उतना मध्य-काल का कोई अन्य कवि नहीं कर सका।

[१]

विरह-व्यथा की सरस अभिव्यक्ति है।

बरुनीन.....जाले परे = नायिका के नेत्र नायक की दर्शनोत्कण्ठा से बेचैन हैं। कवि उत्प्रेक्षा करता है मानो नेत्र-रूपी खंजन प्रेम के जाल में फँसकर मुक्ति के लिए तड़प रहे हैं। नायिका की दीर्घ बरौनियाँ ही जाल की रस्सियाँ हैं जिनमें नेत्र-खंजन फँसे हुए हैं। दिन औधि के = नायक जाने से पहले लौटने की जो अवधि निश्चित कर गया था उस अवधि के दिन। अँगुरिन.....छाले पड़े = उँगलियों के ऊपर दिनों की गणना किस प्रकार करूँ, बार-बार गणना करते रहने से उनके पोरों में छाले पड़ गये हैं। कसाले परे = कष्ट उठाने पड़ रहे हैं।

[२]

प्रणय मान की बड़ी सरल अभिव्यक्ति है। 'ना गुर खाऊँ ना कान छिदाऊँ' इस लोकोक्ति का बड़ा सुन्दर प्रयोग किया गया है।

[३]

'आवत है नित मेरे लिए, इतनी तो विशेष कै जानति है है' ठाकुर की बड़ी सरल अनुभूति है। अभिव्यक्ति बड़े सरल ढंग से की गयी है।

[४]

फाग का सरस चित्रण है।

[५]

एकनिष्ठ प्रेम की मार्मिक अभिव्यक्ति है। व्रजभाषा का सहज सरल रूप यहाँ द्रष्टव्य है।

[६]

प्रणय की स्वच्छन्दता का सरल चित्रण है।

●

द्विजदेव

द्विजदेव का वास्तविक नाम मानसिंह था। ये अयोध्या के राजा थे। इनकी कविताएँ बड़ी सरल हैं। व्रजभाषा के शृंगारी कवियों में द्विजदेव लगभग अन्तिम कवि हैं। इनके कवित्तों की वैसी ही प्रशंसा की जाती है जैसी पद्माकर के छन्दों की।

द्विजदेव की कविता का सबसे बड़ा गुण उसकी सादगी है। उनका भाषा का रूप सर्वत्र सुष्ठु और स्वच्छ है। अनुप्रास आदि चमत्कारों के फेर में पड़ कर इन्होंने भाषा को कहीं भी विरूप नहीं किया। ऋतु-वर्णनों में इनकी विशेष रुचि रही है और उसमें उनकी सच्ची उमंग झलकती है। रीतिकाव्य में सरसता की दृष्टि से द्विजदेव का अपना महत्त्व है।

[१]

प्रोषितपतिका पर वसन्त का प्रभाव चित्रित है। भाँवरें भरेंगे चहूँ = चारों ओर गुंजार करते हुए फूलों पर चक्कर लगायेंगे। या कलानिधि ·· न पाय है = इस चन्द्रमा का प्रभाव हम पर कुछ भी न पड़ सकेगा।

[२]

वसन्तऋतु की चाँदनी रात्रि और शीतल मन्द सुगन्धि से युक्त पवन का चित्रण है।

[३]

मुग्धा नायिका की व्रीड़ा का चित्रण है।

अंगन हू···इतनी ठई = और तो और अपने शरीर के अवयवा तक ने समय पर साथ नहीं दिया।

[४]

वसन्त के मादक वातावरण का सुन्दर चित्रण है।

औरै बन····मन ह्वै गये = वसन्त के आते ही बाह्य प्रकृति और मन की और ही दशा हो गयी। उधर कामोद्दीपन के उपकरण एकत्र हुए, इधर मन में प्रणय का संचार होने लगा।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु आधुनिक युग के निर्माता माने जाते हैं। उन्हें आधुनिक साहित्य का जनक भी कहते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में नवयुग का कोलाहल तो सुनायी पड़ने लगा था; किन्तु मध्ययुग की खुमारी समाज की चेतना में बसी हुई थी। उसी प्रकार भारतेन्दु और उनके मण्डल के अन्य कवियों ने सामाजिक आवश्यकता से प्रेरित होकर खड़ी बोली में लिखना तो प्रारम्भ कर दिया था; किन्तु व्रजभाषा की माधुरी इनके मन में इतनी गहरी समायी हुई थी कि उसका परित्याग वे आजीवन नहीं कर सके।

व्रजभाषा के कवित्त और सवैयों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय प्रेम ही है। हरिश्चन्द्र के मुक्तकों में हम घनानन्द जैसी प्रणय की पीर देख सकते

हैं। उनकी उक्तियों में देव, बिहारी, पद्माकर जैसे कवियों का छायाभास मिलता है। व्रजभाषा की प्राञ्जलता और माधुर्य इनके सवैयों में सर्वत्र मिलता है। हरिश्चन्द्र का आविर्भाव मध्य और आधुनिक युगों के सन्धि-काल मे हुआ था इसलिए दोनों युगों का धूपछाहीं रंग इनमें मिलना स्वाभाविक है।

[१]

प्रेम-साधना के द्वारा कृष्ण के तादात्म्य की सुन्दर अभिव्यंजना है। योग-मार्ग में इन्द्रियों को विषयों से खींच कर चित्तवृत्ति का निरोध किया जाता है। ज्ञान-मार्ग में आत्मचिन्तन के द्वारा अहं का विनाश करके स्वात्मतत्त्व को प्राप्त किया जाता है; किन्तु प्रेम-मार्ग में ऐसा कोई प्रयत्न नहीं किया जाता। आत्मा स्वयं परमात्मा से तादात्म्य स्थापित कर लेती है। श्रवण आराध्य के गुण-श्रवण में, नेत्र रूप-माधुरी में, बुद्धि आराध्य की सरस चेष्टाओं में और मन आराध्य में इस प्रकार निमग्न हो जाता है कि आराध्य और आराधक में, प्रिय और प्रेमी में, ऐक्य की अनुभूति होने लगती है। हरिश्चन्द्र ने इसी भाव की गोपिका और कृष्ण के अनुराग के माध्यम से अभिव्यक्ति की है।

[२]

वियोग की दशमावस्था के अर्थात् मृत्यु की दशा को प्राप्त नायिका का अन्तिम सन्देश है। सवैया की अन्तिम पंक्ति इसका प्राण है—प्यारे जू ''कंठ लगावैं।

[३]

नेत्रों की अभिलाषा का करुण चित्रण है।

[४]

कवि हरिश्चन्द्र के स्वाभिमानी व्यक्तित्व की एक झलक इस कवित्त से मिलती है। अन्तिम पंक्तियों में हरिश्चन्द्र की आराधना का स्वरूप भी अभिव्यक्त है।

जगन्नाथदास रत्नाकर

[१]

रत्नाकर ब्रजभाषा के अन्तिम महान् कवि हैं। मध्यकालीन कविता का माधुर्य उनकी रग-रग में समाया हुआ था। इसलिए आधुनिक युग में जन्म लेकर भी उन्होंने आजीवन रीति-परम्परा में ही काव्य-रचना की। रत्नाकरजी भावुक, कल्पनाशील और प्रतिभासम्पन्न कवि थे। 'उद्धव-शतक' में रत्नाकर की काव्य-प्रतिभा का चरम उत्कर्ष दिखलायी पड़ता है। इस शतक का प्रत्येक छन्द अपने-आप में पूर्ण और स्वतन्त्र है, फिर भी उसको प्रबन्ध-सूत्र में इस कौशल के साथ पिरोया गया है कि पूरे शतक में एक प्रबन्ध-काव्य का आनन्द भी मिलता है। रत्नाकर का उक्ति-वैचित्र्य अनूठा है। उसमें चोट करने की शक्ति निराली है।

भाषा के सम्बन्ध में कवि विशेषरूप से जागरूक हैं। उन्होंने शब्द-रूपों का परिमार्जन भी किया है। बिहारी सतसई पर आपके द्वारा की गयी टीका आज सबसे अधिक लोकप्रिय है। रत्नाकर को उर्दू और फारसी के साथ-साथ अंग्रेजी का भी अच्छा ज्ञान था। कवि रत्नाकर के निधन के साथ ब्रजभाषा-काव्य की गरिमा भी एक प्रकार से समाप्त हो गयी।

उद्धवशतक

[१]

मंगलाचरण का कवित्त है। 'सनेह' शब्द श्लिष्ट है जिसका एक अर्थ प्रेम तथा दूसरा घृतादि स्निग्ध पदार्थ है। इसी श्लेष पर कवि ने दो अर्थों की अभिव्यक्ति की है। एक अर्थ भक्ति-परक है और वही कवि का प्रतिपाद्य अथवा प्रस्तुत विषय है; दूसरा अर्थ घृत के विविध प्रयोगों का है जो अप्रस्तुत अथवा आरोपित है। इस प्रकार यहाँ श्लेष से पुष्ट सांगरूपक अलंकार का चमत्कार भी दर्शनीय है :

जासौं जाति·····बिवाई बेगि = शीतऋतु में नंगे पाँव रहने से पैर की एड़ियाँ फट कर घाव बन जाती हैं जिनमें बहुत पीड़ा होती है। इन

घावों को 'बिवाई' कहा जाता है। तैल या घृत लगाने से चर्म मुलायम पड़ता है अतः बिवाई ठीक हो जाती है। कृष्ण के जिस प्रेम से चित्त से विषयवासनाजन्य विषाद नष्ट हो जाता है। दीपक के अर्थ में जिस घृत से पैर की बिवाइयाँ ठीक हो जाती हैं। चोप-चिकनाई····गहिबौ करै= जिस प्रेम की अनुभूति से चित्त कोमल एवं उत्साहपूर्ण रहता है, जिस प्रकार तैलादि के लेप से चर्म कान्तियुक्त एवं मुलायम बनता है। कहै रत्नाकर··रहिबौ करै=जिस प्रेम की अभिव्यंजना से कवि-कर्म सरस बनता है। अथवा जिस घृत के प्रयोग से नाना प्रकार के व्यंजन स्वादिष्ट बनते हैं। जासौं जोति··दहिबौ करै=जिस प्रेम की निर्मल ज्योति से अज्ञानरूपी निविड़ अन्धकार का विनाश होता रहा है, तथा जिस घृत के दीपक के द्वारा मन्दिर के अन्धकार का विनाश होता है। जयति·· लहिबौ करै=कवि यहाँ स्वयं भगवान् कृष्ण से उनके अनुग्रह की याचना करता है। भगवान् की कृपा के बिना उसका प्रेम किसी भी जीव को सुलभ नहीं है।

[२]

उद्धव के मथुरा से गोकुल को प्रस्थान करने का सन्दर्भ है। कृष्ण गोपिकाओं को सन्देश कहना चाहते हैं; किन्तु कह नहीं पाते। थोड़ा कहते ही कण्ठ गद्गद हो जाता है, आँखों में आँसू आ जाते हैं और अन्त में वे हिचकियाँ लेकर रो पड़ते हैं। गहबरि आयौ गरौ=गला संवेगातिरेक से अवरुद्ध हो गया। प्रेम पर्यो··पुतरीन सौं=प्रेम की अभिव्यक्ति का सहज माध्यम-वाग्यन्त्र जब अवरुद्ध हो गया तो उद्रेक के आधिक्य के कारण वह नेत्रों की पुतलियों के मार्ग से टपकने लगा। नैंकु=तनिक-सी।

[३]

उद्धव गोकुल को जा रहे हैं मानो कृष्ण का मन भी हठीले बालक के समान उनके साथ जाने को मचल गया है। आतुरी मची=व्याकुलता उत्पन्न हुई। हियौ=हृदय। उमहि बिकलीन सौं=व्याकुलता के कारण उमग रहा है।

[४]

उद्धव व्रज की सीमा में प्रवेश कर चुके हैं। उनके राजकीय रथ पर फहराने वाली ध्वजा ने व्रजभूमि को सूचित कर दिया कि मथुरा से कोई आया है—कोई कृष्ण का सन्देशवाहक है। फिर क्या था, गाँव-गाँव से गोपियों के झुण्ड के झुण्ड उद्धव की ओर दौड़ पड़े। भेजे मनभावन = कृष्ण के द्वारा सम्प्रेषित। सुधि = खबर। झौरि-झौरि = टोली की टोली। उझकि ··· पंजनि पै = गोपिकाएँ अपने कमल के समान कोमल पैरों की उँगलियों पर खड़ी होकर (भीड़ में ऐसा करना पड़ता है, जिससे केन्द्र की वस्तु देखी जा सके) झाँकने लगीं। पेखि-पेखि ······ छोहनि सबै लगीं = कृष्ण की भेजी गयी पाती को देख कर सबके हृदय में प्रेम की पीडा उद्दीप्त हुई।

इस छन्द में 'हमकौं लिख्यो है कहा' की पुनरुक्ति में वीप्सा अलंकार है जो गोपियों की व्यग्रता एवं अनुराग को अभिव्यक्त करता है।

[५]

कृष्ण के वियोग में क्षीण गोपिकाओं की दयनीय दशा को देखकर उद्धव पर क्या प्रतिक्रिया हुई, प्रस्तुत कवित्त में इसका मार्मिक चित्रण किया गया है।

गरि गौ गुमान = ज्ञानी और योगी कहलाने का घमण्ड गल गया। सकबके से = हक्केबक्के। हूल-हूले से = व्यथित से। हिराने से = खोये हुए से।

[६]

गोपियों की शिकायत यह है कि कृष्ण को हमारे ऊपर इतनी भी दया नहीं आयी कि एक बार दो घड़ी को आकर हमें दर्शन दे जाते, भला यह चिट्ठी किस मर्ज़ की दवा है, उनके दर्शन की प्यासी आँखों को पाती मात्र से क्या तसल्ली होगी। इस भाव की व्यंजना कवि ने श्लेष तथा सांग-

रूपक के द्वारा चमत्कारपूर्ण ढंग से की है। पूरा चमत्कार 'पाती' शब्द में है जिसका मूल अर्थ पत्ती तथा रूढ़ अर्थ चिट्ठी है। कवि ने वियोग-व्यथा के ऊपर विषमज्वर का आरोप कर श्लिष्ट पदों द्वारा एक ओर तो इस भाव की व्यंजना की है कि वियोग-व्यथा सन्देश भेजने मात्र से दूर नहीं हो सकती, दूसरी ओर विषमज्वर काष्ठादिक औषधियों के द्वारा दूर नहीं हो सकती, यह भाव भी व्यक्त किया है।

रस के······मंजु सुखदायी हैं = (वियोग-पक्ष में) कृष्ण के सुखद संयोग से सम्पन्न होने वाली नाना प्रकार की जो सरस क्रीड़ाएँ हैं, (विषम-ज्वर पक्ष में) रसादिक औषधियों के विवध प्रयोगों के जो लाभप्रद उपचार हैं। देत ना सुदर्सन हूँ = (वियोग-पक्ष में) दर्शन तक नहीं देते, (ज्वर-पक्ष में) सुदर्शन चूर्ण जैसी सामान्य औषधि तक नहीं भेजते। करत उपाय······नारिनि कौ = (वियोग-पक्ष में) नारी-हृदय की व्यथा का अनुमान नहीं लगाते, (ज्वर-पक्ष में) नाड़ियों की गति को देखकर निदान नहीं खोजते। अनारिनि कौ=प्रेम-कला से अनभिज्ञ अरसिक लोगों जैसा, मूर्ख वैद्यों जैसा। पाती कौन······दवाई = यह चिट्ठी किसलिए भेजते हैं। यह पत्ती किस मर्ज की दवा है।

[७]

उद्धव को अद्वैत वेदान्त का प्रतीक और गोपिकाओं को भक्ति का प्रतिनिधि मानकर कवि ने यहाँ वेदान्त के ऊपर भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध की है। वेदान्त के अनुसार जिस प्रकार घटाकाश महाकाश में लीन हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान की अवस्था में जीवात्मा अहं का परित्याग करके प्रत्यगात्मा में लीन हो जाती है। भक्त को यह अद्वैत की स्थिति स्वीकार नहीं। वह युग-युग तक अपने भगवान् के प्रेम में मग्न रहना चाहता है किन्तु अपनी पृथक् सत्ता का लोप नहीं चाहता।

तौहूँ······अन्यारी = यह मानते हुए भी कि जीव और ब्रह्म एक ही हैं, हमें अद्वैत की भावना कभी भी स्वीकार नहीं है। जैहै······बिचारी

की = यदि बूँद समुद्र में लीन हो जायगी तो इससे समुद्र का तो कुछ बनेगा-बिगड़ेगा नहीं; किन्तु बूँद का अपना अस्तित्व नष्ट हो जायगा।

[८]

विवशताजन्य आत्मसन्तोष की भावना की यहाँ मार्मिक अभिव्यंजना है।

जमातैं = टोलियाँ। प्रेम-नेम''छातैं रहि जाइँगी = आधार के नष्ट हो जाने पर आधेय स्वयं नष्ट हो जाता है जिस प्रकार दीवारों के गिराये जाने पर छत अपने-आप नष्ट हो जाती है। गोपिकाएँ कहती हैं कि उद्धव के बतलाये हुए ज्ञान-मार्ग में आत्मघात-जैसी बातें हैं। जब प्रेमिका के रूप में हमारा अस्तित्व ही नष्ट हो जायगा तो ज्ञान का अनुभव करने वाला कौन बचा रहेगा। इससे तो हमारा प्रेम-नेम ही अच्छा है, जिसमें हम अपने आराध्य का स्मरण तो कर लेती हैं।

[९]

उद्धव की विदाई का चित्रण है। उद्धव छह मास तक गोपिकाओं के पास रहकर वापस मथुरा जा रहे हैं। कवि ने बिदाई के उपहारों के माध्यम से व्रजभूमि के सहज अनुराग की मार्मिक व्यंजना की है।

•